हिन्दी-निबन्धकार

[निबन्ध-कला और हिन्दी-निबन्ध के विकास, प्रकार, स्वरूप, शैली और प्रवृत्तियों का समीक्षात्मक अध्ययन]

लेखक

प्रो० जयनाथ 'नलिन', एम० ए०

हिन्दी-विभाग, स० ध० कालेज

अम्बाला कैण्ट

१९५४

आत्माराम एण्ड सन्स

प्रकाशक तथा पुस्तक-विक्रेता

काश्मीरी गेट

दिल्ली-६

अनुरोध

दीपक से दीपक जलाने की परम्परा, आज की नहीं; मानवता की अजस्र धारा है। अनन्त युगों से यह उमड़ती चली आ रही है। पर दीपक से दीपक जलाने पर भी, दीपक की लौ आलोक नहीं बन सकती। आलोक तो वह बनेगी तब, जब अपनी ही मान्यताओं और आस्थाओं के पके पात्र में, अपने ही प्राणों की आकुल बाती मस्तक पर चिन्तन-चिंगारियाँ धरे, अपने ही हृदय का रस-तेल पीती हुई जल रही हो। विश्वास है, पाठक और पारखी 'आलोक' में यही आलोक पायँगे। आलोक लेकर 'हिन्दी-निबन्धकार' साहित्य की भीड़ में आ रहा है। यही आलोक इसके लिए पथ बनाता चलेगा—पगों में बल होगा, तो रास्ता मिलेगा ही। अनुरोध है, पाठक 'आलोक' में होकर आगे बढ़ें। आलोक साथ लेते चलेंगे तो 'निवन्धकार' के सही रूप को समझने में सहायता मिलेगी। पाठक और पारखी के लिए आलोक निवन्ध की कसौटी बनेगा—तब 'हिन्दी-निबन्धकार' को भी इसी कसौटी पर कसकर परखा जा सकेगा।

विनीत
जयनाथ 'नलिन'

अम्बाला कैण्ट
निर्जला एकादशी
सं० २०११ विक्रमी

संकेत

प्रसाद-युग

(संवत १९८०-२००० विक्रमी)

प्रगतिवाद-युग

(संवत २००० विक्रमी—)

परिशिष्ट

हिन्दी-निबन्धकार

आलोक

१

चेतना का प्रतीक : निबन्ध

निबन्ध व्यक्ति की मानसिक चेतना और भावात्मक अनुभूति का लिखित रूप है और जन-विकास का यथार्थ पत्रक भी। निबन्ध किसी देश की जनसत्तात्मकता, विचार-स्वातन्त्र्य और उदार सामाजिकता का लेखा है। जिस समाज में कम-से-कम बन्धन होंगे, उसमें व्यक्ति अधिक-से-अधिक स्वाभाविक स्वाधीनता उपभोग करेगा। स्वाधीन सामाजिक वातावरण में व्यक्ति की महत्ता पनपेगी, वह बन्धनहीन मानसिक क्षेत्र में विचरण कर सकेगा और परम्परागत दासतापूर्ण आस्थाओं से मुक्त हो, निर्भयता से अपना दृष्टिकोण उपस्थित कर पायगा। तभी शुद्ध निबन्ध का जन्म होगा।

निबन्ध, राजनीतिक और साहित्यिक, दोनों क्षेत्रों में, व्यक्तिवाद या जनसत्ता का सबसे बड़ा हिमायती भी है और इनका अमृतफल भी। यह डिक्टेटरशिप के आतंक तले कभी नहीं पनपता—चाहे वह हिटलर की हो या स्तालिन की, मम्मट की हो या आनन्दवर्धनाचार्य की। व्यक्ति की महत्ता जहाँ निबन्ध की आत्मा है, व्यक्ति-पूजा इसकी मौत।

लेखक और पाठक के बीच निबन्ध सबसे छोटा, सरल और सीधा राजपथ है। निबन्ध-लेखक एक साथी के समान पाठक के सामने हृदय खोलकर रखता है और पाठक सीधे और सही रूप में लेखक से परिचय पाता है। निबन्धकार उपदेश नहीं देता, वह बिना छिपाये अपनी बात कहता है। निबन्ध में केवल लेखक की अपनी निजी अनुभूतियाँ, विचार और भावनाएँ रहती हैं, इसलिए उसे पहचानने में देर नहीं लगती। निबन्ध के द्वारा ही लेखक अपने पाठक के सामने यथार्थरूप में बैठता है। व्याख्यान और वक्तृता दोनों के सभी तत्त्वों का सामञ्जस्य है निबन्ध। व्याख्यान का हर वाक्य, हर शब्द श्रोता के हृदय में प्रवेश करता है। उसमें वह तीव्र प्रवाह रहता है जो श्रोता को बहा ले जाय। यही शक्ति निबन्ध में भी रहती है। व्याख्यान के समान उसका प्रभाव भी पाठक पर अमिट छाप डालता है। वक्तृता में गम्भीरता आवश्यक है, उच्छृंखलता

नहीं, मर्यादा उसका गौरव है। यही गम्भीरता और मर्यादा निबन्ध में मिलेगी। निबन्ध की युक्तियाँ और तर्कों का बल ही पाठक को अभिभूत करेगा। निबन्ध में लेखक के हृदय और मस्तिष्क स्पष्ट उपस्थित रहते हैं। निबन्धकार अपने पाठक से बातें करता है—उसमें आपसी बातचीत का आनन्द मिलता है और घर का वातावरण भी।

इन तत्त्वों की अनिवार्यता के कारण निबन्ध गद्य का आदर्श बनता है। निबन्ध लेखक के हृदय का मुक्त संगीत है। संगीत के स्वर भी भला मौन रहते हैं—उन्हें कौन नहीं सुनता। उपन्यास, नाटक, कहानी आदि साहित्य की अन्य विधाओं से निबन्ध का महत्त्व इसलिए भी अधिक है कि वे लेखक को स्पष्ट रूप में पाठक के सामने नहीं ला पाते। इन कला-कृतियों में लेखक को तलाश किया जाना कठिन है। अप्रत्यक्ष रूप में—पर्दे के पीछे लेखक अपने पाठक से मिलता है। निबन्ध में दुराव कहाँ ? दुराव हुआ तो निबन्ध ने अपना व्यक्तित्त्व ही खो दिया।

निबन्ध में व्याख्यान का प्रभाव, वक्तृता की मर्यादा, तर्क का बल और पारस्परिक वार्तालाप का आनन्द निहित है। निबन्ध में गद्य के सम्पूर्ण बल, तीव्रतम प्रवाह, अमिट प्रभाव, शरीर-संकोच और अर्थ-विस्तार की परख होती है। निबन्ध गद्य को अधिक-से-अधिक प्राणवान बनाता है। निबन्ध किसी भी साहित्य के गद्य-विकास का मापदण्ड है।[1]

१. "यदि गद्य कवियों या लेखकों की कसौटी है तो निबन्ध गद्य की कसौटी है।"
—आचार्य शुक्ल (हिन्दी-साहित्य का इतिहास; सातवाँ संस्करण; पृष्ठ ५०५)

२

निबन्ध का मूल

निबन्ध का मूल आदिवासना के समान मानव की मौलिक प्रवृत्ति में है। यह प्रवृत्ति है—आत्मप्रकाशन। यों तो समीक्षकों ने साहित्य की सभी विधाओं—कहानी, नाटक, उपन्यास, कविता—का मूल इसी प्रवृत्ति में माना है। साहित्य के अन्य रूपों के विषय में यह तथ्य चुनौती से चाहे न भी बच सके,[१] पर निबन्ध के विषय में यह निर्विवाद सत्य है। शुद्ध रूप में आत्मप्रकाशन केवल निबन्ध में ही हो सकता है। निबन्ध मानव के स्वाधीन मानसिक चिन्तन और निश्छल अनुभूतियों का गद्यात्मक रूप है। निबन्धकार अपनी रचना में निजी विचारों और भावनाओं को निष्कपट हो प्रस्तुत करता है। निज को पर के समीप पहुँचाता है।[२]

दृश्य-जगत को मानव अपनी पुतलियों के विशेष प्रकाश से देखता है। नित्य होने वाली घटनाओं से निजी तथ्यों पर पहुँचता और अपना अलग जीवन-दर्शन निर्मित करता है। सामाजिक परम्पराओं, मानव-सम्बन्धों, मर्यादाओं, विधि-निषेधों पर वह अपने अलग विचार संघटित करता है। अपनी निजी आस्थाएँ और भावनाएँ बनाता है। हिमकिरीट शोभित, हेम-किरण-स्नात, वनराजि-रोमांचित पर्वत-शिखरों को देख उसके हृदय में आनन्द की जो गुदगुदी उठती है, वह दूसरे मनुष्यों की अनुभूति से भिन्न है। ये विश्वास-विचार, अनुभूति-आस्थाएँ आत्मप्रकाशन की प्रवृत्ति से प्रेरित हो, जब वह प्रकट करता है तभी निबन्ध का जन्म होता है।[३] आत्मप्रकाशन की प्रवृत्ति को 'आनन्द' और 'समाज' की भावना और भी गतिशील बनाती है।

१. मनुष्य जो है, उससे अधिक होना चाहता है। जो वह नहीं है, बनना चाहता है। इसे विराट बनने या आत्म-विस्तार की प्रवृत्ति कहते हैं। शंकराचार्य का अद्वैतवाद और कृष्ण का विराट रूप इसी प्रवृत्ति की दार्शनिक व्याख्या है। इसी प्रवृत्ति ने नाटक को जन्म दिया है। —'हिन्दी नाटककार' पृष्ठ, ५

२. "These essays are an attempt to Communicate a Soul."
—Montaigne.

३. स्वानुभूति, हर्ष-विषाद, निजी विचार आदि का मौखिक प्रकाशन नहीं, लिखित रूप ही निबन्ध कहलायगा। 'साहित्य' की कोटि में लिखित रचना ही आती है। मौखिक रूप में विचारों या भावों का प्रकाशन, व्याख्यान, वक्तृता, बातचीत है, निबन्ध नहीं। —लेखक

निबन्ध में 'आत्मप्रकाशन' व्यक्तित्व-सम्पन्न होगा। व्यक्ति का 'स्व' कितना सशक्त और चेतन (क्रियाशील और मननशील) है, यह निबन्ध में ही प्रकट होता है। इसीलिए निबन्ध में 'आत्मप्रकाशन या 'अहं की प्रतिष्ठा' सबसे अधिक काम करती है।

३

'अहं' की प्रतिष्ठा

व्यक्तित्व साहित्य की शक्ति है। बिना व्यक्तित्व के मानव भी दो पैरों पर चलने वाला साधारण प्राणी ही रहेगा। शारीरिक आकार-प्रकार में, थोड़े-बहुत अन्तर के साथ, सभी मानव समान हैं। उसका व्यक्तित्व—निजीपन—ही उसे अन्य मनुष्यों के बीच विशेष पहचान और निश्चित प्रथकता प्रदान करता है। यही बात सभी कलाओं और साहित्यिक विधाओं के सम्बन्ध में समझनी चाहिए। उन्हें प्राणवान व्यक्तित्व ही बनाता है।[1] यों तो साहित्य के सभी रूप रचयिता के व्यक्तित्व से प्राणवान, प्रभावशाली और दीर्घजीवी बनते हैं, पर निबन्ध में व्यक्तित्व अपेक्षाकृत अनिवार्य तत्त्व है।

'निजीपन' व्यक्तित्व या 'अहं' निबन्ध का सबसे बड़ा बल है। व्यक्तित्वहीन रचना निबन्ध नहीं, और कुछ, चाहे जो हो। 'अहं' के प्रकाशन से ही तो निबन्ध की संज्ञा किसी रचना को मिलती है।[2] 'आत्म'-प्रकाशन का अर्थ यह तो नहीं कि लेखक अपनी जीवन-कथा लिख डाले। न अपनी बात कहने का यह तात्पर्य कि अपने रिश्तेदारों की जन्म-पत्रियाँ दे दी जायँ। निजी बात कहने या आत्म के प्रकाशन का अर्थ है निजी अनाभिभूत भावनाएँ, मौलिक विचार और अपने अनुभवों पर आधारित जीवन-दर्शन। अपने विषय में भी लेखक कहता है; पर वह, जो सबका बन सके। चार्ल्स लैम्ब के निबन्ध विचार, भावना और जीवन-घटनाओं की दृष्टि से निजीपन लिये हैं। निजी जीवन का प्रकाशन होते हुए भी वे निबन्ध विश्व-सहानुभूति को जगाते हैं।

'अहं' निबन्ध की सर्वोपरि प्रेरणा है। 'अहं' ही व्यक्तित्व है। विचारों और भावनाओं के रूप में उमड़ते हुए 'अहं' को लेखक जब दूसरों के सम्मुख रखता है (उपदेशक या निरंकुश बनकर नहीं, साथी के रूप में), तब निबन्ध जन्म लेता है। निबन्ध में न तो शास्त्र का रटा ज्ञान स्थान पायगा, न समाज से संग्रह की अनुभूतियाँ और उधार ली भावनाएँ ही पनपेंगी। उसमें सब-कुछ रचयिता का अपना रहता है।

1. "In a way all the arts of rhetoric are personal in that they depend on the particular distinct and mental habit of the writer." —Herbert Reed.

2 "The true essay is essentially personal." —Hudson.

'अपने' को प्रकट करने की बेचैनी ही व्यक्तित्व को आकार देती है। निबन्ध के जन्म, इतिहास और विकास से भी यही सिद्ध है।[१]

साहित्य और विशेष रूप से निबन्ध में जिस 'व्यक्तित्व' या 'अहं' का इतना बखान और महत्त्व है, जिसे 'प्राण', 'शक्ति', 'गति' तक कहा गया, वह है क्या ? निबन्ध या साहित्य में 'व्यक्तित्व' के प्रयोजन और तात्पर्य का मतलब ? निबन्धकार के 'व्यक्ति' का अर्थ क्या हाड़-माँस का सबल विशाल तन है ? तो समझा जाय, बड़े कुल-गोत्र के सर्टिफ़िकेट से सम्पन्न मनुष्य ? तब ? न कुल-गोत्र के अलंकारों से सजा और नहीं सुन्दर सुकुमार मोहक तन वाला मनुष्य साहित्य का 'व्यक्ति' बनता है। तो क्या अपनी अनेक प्रकाशित पुस्तकों की सूची से गौरवान्वित व्यक्ति साहित्य में 'व्यक्ति' है ? वह भी नहीं, वह एक सूचीपत्र के सिवा कुछ नहीं। इन व्यक्तियों में 'व्यक्तित्व' खोजना 'व्यक्तित्व' की दासतापूर्ण परिभाषा है—साहित्य के सम्मान की हत्या है।

साहित्य-स्रष्टा-पुरखों की सन्तान ही साहित्य में अपने 'व्यक्तित्व' की छाप डाल सकेंगी, यह भी विश्वजनीन सत्य नहीं। सफ़ेद बालों, अनुभव और आयु की सरवटों से चित्रित आनन का रोब डालने वाले 'व्यक्तित्व' प्रदान करते हैं किसी रचना को, यह भी झूठ है। स्पष्ट है, व्यक्तित्व किसी विशेष आयु, कुलशील, ग्रन्थ-संख्या या रचनाओं की विभिन्नता में नहीं बँधा। साहित्य में 'व्यक्तित्व' हम केवल साहित्यिक रूप में ही खोजेंगे। साहित्य के परे वह क्या है, यह जानना हितकर नहीं। साहित्य के परे यदि हम दूसरी सम्पन्नताओं में 'व्यक्तित्व' तलाश करेंगे, तो साहित्य जन-समाज की चीज़ न बन सकेगा—विशिष्ट 'व्यक्ति' का 'उत्पादन' और विशिष्ट का ही 'उपभोग' बनेगा। यह स्थिति साहित्य के प्राणों के लिए संकुचित दमघोट कारागार है।

साहित्यिक या सामाजिक व्यक्तित्व के दो रूप हैं—बाह्य और आन्तरिक। दोनों प्रकारों को हम साहित्य में तलाश करेंगे—लेखक की रचना में खोजेंगे। दोनों मिलकर रचयिता का सम्पूर्ण व्यक्तित्व संघटित करेंगे। निबन्धकार का व्यक्तित्व भी हमें उसकी रचनाओं में ही मिलेगा—प्रकाशपिण्ड-सा जगमगाता, गति-सा क्रियाशील और प्रमाण-सा प्रभावशाली। लेखक का व्यक्तित्व है—उसके सबल कथन में, उसके सशक्त आग्रह में। वह हमें अपनी रचना के बहाव में मिला और कैसा बहा ले जाता है। शब्द-शक्ति से कैसा मुग्ध करता है। उसकी भाषा अर्थ को कितना व्यापक रूप देती

१. "The most eminent egoist that ever appeared in the World was Montaigne." —Addison.

"I am the subject of my essays because I myself am the only person, whom I know thoroughly." —Montaigne.

है—यह तो है उसका बाह्य व्यक्तित्व। अपने विश्वासों के प्रति हमारा समर्थन, आस्थाओं के प्रति हमारी श्रद्धा, विचारों के प्रति अभिभूत-भावना और सन्देश के प्रति हमारा अनुकरण पाने के परिमाण के अनुपात से ही उसका आन्तरिक 'व्यक्तित्व' नापा जायगा।

अन्तर और बाहर के दोनों रूपों को मिलाकर उसका 'व्यक्ति' निर्मित होगा। यह जितना भी सशक्त और महान होगा, उतना ही अमिट प्रभाव अपने पाठक पर छोड़ेगा। बाह्य 'व्यक्ति' अन्तर के 'व्यक्ति' से ही निर्मित होता है। यदि अन्तर का 'व्यक्ति' सबल, सचेष्ट और महान नहीं, तो बाह्य 'व्यक्ति' केवल भाषा की खिलवाड़, अलंकारों का आडम्बर और भावों का छिछलापन ही दे सकेगा। भीतरी संवेदना जितनी गहन, अनुभूतियाँ जितनी तीखी, विचार-संघर्ष जितना सक्रिय और दृष्टि जितनी सूक्ष्म और चुभीली होगी, बाह्य व्यक्तित्व भी उतना ही स्पष्ट आकार ग्रहण करेगा। व्यक्तित्व के प्राणों की परख होती है, सामाजिक और साहित्यिक परम्पराओं के विरुद्ध खड़ा होने में। जो निबन्धकार पुरानी आस्थाओं को जितना भी दृढ़ता के साथ ललकारे, अपनी मानसिक प्रतिक्रिया को जितना भी सफल रूप में रखे, उसका व्यक्तित्व उतना ही चमकेगा।

व्यक्तित्व निर्माण में विश्वास, संस्कार, तात्कालिक वातावरण तो सक्रिय रहते ही हैं; सबसे बड़ा हाथ है, व्यक्तित्व के विकास में जीवन-संघर्ष का। प्राचीन और नवीन के बीच जब अस्तित्व के लिए प्रयास होता है, एक सजग लेखक के मन में फलस्वरूप तीव्र प्रतिक्रिया जागती है। यह मानसिक और भौतिक प्रतिक्रिया लेखक का नवीन व्यक्तित्व निर्माण करने में बड़ा काम करती है। मनुष्य के चिन्तन-क्षेत्र में उथल-पुथल मचती है। भौतिक अस्तित्व के लिए भी मनुष्य को बड़ा संघर्ष करना पड़ता है। इस हलचल में ही लेखक अपने निजी विश्वास, विचार और आदर्श समेटता है। इन्हीं को वह निर्भयता से अपनी रचना में प्रकट करता है। यही उसका व्यक्तित्व है। निबन्ध व्यक्तिगत प्रयास या साधन होने से, इसमें व्यक्तित्व का प्रयोजन भी है और उसकी अपेक्षा भी। इसलिए व्यक्तित्व निबन्ध में उभरता भी है और व्यक्तित्वप्रधान लेखक ही निबन्ध को जन्म दे सकते हैं।

४

परिभाषा की परख

विविध आचार्यों और समीक्षकों ने निबन्ध की अनेक परिभाषाएँ की हैं। समय की गति के साथ इनमें भी परिवर्तन होता रहा। 'निबन्ध' से आज वह रचना नहीं समझी जाती, जो उसके जन्मदाता मोनतैङ् (Montaigne) के समय समझी जाती थी। मोनतैङ् कहता है—"निबन्ध विचारों, उद्धरणों और कथाओं का मिश्रण है।" अपने निबन्धों के विषय में उसने कहा—"अपने निबन्धों का विषय 'मैं' ही हूँ। ये निबन्ध अपनी आत्मा को दूसरों तक पहुँचाने का प्रयत्नमात्र हैं। इनमें मेरे ही निजी विचार और कल्पनाएँ हैं, कोई नवीन खोज नहीं।"[१] मोनतैङ् से निबन्ध की कुछ विशेषताओं का पता अवश्य चलता है, पूरी परिभाषा या पूर्ण स्वरूप का ज्ञान इनसे नहीं हो सकता।

जॉनसन और क्रैबल ने जो परिभाषाएँ दीं, वे आज के युग में मज़ाक समझकर एक तरफ़ रख दी जा सकती हैं। जॉनसन ने निबन्ध को मन का आकस्मिक और उच्छृङ्खल आवेग—असम्बद्ध और चिन्तनहीन बुद्धि-विलास बताया है।[२] क्रैबल ने तो इसका उपहास करते हुए कहा—"निबन्ध लेखन-कला का बहुत प्रिय साधन है। जिस लेखक में न प्रतिभा है और न ज्ञान-वृद्धि की जिज्ञासा, निबन्ध-लेखन उसको भी अनुकूल पड़ता है और उस पाठक को भी भाता है, जो विविधता तथा हल्की रचना में आनन्द लेता है।"[३] जॉनसन की परिभाषा से निबन्ध की एक विशेषता का आभास अवश्य मिलता है—इसमें आवेग होना चाहिए। पर उच्छृङ्खलता को निबन्ध में कोई स्थान नहीं। तारतम्य और गठन आज के निबन्ध की बहुत बड़ी विशेषता है। क्रैबल के विचारों की समीक्षा ही व्यर्थ है। हाँ, इनमें निबन्ध के प्रारम्भिक रूप का आभास अवश्य है।

१. "Essay is a modley of reflection, quotation and anecdotes." —Montaigne.

२. "A loose sally of mind and irregular undigested piece not a regular and orderly performance." —Johnson.

३. "The essay is a most popular mode of writing. It suits the writer, who has neither talent nor inclination to persue his enquiries farther and generally the readers who are amused with variety and superficiality." —Crabble.

हडसन और मरे ने निबन्ध के आकार और विवेचन-संकोच पर भी बल दिया। आनुपातिक संक्षिप्तता और पूर्णता के अभाव की बात दोनों ने कही। हडसन ने रचयिता के चिन्तन और चरित्र-चित्रण को भी महत्त्व दिया है। इससे 'निबन्ध में व्यक्तित्व' का संकेत मिलता है। 'आकार छोटा, विवेचन संक्षिप्त' में 'अल्पतम शब्दों में अधिकतम कथन' की बात आ जाती है। 'पूर्णता के अभाव' की विशेषता आज का निबन्ध स्वीकार नहीं करता। अपने मर्यादित आकार में वह आज पूर्णता का गौरव अनुभव करता है। 'पूर्णता का अभाव' का अर्थ है, सहसा समाप्ति—पाठक के चिन्तन और राग को आकस्मिक धक्का। निबन्ध के वर्ण्य-विषयों के सम्बन्ध में प्रायः सभी लेखक एकमत हैं—सभी विषय निबन्ध की अधिकार-सीमा में हैं।[१]

कुछ विद्वानों ने निबन्ध के विचारात्मक रूप पर विशेष जोर दिया। बेकन, लौक्स, आचार्य शुक्ल ने निबन्ध को गम्भीर विचार-प्रकाशन का साधन माना है।[२] केवल विचार को ही सब कुछ मान लेने में निबन्ध का स्वरूप संकुचित और सीमित हो जाता है। प्रकट है, 'व्यक्तित्व' भी सुकड़ जायगा। विचार-प्रकाशन में रचयिता अपना 'व्यक्तित्व' प्रथक भी रख सकता है, पर भाव-चित्रण में यह सम्भव कहाँ? आत्मनिवेदन भी निबन्ध का एक गुण है, इससे भी वह वंचित रह जायगा। केवल विचार की सीमा में बंद हो और वर्णन, विवरण, भाव-प्रकाशन—तीनों को देश-निकाला देकर निबन्ध पाठक से बहुत दूर चला जायगा।

एक ओर कुछ आचार्य निबन्ध को गम्भीरता का चोला पहना देना चाहते हैं, दूसरी ओर ऐसे भी साहित्य-मनीषी हैं जो इसे फुदकता-उछलता विनोदी रूप देना चाहते हैं। ए० सी० बेनसन का कहना है कि निबन्ध में कुछ विनोदी तत्त्व अवश्य होना चाहिए।[3] निबन्ध के इसी स्वरूप को सम्भवतः प्रतापनारायण मिश्र ने स्वीकार किया था। विनोदपूर्ण निबन्ध एक प्रकार हो सकता है, पर इसे हल्के मजाक का साधन मानना, पाठक को गुदगुदाना मात्र ही निबन्धकार का काम नहीं। इसमें मज़ाक भी हो तो गम्भीरता का अभाव न होना चाहिए। बालकृष्ण भट्ट और बालमुकुन्द गुप्त में दोनों का अच्छा सामञ्जस्य मिलेगा।

१. "The essay then may be regarded roughly as a composition on any topic, the chief native features of which are comparative brevity and comparative want of exhaustiveness." —Hudson.

२. "Ponderous volume close-packed with philosophic matter." —Lockes.

३. "It must concern itself with something jolly. His (essayist's) charm depends upon giving the sense of a good humoured, gracious and reasonable personality and establish a sort of pleasant friendship with his readers." —A. C. Benson.

इन प्रस्तुत मतों, विचारों और स्वरूपों में से यदि किसी को भी प्रथक रूप से लिया जाय, तब निबन्ध की पूर्ण परिभाषा निश्चित नहीं हो सकती। प्रथक रूप में सभी अपूर्ण हैं। सबको मिलाकर किसी निश्चित परिभाषा तक अवश्य पहुँचा जा सकता है। बाबू गुलाबराय ने इन सभी मतों का संग्रह अपनी परिभाषा में कर दिया है। उनकी परिभाषा है—"निबन्ध उस गद्य-रचना को कहते हैं, जिसमें एक सीमित आकार के भीतर किसी विषय का वर्णन या प्रतिपादन एक विशेष निजीपन, स्वच्छन्दता, सौष्ठव और सजीवता तथा आवश्यक संगति और सम्बद्धता के साथ किया गया हो।"[१]

इस परिभाषा में बाबूजी की संग्रह-प्रतिभा का परिचय भी है, और उनके वैष्णव स्वभाव का भी। इसमें भी सन्देह नहीं, अनेक अन्य परिभाषाओं की अपेक्षा इसमें निबन्ध का बहुत-कुछ स्वरूप भी सामने आता है, पर पूर्ण रूप इससे भी स्थिर नहीं होता। 'किसी विषय का वर्णन और प्रतिपादन' में तटस्थता का अर्थ अधिक है, व्यक्तित्व का प्रकाशन नहीं। 'निजीपन' में भी इसका उत्तर नहीं, 'निजीपन' तो शैली में भी हो सकता है—अधिकतर शैली में ही। इसके अतिरिक्त 'प्रतिपादन और वर्णन' में केवल वर्णन, विवरण, विचार ही आते हैं, अनुभूतियाँ नहीं। इसका मतलब, भावात्मक निबन्ध इस परिभाषा की परिधि में नहीं समायँगे। 'स्वच्छन्दता' का निबन्ध में कोई अर्थ नहीं। निबन्ध काव्य है, यह भाव इससे झलकता तक नहीं। 'औरों' और 'तथाओं' ने परिभाषा की शील-मर्यादा ही चाट ली। परिभाषा के अर्थ में ही नहीं, गठन और आकार में भ. कला-रचना का रूप झलकना चाहिए।

हमने निबन्ध की यह परिभाषा निश्चित की है—"निबन्ध स्वाधीन चिन्तन और निश्छल अनुभूतियों का सरस, सजीव और मर्यादित गद्यात्मक प्रकाशन है।" इसे यों भी कह लें—"निबन्ध गद्य-काव्य की वह मर्यादित विद्या है जिसमें लेखक के स्वाधीन चिन्तन और निश्छल अनुभूतियों की सरस सजीव अभिव्यक्ति हो।" है बात एक ही, पर हमें पहली अधिक अच्छी लगती है। 'चिन्तन' में विचार, तर्क-वितर्क, जीवन-दर्शन, व्याख्या, परीक्षण—वह सब कुछ आ जाता है जिसे आचार्य शुक्ल ने 'मानसिक श्रम-साध्य नूतन उपलब्धि' कहा है। चिन्तन 'स्वाधीन' हो। इसमें लेखक अनाभिभूत मौलिक, निजी रूप में उपस्थित है। 'स्वाधीन चिन्तन' ही व्यक्तित्व है। 'अनुभूतियों' में रागात्मकता, भाव, भावनाएँ, भावुकता, ममता और जो कुछ हृदय को उपस्थित करता है, सभी निहित है। 'निश्छल' में स्पष्टता, अवगुण्ठनहीनता, शुद्धता,

१. 'काव्य के रूप,' पृष्ठ, २३६।

अपनापन—सभी कुछ है। सरस—रसपूर्ण है, इसलिए काव्य है । रस है काव्य की आत्मा, आत्मा है तो शरीर अवश्य है ही। 'सजीव' में सबलता, फ़ोर्स और गति—शैलीगत विशेषताएँ, गठन आदि—भी आ जाती हैं। 'मर्यादित' है तब न आकार-फैलाव का भय, न विवेचन-विस्तार का। 'मर्यादित' सीमोल्लंघन करते ही निषेधाज्ञा के अधिकार का उपयोग करेगा ही। 'मर्यादा' में सम्बद्धता, पूर्णता, ससीमता भी है और अधिकार-गौरव भी। 'सीमा' में वह बात नहीं आती। साथ ही हमारी परिभाषा में निबन्ध की भाषा-शैली, संक्षिप्तता, सघनता, कसाव भी आ जाते हैं। थोड़े-से-थोड़े शब्दों में बात कह दी गई। स्मरण रखने में भी सरलता—केवल एक वाक्य।

५

स्वरूप-विधान

निबन्ध-विकास की अन्तर और बाह्य दशाओं को समझ, इसके स्वरूप-विधान के सम्बन्ध में कुछ रेखाएँ मानी जा सकती हैं। निबन्ध के रूप और आकार-प्रकार पर भी बड़े विवादास्पद मत प्रकट किये जाते रहे हैं, इनके आधार पर निबन्ध की मर्यादा और अधिकार-सीमा पहचानना असम्भव नहीं। ये सीमाएँ कठोर नैतिक नियम या कट्टर धार्मिक बन्धन नहीं। साहित्य और कला कभी ऐसी सीमाओं में पनप नहीं सकते। रात-दिन या अंधकार-प्रकाश के बीच जिस प्रकार लकीर खींची नहीं जा सकती, दोनों एक दूसरे में समा जाते हैं, फिर भी हम प्रकाश और अंधकार को अलग-अलग पहचानते हैं, इसी प्रकार साहित्य की भी स्वीकृति और निषेध-सीमाएँ हैं। सीमा-बन्धन की कठिनता होने पर भी निबन्ध का स्वरूप आकार में आ सकता है—उसकी अधिकार-सीमा तय की जा सकती है।

दृश्य और अदृश्य दोनों निबन्ध की गमन-सीमा में बँधे हैं। सभी जगह निबन्ध स्वतन्त्रता से विचरण कर सकता है 'सबै भूमि गोपाल की जा में अटक कहा', निबन्ध के विषय में सिद्ध है। कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक आदि के लिए अनेक स्थलों पर प्रवेश-निषेध है, निबन्ध के लिए कहीं नहीं। सभी विषय, वस्तु, भाव, कर्म, विचार निबन्ध की सीमा में आ सकते हैं। मतलब, सभी विषयों पर निबन्ध लिखा जा सकता है। निबन्ध का न कोई निश्चित विषय है, और नाही, 'न है'। निबन्ध में महत्त्व विषय का नहीं, उस आत्मा का है जो बोल रही है, उन प्राणों का है जो उसमें सक्रिय हैं। निबन्धकार किसी विषय को अपनी ज्योति से चमका सकता है। दैनिक आवश्यक पदार्थ—नमक-मिर्च पर निबन्ध लिखा जा सकता है और कृष्ण महाराज की कपड़े की कंगाली पर भी, जो फुटपाथों पर पड़ी अनेक द्रोपदियों को एक इंच कपड़ा भी नहीं दे सकता।[1]

विषय-विविधता के क्षेत्र में निबन्ध की सीमाएँ असीम हैं, आकार और विस्तार की दृष्टि से उसे अधिक संकुचित सीमाओं में रहना पड़ता

1. "The real essayist ....has every subject in this world at his command for the simple reason, his business is to talk about himself or to express the relations between any subject and himself." —J.B. Priestly, (Essayist Past and Present)

है।[1] समझना चाहिए—निबन्ध में वर्णित विषय का बहुत विस्तार के साथ विवेचन नहीं किया जा सकता। विषय-विविधता में इच्छित विस्तार और विषय प्रतिपादन में नियमित संकोच निबन्ध की बहुत बड़ी विशेषता है। विवेचन-संकोच, अभिव्यंजना-मर्यादा या विस्तार-सीमा निबन्ध के आकार को भी सीमित रखेंगी। आकार का यहाँ अर्थ है, निबन्ध की पृष्ठ-संख्या। आकार में छोटा होना चाहिए। पृष्ठों की संख्या तो निश्चित नहीं की जा सकती; तो भी किसी पुस्तक के १५-२० पृष्ठ तक हो सकते हैं। अधिक लम्बी रचना प्रबन्ध कहलायगी, निबन्ध नहीं।[2]

आकार-सीमा या विवेचन-संकोच का अर्थ यह नहीं कि कम वाक्य लिखे जायँ, पैरे लम्बे न हों, या संख्या में कम हों; बल्कि भाषा-मर्यादा का पालन भी आवश्यक है। मतलब, कम-से-कम संख्या में अधिक-से-अधिक उपयोगी शब्दों का प्रयोग। एक भी शब्द व्यर्थ न हो। यदि किसी शब्द का अर्थ विराम-चिह्न या विशेष वाक्य-गठन से चले, वह शब्द न लिखा जाय। संक्षिप्तता, संकोच, सघन गठन, कसे-कसे वाक्य निबन्ध-शैली की शान है। बड़ी-से-बड़ी बात कम-से-कम शब्दों में कहना ही निबन्ध-शैली है। और भी स्पष्ट यों समझें—निबन्ध की भाषा में नाटक के संवाद की-सी संक्षिप्तता, शक्ति और गति होनी चाहिए। शैली के विचार से आचार्य शुक्ल और श्री जैनेन्द्र के निबन्ध उपस्थित किये जा सकते हैं। अंग्रेज़ी में बेकन के निबन्ध अपनी गठित, संक्षिप्त, सशक्त शैली के लिए विख्यात हैं।

भाषा-शैली के सम्बन्ध में थोड़ा समझ लेना हितकर है। उद्धरण बहुलता का अनेक लोगों ने समर्थन किया है, हम इसको निबन्ध के गौरव के विरुद्ध समझते हैं। निबन्ध तो रचयिता के अन्तर-चिन्तन और हृदय-अनुभूतियों का ग़द्यात्मक रूप है—नितान्त वैयक्तिक स्वाधीन विचारों और भावनाओं का संगठित रूप। उद्धरण-बहुलता में व्यक्तित्व पनपेगा नहीं, तो व्यर्थ। एक स्वीकृति इस में है—लेखक अपनी बात संक्षिप्त, प्रभावशाली, अर्थ की तीनों शक्तियों से पूर्ण बनाने के लिए लोक-परिचित कथाशीर्षक, लोकोक्ति, मुहावरे आदि का उपयोग कर सकता है। 'त्रिशंकु की तरह लटकना', 'राम-लक्ष्मण-की जोड़ी', 'बनवास देना', 'मगर के आँसू', 'लंकादहन', 'साँप-छछूँदर भई गति केरी', 'का वर्षा जब कृषी सुखानी' आदि में जो चित्र सामने

1. "A literary composition (usually prose and short) on any subject." —Oxford Concise Dictionary.

2. "A written composition less elaborate than treatise."
—Chambers Twentieth Century Dictionary

आता है, वह तीन-चार वाक्यों में भी नहीं आ सकता पर इनका प्रयोग समझ और संयम से करना चाहिए।

व्यंग्य के विकास का (गद्य में) निबन्ध सबसे विस्तृत और वास्तविक क्षेत्र है। निबन्ध में निजी वार्तालाप है, आत्मीयता है, व्यक्तित्व है। तीनों में ही व्यंग्य बड़ा काम करता है। यहाँ व्यंग्य दोनों रूपों में लिया जा रहा है—ध्वनि और श्लेष या अर्थ-विस्तार के रूप में भी। पारस्परिक वार्तालाप में विनोदी चुटकियाँ जो मीठी गुदगुदी उत्पन्न करती हैं, कहने की बात नहीं। ध्वनि से प्रयोजन है, व्यंजनात्मक अर्थ—शाब्दिक नहीं। वक्रोक्ति (टेढ़ी-तिरछी न हो) भाषा को शक्ति देती है। निबन्ध आकार-विस्तार में छोटा होता है, इसमें व्यंग्य की करामात लेखक दिखा सकता है। थोड़े शब्दों में 'व्यापकता' उपस्थित कर सकता है। व्यंग्य के द्वारा अपनी रचना को प्रभावशाली ही नहीं, अर्थ-विस्तार, अर्थ-गाम्भीर्य और अर्थ-सिद्धि से भी सम्पन्न कर सकता है। व्यंग्य-सम्पन्न-निबन्ध समाज, साहित्य, शासन के जीवन में जो उथल-पुथल मचाते हैं, विचारात्मक, तर्कपूर्ण, दार्शनिक, निबन्ध भी नहीं मचा सकते।

मन के स्वाधीन विचरण में प्राप्त अनुभवों—अनुभूतियों, स्वनिर्मित विश्वासों, आस्थाओं की पूँजी है निबन्ध। वह छोटा और संक्षिप्त होना चाहिए—उसमें विस्तार और व्याख्या के लिए स्थान नहीं। निबन्ध की इन विशेषताओं से दो मत उत्पन्न हुए—तारतम्य और पूर्णता का अभाव। स्वाधीन विचरण में तारतम्य कहाँ ! सीमा में पूर्णता कैसी ! अनेक अंग्रेज़ी समीक्षकों ने भी 'Want of finish' को निबन्ध की पारिभाषिक विशेषता मान ली। पर न तो स्वाधीन विचरण का अर्थ तारतम्य-हीनता है, न संक्षिप्तता का अपूर्णता। तारतम्य नहीं तो विषय-प्रतिपादन कैसा ? पूर्णता नहीं तो कला-साधना कच्ची रही—सिद्धि के तो सपने देखने ही व्यर्थ। निबन्ध में प्रबन्ध की पूर्णता क्यों तलाश करते हो ? उसके अपन स्वरूप के साथ अपनी पूर्णता है। कहानी में क्या उपन्यास की पूर्णता खोजेंगे ? निबन्ध में तारतम्य, सन्तुलन और पूर्णता सभी कुछ रहेगा। नहीं तो इसका स्वरूप खंडित हो जायगा। शैली तो खोजे भी न मिलेगी।

व्यक्तित्व का विवेचन कर दिया गया है। निबन्ध में 'व्यक्तित्व' अनिवार्य तत्त्व है। निबन्धकार अपनी आत्मा को दूसरों की आत्मा के पास पहुँचाना चाहता है। इसलिए आत्मीयता निबन्धकार और पाठक के बीच सम्बन्ध-शृंखला है। यही आत्मीयता बातचीत का रूप धारण करती है। अपनापन या बेतकल्लुफ़ी निबन्ध में मिठास भर देती है। यह न हो तो वह विचारों के बोझ से नीरस, रूखा और उपदेशात्मक हो जाय, भावोच्छ्वास के आवेश में पागल का प्रलाप बन जाय। आत्मीय भाव इसलिए भी आवश्यक है कि इसी के कारण लेखक पाठक का ध्यान रखता है, उसे अपनी बात

समझाना चाहता है। नहीं तो निबन्ध खाखल 'अहं' का पाखण्ड-प्रदर्शन मात्र रह जाय। अहं और आत्मीयता मिलकर निबन्ध को आग्रह का रूप देते हैं। इसी में पाठक अपना प्राप्य पाता है।

व्यक्तित्व के रूप में, रचयिता का जीवन-दर्शन निबन्ध की एक आवश्यक माँग है। देखना होगा, निबन्धकार ने जीवन-संघर्ष को निचोड़कर क्या तीखा-मीठा रस निकाला और कितनी व्याकुलता, क्षिप्रता और ईमानदारी से उसे निवन्ध के पात्र में भरा। कठिनाइयों को पीकर उसने क्या पाया और अपने पाठक को बिना दुराव के वह दे भी सका। इसी प्रकार जीवन के भौतिक और आध्यात्मिक क्षेत्र में विचरण कर जो आनन्दानुभूति और प्रकाश-किरण उसने समेटी, वह कितनी भावुकता, सरसता और कोमलता से अपने पाठक पर बरसा सका। अपनी मानसिक क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं के बवंडर में पड़ मनोविज्ञान की जो थाह उसने पाई, वह कहाँ तक बाँट पाया। परम्पराओं के मस्तिष्क पर जो ठोकर उसने मारी, वे आघात उसकी रचना में कितने गहरे रंग लेकर आये। इन सबके अनुपात और परिमाण के हिसाब से ही निबन्ध की यथार्थता मापी जायगी।

अन्तर और बाह्य एकरूप हो निबन्ध में आयें तभी सफलता है। अन्तर को स्पष्ट करने के लिए बाह्य साधन—भाषा-शैली आदि—का सम्पन्न होना तो आवश्यक है ही, युक्ति-युक्त विचारों की मौलिकता, तर्क की अचूक वेधन-शक्ति और भी अपेक्षित है। पाठक अभिभूत हो जाय, सदा यह ध्यान रहे। अर्थ की गम्भीरता, गहनता, व्यापकता भी निबन्ध के आंतरिक स्वरूप को सँजोती है। कहने का अभिप्राय है कि लेखक की मानसिक क्रिया-प्रतिक्रिया-प्रक्रिया ही निबन्ध के आंतरिक स्वरूप का संगठन करती है। यदि निबन्ध में सबल अन्तर—आत्मा—नहीं, तो बाह्य रूप कितना भी यथाविधि पूर्ण, सुन्दर और आनुपातिक हो, निबन्ध प्राणहीन शब्दों का ढाँचा ही रहेगा।

प्रकार-विश्लेषण

बाह्य और आन्तरिक विविधता के आधार पर निबन्ध के अनेक प्रकार निश्चित किये गये हैं। विवेचन-पद्धति, भाषा-शैली वस्तु-विषय सभी निबन्धों में समान नहीं मिलते। इनका अन्तर बाहरी स्वरूप को प्रथक करता है। विचार, भाव, अनुभूतियाँ, सन्देश निबन्ध के आंतरिक स्वरूप को आकार देते हैं—ये भी हर निबन्ध में भिन्न होंगे। इनके आधार पर भी निबन्ध के प्रथक वर्ग बन जायँगे। अनेक विद्वान 'व्यवित' को आधार मानकर निबन्ध के प्रकार निश्चित करते हैं। पर न तो बाह्य भेद ही निबन्ध के वर्ग बनाता है और न केवल भीतरी ही। निबन्ध में 'व्यक्ति' की प्रधानता स्वीकार करते हुए भी केवल 'व्यवित' को वर्ग-विभाजन का आधार नहीं बनाया जा सकता। सबका समझौता आवश्यक है।

'व्यक्ति' को मुख्य मानकर निबन्धों को व्यक्ति-प्रधान और विषय-प्रधान—दो प्रकारों में बाँटा गया है। व्यक्ति-प्रधान—वैयक्तिक—में निबन्धकार 'निज' को रखता है। वह सबल आग्रह से निजी वेदना-विकलता, हर्ष-विषाद, भाव-अभाव को उपस्थित करता है। अंग्रेज़ी में चार्ल्सलैम्ब के निबन्ध इसी वर्ग के श्रेष्ठ नमूने हैं। विषय-प्रधान में अपने को अलग रखकर शेष जगत की बात कही जाती है। वैयक्तिक में वही विशेषता रहेगी, जो गीतिकाव्य में; विषय-प्रधान में वही, जो प्रबन्ध काव्य में। इनको निजात्मक (Subjective) और परात्मक (Objective) भी कहा जा सकता है।

केवल व्यक्ति को ही मान्यता दें तो निबन्ध केवल व्यक्ति-प्रधान रह जायगा। व्यक्ति के दो भाग हैं—चिन्तन और अनुभूति : मस्तिष्क और हृदय। इस प्रकार निबन्ध के दो प्रकार हो जाते हैं। मस्तिष्क की प्रधानता वाले विचारात्मक और हृदय की प्रधानता वाले भावात्मक। आचार्य शुक्ल निबन्धों के ये ही दो प्रकार मानते हैं। इन दोनों में भी विचारात्मक निबन्ध को ही वह श्रेष्ठ मानते और महत्त्व देते हैं।[१]

१. विश्वविद्यालयों के उच्च शिक्षा-क्रम के भीतर हिन्दी-साहित्य का समावेश हो जाने के कारण उत्कृष्ट कोटि के निबन्धों की—ऐसे निबन्धों की जिनकी असाधारण शैली या गहन विचारधारा पाठकों को मानसिक श्रम-साध्य नूतन उपलब्धि के रूप में जान पड़े—जितनी आवश्यकता है, उतने ही कम वे हमारे सामने आ रहे हैं।

—आचार्य शुक्ल (हिन्दी-साहित्य का इतिहास; सातवाँ संस्करण; पृष्ठ ५५८)

कुछ समीक्षक विचारात्मक वर्ग में विवेचनात्मक निबन्ध का उपवर्ग भी बनाते हैं। कुछ विचारात्मक का नाम विवेचनात्मक रखकर अपनी मौलिकता की छाप पाठक पर डालना चाहते हैं।

ऊपर दिये गये वर्गों के सिवा एक-दो पुस्तकों में व्याख्यानात्मक या आत्मव्यंजक (Oratorical) प्रकार भी देखने में आया है। वक्तृता या व्याख्यान के ढंग पर शैली तो हो सकती है, पर प्रकार नहीं। व्याख्यान के समान कथाएँ, उदाहरण, दृष्टान्त, लम्बे-चौड़े रूपक आदि का समावेश प्रबन्ध में हो सकता है, निबन्ध में नहीं। 'विवेचनात्मक', 'कथात्मक' तथा 'व्याख्यानात्मक' या 'आत्मव्यंजक' निबन्ध के स्वतन्त्र प्रथक रूप नहीं। विवेचनात्मक तो विचारात्मक के अन्तर्गत आता है या इसी का पर्याय समझना चाहिए। विवेचना का अर्थ है तर्क-वितर्क, मीमांसा, निर्णय, परीक्षा करना आदि। विचारात्मक में और क्या होगा ? यही सब तो। कथात्मक में कालगत घटनाक्रम का वर्णन होता है—यही विवरणात्मक हुआ। विवेचनात्मक और कथात्मक को चाहें तो शैली मान भी सकते हैं। व्याख्यानात्मक तो निबन्ध है ही नहीं। वह प्रबन्ध का एक रूप है। उसका अन्य नाम 'आत्मव्यंजक' तो 'निजात्मक' में निहित है। फिर अलग नामकरण क्यों ?

'व्यक्ति' केवल अपनी आकार-सीमा में घिरा या चिन्तन-परिधि में जागृत अस्तित्व ही नहीं, वह अपनी परिस्थितियों, वातावरण, परम्परा और संस्कारों से निर्मित भी है। यही क्यों ? अपने आसपास के जड़-चेतन समाज से उसका आदान-प्रदान का सम्बन्ध है। अपने अहं को अपने चारों ओर से समेटकर बैठना व्यक्तित्व नहीं, उस अहं से जड़-चेतन जगत को प्रभावित, प्रेरित, आलोकित करना ही व्यक्तित्व है। 'व्यक्ति' व्यापक प्रगति से अलग नहीं—इसके नाना व्यापारों, गतियों और रूपों में वह विद्यमान है। ऐसी दशा में केवल 'व्यक्ति' को ही आधार मानकर निबन्ध के दो—भावात्मक और विचारात्मक—वर्ग करना ठीक नहीं। व्यक्ति के चिन्तन और अनुभूति की पूँजी उसकी निजी है, सन्देह नहीं; पर वह एकत्र हुई है शेष जगत की क्रिया-प्रतिक्रिया की प्रक्रिया से। तब शेष जगत को साथ लेकर चलना ही पड़ेगा। पंचतत्त्वों से निर्मित पुतला इन तत्त्वों से अलग रह नहीं सकता।

'व्यक्ति' अपने 'व्यक्ति' को शेष जगत के ऊपर आरोपित करता है। सौन्दर्य, सुगंध, रस से उल्लास समेटता है। कुरूप, भौंडे, वीभत्स को घृणा बाँटता है। व्यापक दृश्य जगत के कार्य-व्यापारों, परम्पराओं, सम्बन्धों से उसकी वृत्तियों में विशेष संकोच और विशेष विस्तार होता है। विश्व के प्रति सबका हर्ष-विशाद, अरुचि-आकर्षण, ममता-उदासीनता समान नहीं होंगी। इन सबके परिमाण, प्रकाशन,

गाम्भीर्य, स्थायित्व में 'व्यक्ति' के अनुसार ही भेद होगा। यही निबन्ध या साहित्य की अन्य विधाओं में व्यक्तित्व बनकर आता है। इस कथन का मतलब—'व्यक्ति' के साथ 'जगत' को लेकर चलने में निबन्ध के 'व्यक्तित्व' को कोई आघात नहीं पहुँचता। केवल 'व्यक्ति' को आधार मानने से शेष जगत रह जाता है। जगत ही 'व्यक्ति' को बहुत-कुछ निर्मित करता है या 'व्यक्ति' भी उसका एक अंश है।

सजग लेखक 'निज' की बात भी कहेगा, और 'पर' की भी। व्यक्तित्व की छाप तो दोनों पर रहेगी ही—नहीं तो निबन्ध अस्तित्व में आयगा ही कैसे? 'निज' (Ego) और 'पर' (Id) निबन्ध के इस प्रकार दो मुख्य आधार हुए। 'निज' चिन्तन और अनुभूति का समन्वय है और 'पर' शेष दृश्य-अदृश्य जगत का। इस प्रकार अपने-अपने आधारों पर खड़े हो निबन्ध के दो वर्ग बने—निजात्मक (Subjective) और परात्मक (Objective)। कई समीक्षकों ने इनको सापेक्ष और निरपेक्ष या विषयी-प्रधान और विषय-प्रधान नाम भी दिये हैं; पर ये नाम हमें जँचे नहीं। निजात्मक और परात्मक में यथार्थ स्वरूप आकार पाता है। यह विभाजन वैज्ञानिक भी है और युक्ति-युक्त भी। इससे सारी उलझन सुलझ गई। निजात्मक निबन्धों के दो प्रकार माने जा सकते हैं—विचारात्मक और भावात्मक। परात्मक के भी दो—वर्णनात्मक और विवरणात्मक'। निजात्मक निबन्ध के वर्ग में भावात्मक और विचारात्मक—दो प्रकार माने गये हैं; इन दोनों में वह प्रकार नहीं समाता, जिसे अंग्रेज़ी में पर्सनल कहते हैं। दोनों प्रकार पर्सनल (वैयक्तिक या निजी) होते हुए भी 'सबके' हैं। मतलब, आत्म का स्वरूप इनमें भी नहीं आता। वह स्वरूप जिसमें आए, उसे इनसे अलग ही मानना चाहिए। उस तीसरे प्रकार को हम आत्मपरक या वैयक्तिक कहेंगे। इस प्रकार निजात्मक के तीन भेद मान लिये जा सकते हैं—विचारात्मक, भावात्मक और आत्मपरक या वैयक्तिक।

ऊपर के विवेचन से निबन्ध के निम्न प्रकार निश्चित होते हैं—

परात्मक (Objective) { १. वर्णनात्मक (Descriptive)
२. विवरणात्मक (Narrative)

निजात्मक (Subjective) { १. विचारात्मक (Reflective)
२. भावात्मक (Emotional)
३. आत्मपरक या वैयक्तिक (Personal)

एक बात और समझ लेनी चाहिए। कथात्मक को विवरणात्मक का और विवेचनात्मक को विचारात्मक का पर्याय हम नहीं मानते। विचारात्मक का क्षेत्र विवेचनात्मक से बड़ा है और विवरणात्मक का कथात्मक से। पिछले दोनों क्रमशः पहले दोनों में समा सकते हैं, पहले दोनों पिछलों में नहीं।

वर्णनात्मक

वर्णन-प्रधान निबन्ध वर्णनात्मक कहलाता है। इस प्रकार के निबन्ध में विचार, अनुभूति, कल्पना सभी वर्णन को प्राणवान, मोहक, आकर्षक और रसीला बनाने के लिए सचेष्ट रहती हैं। ये सब तत्त्व साधन बन स्थानगत चित्र उपस्थित करते हैं, यही चित्र निबन्ध में साध्य है। और फल है रस—आनन्द। कलाकार की लेखनी-तूलिका की यही सफलता है कि उसके द्वारा जीता-जागता चित्र सामने आ जाय। वर्णन में लेखक का व्यक्तित्व उभरना चाहिए। जिस स्थान, वस्तु, समय, कार्य-कलाप को लेखक उपस्थित करे, उसके प्रति पाठक की रागात्मकता जाग्रत हो। उसमें पाठक आनन्द अनुभव करे। हिमकिरीट-शोभी पर्वत, वेताबी से करवटें बदलता सागर, कमल-रोमांचित जलाशय, सद्यस्नाता रमणी, माधवी निशा ही वर्णन के विषय नहीं; रूखे जंगल, जरा-जीर्ण भिखारिन, सनसनाती काली अमावस, आतप-ताप से झुलसा वृक्ष भी कलाकार के लिए कम महत्त्वपूर्ण नहीं। सद्यस्नाता सुन्दरी से अधिक महत्त्व है जरा-जीर्ण भिखारिन का। वह लेखक की ममता की अधिक अधिकारिणी है। उपेक्षित साधारण वस्तु को कला का साध्य बनाना कलाकार की महानता है।

वर्णनात्मक निबन्ध में कल्पना-तत्त्व की प्रधानता रहेगी। दृष्टि तो ऐसी चाहिए ही कि जड़-स्तरों को छेद भीतर बहने वाले रस को पी सके और वही स्वाद रचना में उत्पन्न कर सके; पर कल्पना भी इतनी सजग और सचेष्ट हो कि सामने बिम्ब खड़ा हो जाय। तभी वर्णन में रस आयगा, तभी व्यापक प्रभाव पड़ेगा और तभी यह हमारी ममता पा सकेगा। कल्पना के वाद, वर्णनात्मक निबन्ध में भावना—रागात्मक—तत्त्व का स्थान है, विचार—बुद्धि—तत्त्व का सबसे अंतिम। शैली सरलता और सुबोधता लिये हो; इतनी प्रसाद-गुण पूर्ण न हो कि उसमें हल्कापन आ जाय—व्यंजना रहे ही न। इस प्रकार के निबन्ध में प्रसाद-शैली अधिकतर सफल होती है।

वर्णन-प्रधान निबन्ध लिखने में कलाकार को सुविधाएँ भी प्राप्त हैं और उसके पथ में बाधाएँ भी बिखरी हैं। सुविधा यह कि इसके लिए न गहन चिन्तन उपेक्षित है, न मौलिक विचार, न नवीन जीवन-दर्शन और न तीव्र अनुभूति। बाधा यह कि इसके विषय सरल, सर्वपरिचित, स्थूल और साधारण होते हैं कि उनमें प्राण डालना असाधारण कला-साधकों का काम है। इसकी सरलता ही, इसकी बाधा बन जाती है।

भूगोल, यात्रा, वातावरण, मौसम, ऋतु, तीर्थ, दर्शनीय स्थान और भवन, मेले-तमाशे, पर्व-त्यौहार, सभा-सम्मेलन आदि विषयों पर बहुत अच्छे वर्णनात्मक निबन्ध लिखे जा सकते हैं। भट्टजी के 'मेला-ठेला', 'दरिद्र की गृहस्थी', द्विवेदीजी का 'प्रभात', माधवप्रसाद मिश्र का 'रामलीला' आदि अच्छे वर्णनात्मक निबन्ध हैं।

विवरणात्मक

विवरणात्मक निबन्ध में किसी वृत्तान्त या किन्हीं घटनाओं का वर्णन रहता है। विवरण का अर्थ है वृत्तान्त, हाल या बयान। मतलब, जिस रचना में कथा की प्रधानता हो—घटनाओं का संबद्ध वर्णन और विवेचन हो, उसे विवरणात्मक निबन्ध कहा जायगा। घटनाओं में लेखक की आत्मीयता रहनी आवश्यक है। व्यक्तित्व की छाप प्रधान विशेषता है ही। वर्णनात्मक और विवरणात्मक निबन्धों में मोटा भेद यह है—पहले में स्थानगत वर्णन रहता है, दूसरे में कालगत। यों समझिये—वर्णनात्मक निबन्ध में अधिकतर स्थिर-क्रियाहीन—पदार्थों का चित्र रहेगा, विवरणात्मक में क्रियाशीलता का। कथात्मकता (Narration) इसकी सर्वोपरि विशेषता है। ऐतिहासिकता भी इसी को कहते हैं।

ऐतिहासिकता रहते हुए भी, निबन्धकार इतिहासकार बनकर नहीं आता। इतिहासकार सब ब्योरा तटस्थ होकर देता है। घटनाओं का विवरण और यथातथ्य वर्णन देना ही उसकी जिम्मेदारी है। घटना के वर्णन में न उसकी अपनी रागात्मकता है, न उसका निजीपन। व्यक्तित्व उनमें नहीं पैठता, न उभरता है। निबन्धकार उनमें रागात्मकता भर देता है। इतिहासकार तो लिख देगा—कलिंग की चढ़ाई में एक लाख आदमी मारे गये। पर निबन्धकार उनके करुण-चीत्कार, उनकी सिसकियाँ, वीरता और निर्भयता का चित्रण करेगा। इतिहास अपनी घटनाओं के प्रति उदासीन है, निबन्ध उनके रस-विरस में लीन। 'इतिहास' बाह्य आकार को अंकित करता है और निबन्ध अन्तर का घूँघट उठाता है। इतिहास में विचारतत्त्व की प्रधानता है, विवरणात्मक निबन्ध में कल्पना तथा भावतत्त्व की। विचार विवरणात्मक निबन्ध में कल्पना और भाव के पीछे आता है।

विवरणात्मक निबन्ध में लेखक का कार्य वर्णन-प्रधान निबन्ध-लेखक से अधिक कठिन और कलात्मक हो जाता है। यह अपेक्षाकृत कल्पना तथा अनुभूति की अधिक माँग करता है। इसमें घटनाओं के साथ क्रियाशील व्यक्ति रहते हैं। व्यक्ति के कार्य-व्यापार से उसके हृदय का सम्बन्ध है। अन्तर का चित्रण और भावों के बिम्ब स्थापित करने के लिए अधिक सूक्ष्म और सचेत कल्पना और अनुभूति चाहिए। इस प्रकार के निबन्ध में भी प्रसाद-शैली ही की प्रधानता रहती है, पर वह बहुत अभिधात्मक नहीं होनी चाहिए। व्यंजना कुछ अधिक व्यापक और पुष्ट रूप में आनी चाहिए। व्यंग्य के लिए भी इसमें अपेक्षाकृत विस्तृत क्षेत्र है। यह जीवन के अधिक निकट है। इसलिए रंगों का चुनाव भी आवश्यक है। चित्र-अंकन-कुशलता भी अधिक चाहिए।

घटनाओं का तारतम्य रखने और पाठक की पुतलियों में उनका स्थायी प्रभाव स्थापित करने के लिए चुनाव की समझ-बुद्धि भी चाहिए। इसमें लेखक का कौशल

खिलने और निखरने के लिए पर्याप्त स्थान रहता है। इसमें रचयिता को अपना व्यक्तित्व भी अधिक सशक्त और प्रभावशाली रूप में लाना पड़ेगा, तभी पाठक को अधिक रस प्राप्त होगा। युद्ध, जीवनी, यात्राएँ, पर्वतारोहण, नये देश की खोज, शिकार, इतिहास और कल्पना की कथाएँ इसी वर्ग के निबन्धों में गिनी जायँगी। भट्टजी के 'अनोखा स्वप्न', 'एक अशरफ़ी की आत्मकहानी', 'नहीं'; राधाचरण गोस्वामी का 'यमपुर की यात्रा'; भारतेन्दु का 'एक अद्भुत अपूर्व स्वप्न'; सितारेहिन्द का 'राजा भोज का सपना'; द्विवेदीजी का 'हंस-सन्देश'; वासुदेवशरण अग्रवाल के 'चित्राचार्य अवनीन्द्रनाथ, नन्दलाल और यामिनीराय', 'साहित्य-सदन की यात्रा'; विवरणात्मक निबन्धों के अच्छे उदाहरण हैं।

विचारात्मक

जिन निवन्धों में बुद्धि की प्रधानता हो—विचार का अधिकार अन्य तत्त्वों पर हो, वे विचारात्मक कहलायेंगे। समाज-परम्परा, साहित्यिक आस्था, नैतिक शास्त्र पर लेखक अपने स्वाधीन अनाभिभूत और मौलिक विचार जिस रचना में प्रकट करे, वही रचना विचारात्मक निबन्ध है। व्यक्तित्व का अबाध और चिरन्तन सक्रिय बल विचार-प्रधान निबन्धों में ही प्रकट होता है। जब निबन्धकार साहित्यिक, सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक या नैतिक किसी भी प्राण-शोषक और घातक परम्परा को चुनौती देता है, तभी उसका चेतन व्यक्तित्व निखरता है। इसी प्रकार के निबन्ध में लेखक के चिन्तन, मनन और सजग मस्तिष्क की खोज की जायगी। विचारात्मक निबन्ध ही बात की बारीकी, तर्क-योजना, विवेचना-पद्धति की परख और पाठक को अभिभूत करने की कसौटी है।

यों तो सभी व्यक्ति हर विषय पर अपने निजी विचार रखते हैं और वे पढ़े-लिखे हुए तो अपने विचार प्रकट भी कर सकते हैं, तब क्या उनकी रचनाएँ भी विचारात्मक निबन्धों में मानी जायँ? विचार व्यक्तिगत होने से ही तो 'विचार' की संज्ञा नहीं पाते। उनमें निरुत्तर करने का जादू तो हो, नई लकीरें खींचने का नुकीलापन और धार तो हो, जीवन को नई दिशा की ओर मोड़ने का अधिकार-संकेत तो हो—और इनसे अधिक उन विचारों में प्रेरणा का नवीन प्रकाश भी तो हो। मतलब—लेखक नवीन जीवन-दर्शन दे, साहित्य को नवीन सन्देश दे, समाज को नये प्राण दे। लेखक ने नवीन पुतलियों से जीवन को यथार्थ पढ़ा नहीं तो यह सम्भव कैसे?

विचारात्मक निबन्ध में सबल बौद्धिक आग्रह है। बुद्धि की अपील—अनुरोध—बुद्धि ही स्वीकार करती है। इस वर्ग के निबन्ध से मस्तिष्क-तन्तु ही विचलित होंगे—उनमें ही जागरण पैदा होगा।

विचारात्मक निबन्ध में भावना और कल्पना का कम स्वागत है—बहिष्कार की सीमा तक कभी-कभी यह उदासीनता पहुँच जाती है। इसलिए कभी-कभी विचारात्मक निबन्ध नीरस और रूखे तक हो जाते हैं। कल्पना और भावना को चाहे साग्रह निमंत्रण न रहे, बहिष्कार तो ठीक नहीं। इनके सहयोग से विचारात्मक निबन्धों से रूखेपन का आरोप हटाया जा सकेगा। विचारों को तीखे तीर न बनाकर मीठे घूँट बनाना लेखक की सिद्धि मानी जायगी। विचारात्मक निबन्ध लेखक की बुद्धि, चिन्तन और विवेचना की ही परख नहीं, सौन्दर्य-कला और सन्तुलन-सामञ्जस्य-पटुता की भी पहचान है। विचारों को सजाकर तारतम्य में रखना भी साधारण सफलता तो नहीं।

इस प्रकार के निबन्ध में विचारों की बेतरतीब भीड़ नहीं, गठित और नियन्त्रित पूँजी मिलेगी।[1] विचारों का प्रवाह पास-पास चलने वाली तेज़ लहरों-सा रहेगा। उनमें सघनता होगी। भाषा-शैली भी विचारात्मक निबन्ध में ही जाँची जाती है।[2] विचारात्मक निबन्ध अल्पतम शब्दों का लघुपात्र है, जिसमें अधिकतम विचारों का ज्ञान रस भरा है। भाषा ने ही स्थान घेर लिया, विचार कहाँ बैठें ? भाषा सांकेतिक, श्लेषात्मक, संक्षिप्त रूप धारण करे तभी अनेक विचार पारस्परिक ज्ञान का विनिमय करें। प्रसाद-शैली में विचार प्रकट किये जा सकते हैं और संश्लिष्ट में भी। विषय की अनेकरूपता भी इन निबन्धों में देखी जा सकती है। राजनीति, परम्परा, संस्कृति, समाज, नैतिक आदर्श, रस, भाव किसी को भी लिया जा सकता है।

आचार्य शुक्ल के 'चिन्तामणि' में संग्रहीत, 'लोभ और प्रीति', 'क्रोध', 'श्रद्धा और भक्ति', 'घृणा', 'ईर्षा' आदि; जैनेन्द्र के सभी संग्रह 'जैनेन्द्र के विचार', 'जड़ की बात', 'पूर्वोदय' आदि; वासुदेवशरण अग्रवाल के 'पृथ्वी-पुत्र' और 'कला और संस्कृति' पढ़े बिना हिन्दी के विचारात्मक निबन्ध-साहित्य की सम्पन्नता की परख नहीं की जा सकती। आचार्य शुक्ल और जैनेन्द्र तो बेजोड़ हैं।

१. "शुद्ध विचारात्मक निबन्धों का चरम उत्कर्ष वहीं कहा जा सकता है जहाँ एक-एक पैराग्राफ़ में विचार दबाकर कसे गये हों और एक-एक वाक्य किसी सम्बद्ध विचार-खण्ड को लिये हों।"

—आचार्य शुक्ल (हिन्दी साहित्य का इतिहास; सातवाँ संस्करण; पृष्ठ ५०६।)

२. "जिनकी असाधारण शैली या गहन विचारधारा पाठकों को मानसिक क्रम-साध्य नूतन उपलब्धि के रूप में जान पड़े।"

—आचार्य शुक्ल (हिन्दी साहित्य का इतिहास; सातवाँ संस्करण; पृष्ठ ५५८।)

भावात्मक

भावात्मक निबन्ध में हृदय का आग्रह प्रधान है। हृदय का अनुरोध हृदय सुनता है। इसमें भाव—रागात्मक—तत्त्व का अधिकार सब तत्त्वों पर रहता है। इसमें भाव के बाद कल्पना और कल्पना के बाद विचार-तत्त्व आयगा। तर्क, युक्ति, कार्य-कारण का इसमें बहिष्कार रहेगा। 'क्या' का उत्तर तो यह है, 'क्यों' को स्थान नहीं। हृदय की उदात्त अनुभूतियों, तीव्र भावनाओं और भावुकता का चरम भावात्मक निबन्ध में ही मिलेगा। हृदय, जो आनन्द-विषाद, आकर्षण-विकर्षण, ममता-विरक्ति किसी पदार्थ, दृश्य, स्थान या व्यक्ति के प्रति अनुभव करता है, कलाकार वही सब कुछ अपनी रचना में भर देता है। अनुभूतियाँ जितनी भी गहन और सघन होंगी, भाव जितने भी तीव्र और आकुल होंगे, प्रकाशन जितना भी स्पष्ट और निश्छल होगा, उसी अनुपात से निबन्ध सफल कहलायगा।

अपने आधार और भाव के प्रति एकनिष्ठ अडिग आस्था की पूँजी लेखक के पास न हुई, तो निबन्ध में सफलता कहाँ ? वह पागल का प्रलाप बनकर रह जायगा। भावात्मक निबन्ध पागल का प्रलाप नहीं, एक भावुक स्वस्थ हृदय का आत्मनिवेदन है। आत्मनिवेदन में आस्था ही तो गति है—यही शब्दों को पैर ही नहीं, पर भी लगाती है। निश्छल न हुआ, तो आत्मनिवेदन क्या ? तब तो कोरा अभिनय ही रहा। अभिनय या नकल तो यथार्थ है नहीं। यही आस्था और निश्छलता शैली को प्रवाह और भाषा को तरलता देती है। भाव और भाषा दोनों की तरलता से स्निग्धता और सजलता की कलियाँ खिलेंगी। तभी भावात्मक निबन्ध का अनुरोध सुना जायगा। तभी पाठक उसमें लेखक और अपने आपको पा सकेगा और खो भी सकेगा। यही स्थिति भावलीनता की होगी। तब निबन्ध में संगीत की मूर्छना भी आ जायगी। इन सब गुणों से सम्पन्न रचना में ही हम भावात्मक निबन्ध का आदर्श पा सकेंगे।

भावात्मकता या रागात्मकता का मतलब यह कि भाव मूर्त्त रूप में आयें—उनका बिम्ब सम्मुख उपस्थित हो। लेखक का भावोद्वेग पाठक के भावों को सजग और चपल बनादे। पाठक भी लेखक के समान तल्लीनता अनुभव करे। भाव की प्रधानता का अर्थ यह नहीं कि भावों की व्याख्या और विवेचना की जाय। भाव, अनुभाव, संचारीभाव, विभाव के कुलगोत्र बताये जायँ—इनकी आपसी रिश्तेदारी समझाई जाय। यह काम भावात्मक निबन्धकार का नहीं, रस-विवेचक का है। "चिन्तामणि" में संग्रहीत 'क्रोध', 'लज्जा', 'ग्लानि', 'लोभ और प्रीति', 'श्रद्धा'—भावात्मक निबन्ध की कोटि में नहीं आते। ये विचारात्मक निबन्ध हैं। इनमें क्रोध, लज्जा, लोभ आदि का विचारात्मक विवेचन है। इनमें लेखक की लज्जा, श्रद्धा, ग्लानि, क्रोध, घृणा की अनुभूति का बिम्ब नहीं, इनकी शास्त्रीय व्याख्या है। इनके स्वरूप का प्रतिपादन है।

प्रसादजी की 'स्वर्ग के खण्डहर', 'आकाशदीप' चतुरसेन शास्त्री की 'अन्तस्तल'; वियोगीहरि की 'अन्तर्नाद', 'भावना', 'प्रेमयोग'; रायकृष्ण दास की 'साधना', 'प्रवाल'; रामप्रसाद विद्यार्थी की 'पूजा' और 'शुभ्रा' पुस्तकों में भावात्मक गद्य के बहुत अच्छे नमूने मिल जायँगे। इस प्रकार के भावात्मक गद्यखण्डों को हम निबन्ध की कोटि में ही रखते हैं। निबन्ध के आन्तरिक और बाह्य, दोनों परिभाषात्मक गुण इनमें मिलते हैं। भावों की जुड़ी हुई कड़ियाँ, वाक्यों की लहरों की तरह पारस्परिक सम्बन्ध, हृदय का तीव्र उद्वेग, अन्तर का निश्छल प्रकाशन—सभी कुछ इनमें मिलता है, तब ये निबन्ध की कोटि में क्यों नहीं?

कुछ समीक्षकों ने इन गद्यखण्डों को 'गद्य काव्य' या 'गद्यगीत' की संज्ञा दी है। 'गद्यकाव्य' नाम देना नासमझी की मौलिक भूल है। 'गद्यकाव्य' साहित्य की व्यापक परिधि है। कहानी, उपन्यास, नाटक, निबन्ध, स्कैच, आत्मचरित—सब उसके विभिन्न रूप हैं। ये गद्य-खण्ड गद्यकाव्य, तो वे सब क्या? या उन सभी के सिर से 'गद्यकाव्य' का कुल-गोत्र हटा दो, उनको केवल अपने नाम से गृहीत होने दो। इन भावात्मक गद्यखण्डों का 'गद्यकाव्य' नाम भ्रामक और अर्थहीन है। किसी ने जाने बिना कि गद्यकाव्य है क्या बला, इनको कभी गद्यकाव्य कह दिया, बस, चल पड़ा यही नाम। पर साहित्य-समीक्षकों द्वारा यह नाम प्रयुक्त देख अवश्य ही हास्यास्पद प्रतीत होता है। 'गद्यगीत' भी यह क्यों? गीत में तो लय, स्वर और संगीत हैं। यों तो लीथो पर छपे 'प्रेम सागर' बाँचने वाले कथावाचक उसमें भी स्वर और संगीत पैदा कर देते हैं, पर एक समीक्षक भी क्या उसे गद्यगीत कहे? यदि शब्द की बाजीगरी दिखाने के लिए आन्तरिक लय-संगीत इनमें तलाश किया जाय, तो साहित्य के सभी रूप इस लय और संगीत से सम्पन्न हैं। उपन्यास, कहानी, नाटक में यह सबसे ज़्यादा मिलेगा।

इन्हें भावात्मक निबन्ध के अन्तर्गत लेना ही ठीक है। 'गद्यगीत' और 'गद्य-काव्य' दोनों ही नाम नये नामों की खोज का पागलपन भले ही हो, इनसे इनका कोई रूप स्थिर नहीं होता। भावात्मक निबन्ध और इन भावात्मक गद्यखण्डों में मौलिक अन्तर नहीं, केवल आकार में ये विशेष छोटे होते हैं। आकार अलग वर्ग स्थापित नहीं करता, उसकी आर्थिक भिन्नता करती है। अभी तक हिन्दी में इनका कोई साहित्य इसीलिए न खड़ा हो सका, क्योंकि इनका अपना स्वतन्त्र न अस्तित्व है, न प्रथक स्वरूप। और बेतरह छोटे करने के नशे ने इनको और भी पैरों न चलने दिया—घुटनियों चलकर रह गये। इनमें साहित्य की प्रौढ़ वाणी मुखरित न हुई, शिशु की तोतली बोली ही दिखाई दी। इसका कारण यह भी रहा कि लेखकों में साधना कम, अनुकरण का नशा ही अधिक था। इन छोटे-छोटे गद्यखण्डों में व्यक्त भाव भी कच्चे और बच्चे ही रहे।

भावात्मक निबन्ध में लेखक की सभी प्रकार की अनुभूतियों का प्रकाशन रहता है। अनुभूतियों की भीड़ या बेतरतीब जमघट नहीं। एक निबन्ध में एक विशेष भाव— रति, क्रोध, घृणा, हास्य आदि—का प्रकाशन रहेगा और अन्य भाव सहायक रूप में आयँगे। पूर्ण ऊँचाई पर पहुँचकर ही रचना की सिद्धि मानी जायगी। भावात्मक निबन्ध में इतनी छूट भी है कि 'भाव', रस-शास्त्र-वर्णित स्थायी भावों के बिम्ब या अनुभूति में सीमित नहीं। वृतियाँ--लज्जा, लोभ, ग्लानि, ममता, आकर्षण, विकर्षण आदि—भी 'भाव' का गौरव और अधिकार पाती हैं। इनका रागात्मक प्रकाशन ही भावात्मक निवन्ध कहलायगा। समझिये—आत्मसमर्पण एक वृत्ति है, भाव नहीं, भाव की प्रतिक्रिया है। यह वृत्ति भावात्मक निबन्ध में भाव कहलायगी।

भावात्मक निबन्ध में विभावों का महत्त्व और प्रवेश है। आलम्बन तो आधार या सम्बल बनकर आता ही है, उद्दीपन भी भाव का जनक और उत्तेजक बनता है। 'भाव को सबल और चमकीला बनाने के लिए जिन के साथ और अनुभाव भी रहते हैं। पर बहुत कम और कभी-कभी। नहीं तो भय है, बिहारी की नायिका की कवायद न हो जाय। आधार या सम्बल (आलम्बन) के अनुभाव और हाव का चित्रण भी भावात्मक निबन्ध में अवस्थानुसार रह सकता है। शंका उठेगी—निबन्ध, और भावात्मक विशेष रूप से, 'निज' का प्रकाशन है। तब इसमें 'पर'—आलम्बन—को स्थान क्यों? आलम्बन के अनुभाव ही तो निवेदक के भावों के जनक हैं। इस निबन्ध की सीमा किसी एक भाव तक नहीं। हास्य-व्यंग्य की गद्यात्मक रचनाएँ भी भावात्मक निबन्ध में आयँगी। प्रतापनारायण के 'भौं', 'नाक', 'आँख', 'धोखा'; बालकृष्ण भट्ट के 'आँसू', 'माधुर्य', 'माता का स्नेह', 'ईश्वर भी क्या ठठोल है'; पूर्णसिंह के 'ब्रह्मक्रान्ति'; माखनलाल चतुर्वेदी के 'साहित्य-देवता', 'युग और कला', 'सन्देशवाहक', 'छलकत गगरी'; रामवृक्ष बेनीपुरी के 'गेहूँ और गुलाब', 'मीरा नाची रे', 'लागत कलेजवा में चोट'; राजकुमार रघुवीर सिंह के 'ताज', 'अवशेष', 'तीन क़ब्रें', 'उजड़ा स्वर्ग' आदि भावात्मक निबन्धों का रस लेने के लिए पढ़े जा सकते हैं।

आत्मपरक

'निजात्मक' का एक अन्य प्रकार भी है, जो विचारात्मक या भावात्मक की सीमा में नहीं आता। इसी को प्रमुख आधार मानकर अंग्रेज़ी-साहित्य-समीक्षकों ने निबन्ध के दो वर्ग—निजात्मक (Subjective) और परात्मक (Objective)—किये। प्रयत्न करने पर भी इस प्रथक प्रकार को हम भावात्मक या विचारात्मक, दोनों में से, किसी की परिधि में न बाँध सके। इसका स्वरूप इतना स्वाधीन वैयक्तिक प्रथक और प्राणवान है कि इनमें से किसी की गोद में यह बैठ नहीं पाता, मचल-

मचल पड़ता है—ठीक सशक्त, चंचल, होनहार खिलाड़ी बालक की तरह। भावात्मक या विचारात्मक निबन्ध में भी कलाकार अपने 'व्यक्ति' की प्रतिष्ठा करता है; पर इनमें उसका 'व्यक्ति' रहते हुए भी, वह बहुत-कुछ अलग भी रह सकता है। मतलब, इसके आकार में उमड़ते विचारों और छलकते भावों पर किसी अन्य का लेबिल भी लगाया जा सकता है। इनमें लेखक का व्यक्तित्व अपनी रेखाओं में चमकते हुए भी शेष विश्व में समाया रहता है—प्रथकता पाने में थोड़ी उलझन है अवश्य। लेखक के 'व्यक्ति' या 'स्वरूप' की परिधि-लकीरों पर उँगली फेरकर तत्काल पहचान तलाश नहीं की जा सकती। बात यों समझ में आयगी—कमल ने अपनी प्रथम निबन्ध-पुस्तक लिखी। उसमें भावात्मक और विचारात्मक, दोनों ही प्रकार के निबन्ध हैं। निजात्मक वर्ग में ही वे आयँगे। इससे पूर्व कमल के विचार, भाषा, शैली, आदि को कोई नहीं पहचानता, न कमल को ही कोई लेखक के रूप में जानता है। इस पुस्तक पर 'कमल' के स्थान पर 'रतन' का नाम दे दीजिये। कोई अन्तर नहीं पड़ेगा। अनेक पैसानाथ अपने प्राइवेट सेक्रेटरी से लिखाकर दाम के ज़ोर से अपना नाम छपा ही लिया करते हैं। इसे भी यों समझिये—'कमल' ने एक निबन्ध-पुस्तक लिखी। उसमें संग्रहीत निबन्ध उसके अपने जीवन की यथार्थ घटनाओं से संबद्ध हैं। एक में उसकी वह आत्मग्लानि है जो उसे किसी अपढ़ 'पूँजीपति' की ख़ुशामद करने में हुई। दूसरे में वह करुणा है, जो उसके बाल संघाती की मौत पर बह निकली। किसी में बेकारी-बीमारी से उसका संघर्ष चित्रित है, किसी में उसके प्रथम लेख के प्रकाशन पर, उसकी प्रसन्नता का चित्रण। इन निबन्धों पर 'रतन' के नाम की छाप लग नहीं सकती। कमल का मृतक बालमित्र, उसकी आत्मग्लानि का स्रोत, उसका प्रथम प्रकाशित लेख 'रतन' के नहीं बन सकते। इन यथार्थताओं का कमल से सम्बन्ध है। ऐसे निबन्ध सरल भी हैं और कठिन भी। अपनी बात कह विश्व की रागात्मकता जगाना, साधारण बात नहीं। सरल है कि कहने के लिए बाहर से बात नहीं तलाश करनी पड़ती।

पर जिस 'प्रकार' का विवेचन हम यहाँ कर रहे हैं, उस पर किसी का लेबिल नहीं लगाया जा सकता—वह इतना निजात्मक या आत्मपरक है। उसका 'व्यक्ति' प्रथक ही रहेगा।

ऐसे निबन्ध को हम आत्मपरक या वैयक्तिक कहेंगे। इसे निजात्मक का तीसरा प्रथक प्रकार हमने माना है। उसे प्रथक और विशेष प्रकार मानने का कारण बहुत सबल है। आत्मपरक में लेखक का 'निज' इतनी गहरी स्पष्ट, मोटी और चमकीली रूपरेखा लेकर उपस्थित रहता है कि यह किसी अन्य का बन ही नहीं सकता। विश्व की बात कहकर नहीं, अपनी बात कहकर वह शेष विश्व की

आत्मीयता, सहानुभूति और संवेदना प्राप्त करता है । अपने जीवन के विषय में वह कहेगा—वह कथन सबके आँसुओं और मुस्कान का अधिकारी बनेगा। 'निज' को वह रखेगा, पर उसके 'निज' से पाठक कभी उल्लास समेटेंगे और कभी उसके 'निज' को सिसकियाँ बाँटेंगे। आत्मपरक निबन्ध में लेखक सही आकार में आता है। भौतिक परिस्थितियाँ, जीवन के भाव-अभाव, विवशता-बेचैनी, ग्लानि-सन्ताप, आलोक-अंधकार, भूल-अपराध, सिद्धि-सफलताएँ, सभी आत्मपरक निबन्ध को आकार देंगी। साथी-संगी, सगे-सम्बन्धी, भाई-बन्धु, नौकर-चाकर, मित्र-मिलापी—जिनसे लेखक का कटु-मधु, रागी-विरागी, करुण-प्रसन्न 'व्यक्तित्व' उभरा है, ऐसे निबन्धों में रहेंगे। कहा जा सकता है, तब यह प्रकार भी भावात्मक में ही क्यों न ले लिया जाय ? इसका अलग नाम क्यों दिया जाय ? इसे अलग ही नाम देना पड़ेगा। निजात्मक वर्ग के भावात्मक और आत्मपरक में मोटा अन्तर है। आत्मपरक निबन्ध का जन्म अधिकतर भौतिक कारणों से होता है—अपने को प्रकट करने का साधन इसमें अधिकतर भौतिक सम्बन्ध और भाव-अभाव है। अपने सम्बन्धियों का मिलन-विछोह, अपनी व्यक्तिगत निर्धनता-पीड़ा, निजी दुर्भाग्य-दैन्य, या आनन्द-उत्सव इसमें रहते हैं। आत्मपरक निबन्ध-लेखक भौतिक जीवन, समाज-सम्बन्ध, घर-गृहस्थ से ही अधिक सम्बन्ध रखते हैं। भावात्मक निबन्ध हमारे भावात्मक लोक—हृदयानुभूति—से संबद्ध हैं। जिनका सम्बन्ध हमारे निजी भौतिक जीवन या शरीर से नहीं भी हो सकता। विचारात्मक या भावात्मक निबन्ध शेष विश्व का भी होकर निबन्धकार का भी हो सकता है—निबन्धकार का होकर भी वह शेष विश्व का हो सकता है; आत्मपरक में निबन्धकार का 'निज' ही विश्व का बनता है—शेष विश्व का उसका 'निज' नहीं बनता। यही सबसे गहरी और चमकीली रेखा दोनों के बीच अन्तर की पहचान बनती है।

हिन्दी में ऐसे निबन्ध बहुत कम लिखे गये । जो भी थोड़े-बहुत प्रकाशन में आये, उनमें कला और कृत्रिमता का आभास अधिक और यथार्थ का समावेश बहुत कम। संस्मरणों के रूप में कुछ रचनाएँ अवश्य मिल जायँगी। हास्य-व्यंग्य को लेकर जो आत्मपरक निबन्ध लिखे गये, उनमें 'निज' को रखने की अपेक्षा पाठक को गुद-गुदाने-हँसाने की चेष्टा अधिक रही। अधिकतर रचनाएँ असत्य, असंबद्ध घटनाओं से भरपूर हैं। बनावटीपन की सीमा तक वे पहुँच जाती हैं। हिन्दी में चार्ल्स लैम्ब के जोड़ के निबन्ध कहाँ हैं ? लैम्ब के निबन्धों में करुणा की जो धुमैली-धुँधली घटाएँ उमड़ती हैं, उनमें कलाकार का कलेजा पानी बन बरसता है, वैसी बात क्या हम अपने यहाँ पैदा कर सके ? लैम्ब के 'ड्रीम चिल्डरन', 'पुअरटिलेशन', पढ़कर तो देखें—आँखों में बदली छा जायगी। इसी प्रकार के निबन्धों को हमने आत्मपरक या वैयक्तिक

कहा है। शान्तिप्रिय द्विवेदी की एक पुस्तक 'पथ-चिह्न' हमारे देखने में आई, जिसमें आत्मपरक निबन्ध संग्रहीत हैं। इनमें कहीं-कहीं लैम्ब की-सी करुणा और आत्मानुभूति बरसती है। महादेवी वर्मा की दो पुस्तकों—'स्मृति की रेखाएँ' और 'अतीत के चलचित्र'—में भी आत्मपरक ढंग की रचनाएँ हैं। इनके 'निज' का चित्रण है; पर दोनों में वह बात न आ पाई, जो मन खोजना चाहता है। आत्मपरक निबन्धों का अभाव सचमुच, हिन्दी की सम्पन्नता के सामने भीषण प्रश्न-चिह्न है।

७

शैली-समीक्षा

शैली की सबसे बड़ी परख है निबन्ध। निबन्ध में शैली, साहित्य के अन्य रूपों की अपेक्षा, सबसे अधिक स्वस्थ आकार ग्रहण करती है। शैली ही निबन्ध को प्राणवान बनाती है—उसे व्यक्तित्व प्रदान करती है। व्यक्तित्व से मतलब—लेखक का व्यक्तित्व और निबन्ध का निजीपन भी। शैलीगत विशेषता के कारण ही निबन्धकार लेखकों की भीड़ में पहचाना जा सकता है। बात सभी कहते हैं, तब क्यों एक की कलेजे में बैठती है और एक की कानों में भी नहीं ? एक की बात से गुदगुदी के घुँघरू बज उठते हैं, एक की बात से आँखों का आलस्य भी नहीं उतरता ? बात के कहने का ढंग है—यही है शैली। बात में चमत्कार हो तो क्यों न भाये, नुकीलापन हो तो कलेजे में क्यों न घुसे, रस हो तो प्यारी क्यों न लगे ? यही कहने का ढंग निबन्ध का सबसे बड़ा बल है। शैली ही फ़ोर्स है और शैली ही गतिशीलता।

कहने का ढंग—शैली—प्राप्त हो कैसे ? इसका निर्माण और सक्रियता अन्तर की आकुलता में है। जब अन्तर की वाणी फूट निकलने को बेताब होती है, वह अपना प्रवाह-पथ—शैली—अपने आप खोज लेती है। यह न हो तो कबीर की वाणी में इतना फ़ोर्स कहाँ से आता ? मीरा की तड़प शब्द के तारों में कैसे बजती ? लैम्ब की करुणा कैसे बह निकलती ? बाहरी चमत्कार, उक्ति-वैचित्र्य, रीति-विधान तो केवल कौतूहल ही गुदगुदा सकेंगे। कौतूहल स्थायी तो नहीं, यह बाल-पाठकों को ही प्रसन्न करेगा। स्पष्ट है, कहने के ढंग में भीतरी आग्रह का ज़ोर अवश्य हो। भीतरी आग्रह ही शब्द के शरीर में अर्थ के प्राण भरता है। यह अर्थ ही शब्द का जीवन है। शब्द की अमरता का मतलब 'अर्थ' है, यही उसका प्रयोजन भी। 'शैली ही व्यक्ति है', का अर्थ भी यही है कि शैली से व्यक्ति का 'अन्तर' और 'आकार' समझा जा सके। एक बात ध्यान में रहे, यह 'अन्तर' भी 'आकार' में ही प्रकट होगा। शैली की परख शब्द-विधान से ही होगी। शैली के विभिन्न वर्ग भी बाहरी स्वरूप से सम्बोधित होंगे। 'बाहर' ही 'भीतर' का प्रकाशन है।

बात यों और भी स्पष्ट हो जायगी—एक अभिनेता है। करुणा का प्रदर्शन वह अपने अभिनय में करता है। संवाद का शब्द-शब्द उसकी दयनीय दशा प्रकट करता है। वाणी अत्यन्त रोती-सी होती है। उसमें एक अनुरोध बोलता है। कभी वह सिसकियाँ भरता है, कभी आँखों में आँसू। मुख पर कभी उदासी आती है, कभी

निराशा छा जाती है। दया की भीख के लिए कभी आँचल पसारता है, कभी अंजलि बनाता है। विवशता प्रकट करने के लिए कभी मस्तिष्क पर हाथ रखता है, ईश्वरीय न्याय के लिए कभी हाथ ऊपर उठा आकाश की ओर निहारता है। करुणा के भाव उसके हृदय में उमड़ रहे हैं, संवादों के द्वारा वह प्रकट करता है; पर उसके बोलने का ढंग, वाणी की तरलता, हाव और अनुभाव, शारीरिक क्रियाएँ, मुख पर आने-जाने वाले रंग ही उसके आन्तरिक भाव प्रकट करने के साधन हैं। यही शैली है।

शैली का नामकरण या वर्गीकरण आन्तरिक, केवल भाव या विचारों के आधार पर नहीं किया जा सकता। 'अन्तर' का विचार रखना आवश्यक है, पर उसकी परख भी बाहरी स्वरूप से ही की जायगी। विचार या भाव तो निबन्ध की आत्मा है, भाषा शरीर और शैली जीवन या प्राण। अभिनेता के उदाहरण में जैसे बताया गया, व्यक्ति के विचार या भाव उसकी भाषा और शरीर की क्रियाओं से पहचाने जायँगे। निबन्ध के 'अन्तर'—विचार या भाव—के आधार पर निबन्धों का नामकरण हो सकता है, शैली का नहीं। शैली को विचारात्मक, भावात्मक आदि नाम देना भ्रामक है। शैली का नामकरण भाषा, उसकी अर्थ-शक्ति और सफलता के आधार पर ही किया जाना ठीक है। मतलब, भाषा के आन्तरिक रूप में 'अर्थ-शक्ति और सफलता' को लेना चाहिए और बाहरी रूप में 'भाषा के बाह्य स्वरूप'—शब्द-योजना, संश्लिष्टता, आवेग, शिथिलता, रीति-विधान आदि—को। दोनों के सामञ्जस्य से शैली की परख होगी—उसे विशेष संज्ञा दी जायगी।

कुछ समीक्षकों ने शैली के अनेक मनमाने नाम गिना डाले हैं—सुष्ठु, मिष्ठु, सुबोध, प्रसाद-पूर्ण, अलंकार-पूर्ण, प्रयत्न-पूर्ण, चित्रात्मक, काव्यात्मक, भावात्मक, विचारात्मक, प्रभावात्मक, कथात्मक और न जाने कितने 'पूर्ण', 'आत्मक' और 'ष्ठु' लगाकर विलक्षण नामों का तमाशा खड़ा किया है। समीक्षक के लिए यह इष्ट नहीं। इन नामों का न वैज्ञानिक आधार है, न सैद्धान्तिक। सुबोध, प्रसाद-पूर्ण, अलंकार-पूर्ण भाषा के गुण अवश्य हैं। पहले दोनों रूपों का समावेश प्रसाद-शैली में होगा और तीसरे का 'समास' में। शैली के सम्बन्ध में 'सुष्ठु' 'मिष्ठु', 'काव्यात्मक' का कोई अर्थ नहीं। कोमल भावों के प्रकाशन में मधुर शब्द आ ही जायँगे। और जितने 'आत्मक' हैं, ये भाषा-शैली के गुण नहीं। भावात्मक, विचारात्मक तो निबन्ध के वर्ग विशेष हैं। शैली को ये नाम देने से गड़बड़ मचेगी। 'प्रभावात्मकता' विषय-विवेचन या प्रकाशन का परिणाम या फल है। 'चित्रात्मकता' वर्ण्य-विषय की विशेषता। ये भाषा के न आन्तरिक गुण हैं, न बाह्य।

मोटे तौर पर भाषा को सुबोध और दुर्बोध दो नामों में बाँटा जा सकता है। इनके अनुसार 'सुबोध' और 'दुर्बोध' शैलियाँ भी बनाई जा सकती हैं। पर इन वर्गों से

काम नहीं चलेगा और इनमें भाषा के समस्त गुण, बल और रूप भी नहीं आ सकेंगे। 'दुर्बोध' के कई भाग करने पड़ेंगे। भाषा की दुर्बोधता और अर्थ की दुर्बोधता। मतलब, इतनी कठिन भाषा लिखी जाय कि साधारण पाठक समझ ही न सकें या सरल भाषा में भी ऐसी उलझन हो कि अर्थ तक पहुँच दुर्गम हो जाय। तब हमें भाषा के सुबोध और दुर्बोध रूप को ही नहीं, अन्य रूपों को भी लेना पड़ेगा, तभी यथार्थ में शैलियों की विविधता और पृथकता की तलाश और पहचान हो सकेगी।

इन्हीं सब आधारभूत सिद्धान्तों के आदेशानुसार हम शैली की समीक्षा करेंगे और उन्हें विशेष नाम देंगे। भावों और विचारों की प्रेरणा, भाषा के विभिन्न रूप और विधान, पाठक के प्राप्य और लेखक के प्रदान, शब्द-शक्ति और अर्थ-व्याप्ति आदि को कसौटी मान हमने निबन्ध की विविध शैलियाँ मानी हैं। सभी के स्वरूप, उपयोग, प्रयोग आदि को स्पष्ट करने की पूरी चेष्टा की गई है। उनके पारस्परिक अन्तर और साम्य को भी समझा दिया गया है। निबन्ध की निम्न शैलियाँ हमने मानी हैं—प्रसाद, समास, विवेचन, व्यंग्य, आवेग और प्रलाप।

प्रसाद

एक निबन्ध शैली के विचार से समीक्षार्थ हमारे सामने है। भाषा सुबोध और सरल है। न वाक्यों में उलझन, न अर्थ तक पहुँचने में मस्तिष्क के पैरों में थकान। सीधे-सरल वाक्य, मिश्र (Compound) और संश्लिष्ट (Complex) का पूर्णतः अभाव। भाषा की अभिधाशक्ति सर्वोपरि, बातें समझाकर कह दी गई। कभी दोहरा भी दी गई। रूपक, उपमा, उदाहरण हमारे दैनिक जीवन की पकड़ से बाहर के नहीं। लगता है, कोई सरल मन लेखक सहानुभूतिशील, शुभचिन्तक मीठी वाणी में हमें समझा रहा है। भाषा में माधुर्य है, ओज नहीं; अपनापन है, पाण्डित्य नहीं। भावों में सरलता है, दुराव नहीं। विचारों में स्पष्टता है, उलझन नहीं। लेखक का व्यक्तित्व, एक साथी का प्यार, सहृदयता और अनुरोध लेकर आया है। गुरुडम से दबा आदेश लेकर नहीं।

ऐसे निबन्ध में प्राणवान क्रियाशीलता और सशक्तता नहीं होगी; एक ममतापूर्ण आकर्षण, स्वच्छता और मिठास होगा। ऐसी शैली को प्रसादात्मक, अभिधात्मक, सुबोध कोई भी नाम दिया जा सकता है। अनेक समीक्षकों ने इसे 'व्यास' नाम दिया है। 'व्यास'-शैली में हमें, वह अर्थ-व्याप्ति और गहनता नहीं दीखती, जो 'प्रसाद' में। 'व्यास' शब्द में शैली इतनी नहीं, जितनी कथात्मकता, संगीतात्मकता, उपदेशात्मकता, भाषा की विरलता और शिथिलता मिलती है। केवल सरलता और सुबोधता का अर्थ 'व्यास' से ग्रहण होता है, शैलीगत अन्य विशेषताओं का नहीं। 'प्रसाद' में ये दोनों अर्थ तो हैं ही, मधुरता, हित-चिन्तन, सहृदयता और सहानुभूति का भाव भी है।

प्रसाद में जो आशीर्वाद और देने की भावना है, वह व्यास में नहीं। इस शैली को हम प्रसादात्मक या प्रसाद-पूर्ण कहना अधिक समीचीन समझते हैं। 'व्यास' से भी विरोध नहीं। बहस नाम पर नहीं, स्वरूप पर होनी चाहिए।

प्रसाद या व्यास-शैली का उपयोग यों तो सभी प्रकार के निबन्धों में किया जा सकता है, पर वर्णन और विवरण प्रधान निबन्धों में यह सबसे अधिक सफल और उपयोगी है। ये निबन्ध केवल इसी शैली में लिखे जाते हैं। विचारात्मक निबन्ध भी प्रसाद-शैली में लिखे जा सकते हैं। विचारों और सिद्धान्तों को सरल-सुबोध भाषा में भी समझाया जा सकता है। भावात्मक निबन्धों में यह शैली बहुत कम प्रयुक्त की जाती है। पर वहाँ भी इसका प्रवेश-निषेध नहीं। जिन निबन्धों में भाव बड़ी सफ़ाई, स्पष्टता, सरलता और भोलेपन से रख दिये जाते हैं उनकी शैली को और क्या नाम देंगे? विशेष तौर पर सरल हास्य-विनोद, भोलेभाले प्रेम के भाव इस शैली में बहुत सफलता से रखे जाते हैं। शैली से यह पता चलेगा, लेखक जो बात कहता है, उसके मस्तिष्क में वह स्पष्ट है। जो कहता है, वह बहुत अच्छी तरह समझता भी है।

समास

एक दूसरा निबन्ध या गद्यखण्ड हमारे सामने है। इसमें संस्कृत-शैली का प्रभाव और आतंक स्पष्ट है। शब्द तत्सम और वाक्य मिश्र (Compound) और संश्लिष्ट (Complex) अधिक हैं—तुलनात्मक दृष्टि से लम्बे और बोझल। कहीं अनेक शब्द एक दूसरे की दुम से ऐसे कसकर बँधे हैं कि एक शब्द एक-दो पंक्तियों तक पैर पसारे पड़ा है—बैठा नहीं। कहीं एक ही शब्द में क्रिया, कर्ता, करण, अधिकरण आदि का समाहार मिलता है। भाषा में सुबोधता नहीं, समझने में मस्तिष्क को काफी कसरत करनी पड़ती है। अर्थव्याप्ति—विस्तार और गहनता—नहीं, शाब्दिक फैलाव ही अधिक है। इसी दृष्टि से अर्थ में भी विस्तार है। रूपक, उपमा, उदाहरण भी उलझे-उलझे-से मालूम होते हैं। सम्पूर्ण रूप में दुरूहता और गति-शिथिलता है।

एक-दो नमूनों से बात अधिक बोध-गम्य होगी—

"शूद्र-गण-क्षुद्र-जीवन-सम्बल।
परिमल-मधु-लुब्ध-मधुप ॥"

और—

"मुक्ताहारी नीर-क्षीर-विचार-सुचतुर-कवि-कोविद-राज-हिय-सिंहासन-निवासिनी"—एक शब्द है।

ऐसी रचना-शैली को समास या संश्लिष्ट नाम दिया जायगा। लेखक के सिर समास का नशा सवार हो तो वह किसी भी प्रकार के निबन्ध में इसे लादेगा। वर्णनात्मक (प्रकृति-चित्रण, ऋतु-वर्णन) में तो यह प्राय: प्रयुक्त की जाती थी। विवरणात्मक में भी

इससे काम लिया जा सकता है। हिन्दी के अनेक प्राचीन लेखकों ने तो विचारात्मक और भावात्मक निबन्धों में भी इसका सहारा लिया। अन्तिम उदाहरण पण्डित गोविन्दनारायण की रचना से लिया गया है, जिसमें 'साहित्य' की विवेचना की गई है। इस शैली का कोई विशेष उपयोग नहीं। आजकल यह शैली केवल साहित्यिक अजायबघर की शोभा रह गई है। इतनी गहन सघन समास-पद्धति का प्रचलन अनुचित है; पर यह बिलकुल लोप हो जाय, यह भी वांछित नहीं। काव्य में तो अब भी निरालाजी ने इसे जीवित और स्वस्थ रखा है।

एक बात यहाँ स्पष्ट समझ लेनी चाहिए। 'समास-शैली' को हमने उस अर्थ में नहीं लिया, जिसमें अन्य समीक्षकों ने लिया है। न उन्होंने 'समास-शैली' की विशेषता बताने का प्रयास किया, न ही कोई सैद्धान्तिक आधार ही इसका बताया। आचार्य शुक्ल ने भी इसे स्पष्ट नहीं किया। जिस अर्थ में 'समास-शैली' को लेकर उन्होंने अनेक निबन्ध इसके अन्तर्गत रखे, उससे सहमत होने को हमारा मन मानता नहीं। शुक्लजी ने शैलियों का कोई निश्चित स्वरूप और संख्या भी नहीं दी। बाद के समीक्षकों ने भी उनका अनुकरण उसी अभाव और अस्पष्टता के साथ किया। मानता हूँ, साहित्य—निर्माण और समीक्षा—गणित के सिद्धान्तों में नहीं बाँधा जाता, पर मोटे तौर पर सीमा और संख्या पर विचार तो किया जा सकता है।

'समास-शैली' का अर्थ हमने उसी निश्चित और सीमित अर्थ में लिया है जिसका विवेचन हमने इसके स्वरूप-निर्धारण में किया है, इसी आधार पर हम आचार्य शुक्ल के निबन्ध की शैली समासात्मक नहीं मानते, जैसा कि अनेक आलोचकों ने माना। इस ढंग के विचारात्मक निबन्धों की शैली को हमने 'विवेचनात्मक' नाम दिया है। समास-शैली में शुक्लजी के निबन्ध किस लिए? समास की उनमें कहीं छाया भी नहीं। गम्भीरता या दुरूहता का मतलब समास कैसे? यह गम्भीरता तो विचारात्मक निबन्धों में होगी ही। यह विचारों की सघनता और गहनता के कारण है, शैली के कारण नहीं। वाक्यों का पारस्परिक सघन सम्बन्ध और उनमें अर्थ-गहनता या व्याप्ति का अर्थ भी समास कैसे हो गया? समास आकारगत अधिक होता है, अर्थगत नहीं।

विवेचन

अभी कहा गया—शुक्ल जी के विचारात्मक निबन्धों की शैली विवेचनात्मक है। विवेचन में तर्क-वितर्क, प्रमाण-पुष्टि, व्याख्या, निर्णय, परीक्षा सभी का समावेश रहता है। समझ लीजिये, अब एक अन्य प्रकार का निबन्ध शैली-समीक्षा के लिए हमारे सम्मुख है। इसमें विचार ठूँस-ठूँसकर भरे हैं। एक विचार दूसरे की पुष्टि करता भी चलता है और नवीन ज्ञान-पर्त खोलता भी। विचारों को सबल आग्रह और फ़ोर्स के साथ रखा गया है। भाषा दुरूह हो गई है। शब्दों के अन्तर से अर्थ

उमड़ता हुआ फूट निकलता मालूम होता है। विश्वासों को तर्क और युक्तियों के साथ उपस्थित किया गया है। बहस का-सा ढंग है। प्रश्न ही कहीं-कहीं निर्णय है, निश्चित उत्तर है। निषेध से विधि की स्थापना की गई है। शब्द और अर्थ दोनों में ही गहनता, गम्भीरता और सघनता है। इसके पढ़ने से हृदय में भाव-तरंगें नहीं जागतीं। मस्तिष्क के ज्ञान-तन्तुओं में कम्पन होता है। वह-कुछ मिलता है, जिसे शुक्लजी ने 'मानसिक श्रम-साध्य नूतन उपलब्धि' कहा है। इस प्रकार के निबन्ध की शैली को हम 'विवेचनात्मक' कहेंगे।

आश्चर्य नहीं, इसमें संस्कृत के तत्सम शब्दों की अधिकता हो; पर अनिवार्य नहीं। हाँ, सैद्धान्तिक मत-स्थापन या प्रतिपादन में कुछ पारिभाषिक शब्दों का उपयोग करना ही पड़ेगा। जीवन-दर्शन, समाज-परम्परा, नैतिक आचार, धार्मिक व्यवस्था के विषय में यदि अपने निजी स्वतन्त्र विचार देने पड़ें, तो सरल-से-सरल भाषा भी दुरूह बन जायगी—उसमें स्वरूप की संक्षिप्तता और अर्थ की व्याप्ति प्रमुख स्थान ग्रहण करेगी। विवेचन-शैली की कसौटी पर आचार्य शुक्ल और जैनेन्द्रजी के विचारात्मक निबन्ध सम्भवतः सर्वश्रेष्ठ माने जा सकते हैं।

विवेचनात्मक शैली में व्याख्या को बहुत स्थान नहीं। अपना विचार सबल आस्था, अडिग विश्वास और सक्रिय फ़ोर्स के साथ रखना ही इसमें सब कुछ है। साहित्य में नये सिद्धान्तों की स्थापना के लिए पुराने विचारों का खण्डन भी करना पड़ेगा ही। अपनी पुष्टि और विरोधी की युक्तियों का उत्तर भी साथ चलेगा। कभी-कभी व्यंग्य भी अवलम्ब बन जायगा; पर बहुत गम्भीर और कम अवसरों पर। व्यंग्य की अधिकता कहीं शैली में हल्कापन न ले आये, इसलिए व्यंग्य को अधिक महत्त्व न देना चाहिए। न भाषा की उलझन आनी चाहिए, न विचारों की। दुरूहता इसका कोई गुण नहीं—इसका परिमाण भी पाठक की समझ के अनुपात से बढ़ता-घटता है। शुक्लजी के निबन्धों के विषय में दुरूहता की बहुत पहले जो शिकायत सुनी जाती थी, अब उनको पढ़कर पेनबाम खरीदने कोई नहीं जाता।

व्यंग्य

शैली की दृष्टि से एक ऐसा भी निबन्ध हमारे सामने आता है, जो पूर्व-वर्णित किसी शैली के भीतर नहीं लिया जा सकता। वह भावात्मक भी हो सकता है, विचारात्मक भी। शब्दों का चुनाव भी अलग विशेषता रखता है—अर्थ भी। शब्द का बाहरी आकार बड़ा भोला भी लग सकता है, पर अर्थ उसमें अभिधात्मक नहीं। कम-से-कम शब्दों का प्रयोग, वाक्य भी अधिकतर सरल और संक्षिप्त, पर उसमें नुकीला-पन है और हृदय में प्रवेश करते ही नस-नस में जैसे फैल जाता है। ऊपर से बड़ा मीठा लगता है, पर खाने में तीखा स्वाद देता है। बाहर से स्तुति मालूम होती है, भीतर से

भर्त्सना झाँकती नज़र आती है । श्लेष का आधार अर्थ तक पहुँचने के लिए लेना पड़ता है। शब्द की व्यंजना ही अभिव्यंजना की आत्मा बनकर आती है। अर्थ और शब्द की इन विशेषताओं से पूर्ण निबन्ध को हम व्यंग्यात्मक या व्यंजनात्मक शैली में रखेंगे।

व्यंग्य-शैली के तीन रूप हो सकते हैं—तीखा, श्लेषात्मक, परिहासपूर्ण। कठोर, चुभीले, तीखे शब्दों का प्रयाग, अन्य के विश्वासों, आस्थाओं, विचारों पर चोट पहुँचाना, उपालम्भ और तानों की बौछार करना, शैली का तीखापन है। भले लगने वाले मीठे शब्दों में व्यापक अर्थ भर देना, परम्पराओं, विचारों और आस्थाओं को ठोकर मारना; पर गुदगुदाकर। मीठी चुटकियाँ लेकर, नोच-खसोटकर नहीं। यह शैली ही यथार्थ रूप में 'व्यंग्य-शैली' कहलाने का अधिकार रखती है। इसी में भाषा की लक्षणा-शक्ति चमकती है। इसी में लेखक के मानसिक सन्तुलन का पता चलता है। इसमें प्रौढ़ता की गम्भीरता भी रहती है और जवानी की मस्ती और छेड़-छाड़ भी। इसका प्रभाव भी अमिट होता है। बड़ी-से-बड़ी बात कह दा जाय, विरोधी भी मुसकराकर बधाई दे । समाज, साहित्य, नैतिकता, शासन—किसी पर भी व्यंग्य-शैली में बमबार्डमेण्ट किया जा सकता है। बड़े तर्कों, दार्शनिक बहसों और प्रमाणों से वह काम नहीं निकलता, जो इस शैली की रचनाओं से निकलता है । आदमी अपने ऊपर ही हँसता है—अपना चित्र देखकर स्वयं ही आलोचना करता है। समझ लीजिये, चित्रकला में कार्टून का जो महत्त्व है, वही लेखन में इसका।

तीसरा रूप है हास-परिहास का। इसमें शब्द कम मूल्य के प्रयोग किये जाते हैं। गम्भीरता इस शैली में कम है छेड़-छाड़ अधिक। हल्कापन आ जाना स्वाभाविक है। श्लेषात्मक अर्थ इसमें नहीं रहता। यह ऊपरी प्रभाव डालती है । इसमें अर्थ की अपेक्षा शब्दों की खिलवाड़ या करामात अधिक रहती है । वाक्य सुबोध और सरल होंगे। यह विनोद का प्रयोजन ही सिद्ध कर सकती है। इससे केवल मनोरंजन किया जा सकता है, कोई महान् उद्देश्य सिद्ध नहीं। व्यंग्य-शैली में हृदय और मस्तिष्क दोनों की चुटखी ली जाती है, इसमें केवल हृदय की।

व्यंग्य केवल निबन्ध में ही नहीं, साहित्य के सभी रूपों में प्राण पैदा करता है। काव्य की तो यह जान ही माना गया है । कहानी, उपन्यास, नाटक, आलोचना सभी को व्यंग्य जीवन-शक्ति देता है। इसका हिन्दी गद्य में अधिक विकास न हो सका। बालकृष्ण भट्ट और बालमुकुन्द गुप्त के निबन्धों में अवश्य इसके दर्शन हुए; वह भी प्रारम्भिक अवस्था के। आगे चलकर ज्यों-ज्यों निबन्ध-साहित्य उन्नत होता गया, व्यंग्य को देश-निकाला दे दिया गया । और अब तो यह अवस्था है, अमावस की-सी अँधेरी और मर्घट का-सा सन्नाटा निबन्ध में न मिले तो निबन्ध ही क्या !

इसीलिए निबन्ध परीक्षाओं का विषय और पुस्तकालयों का निवासी बना हुआ है—जनता में सबसे कम प्रिय (Popular) यही है। यही दशा रही तो भय है, निबन्ध मातमपुर्सी का निमंत्रण-पत्र न बन जाय।

आवेग

किसी निबन्ध में भाव और विचारों की बाढ़-सी उमड़ती दीखती है। लगता है, पहाड़ी झरने के समान मचलते तेजी से बहे आ रहे हैं। भावात्मक निबन्ध में यह अधिक मिलेगा। वाक्य छोटी-छोटी लहरों-से लगते हैं; शब्द टकराती हुई कम्पन-से। कभी वाक्य अपूर्ण, खण्डित, वक्र और अन्य में विलीन हो जाते हैं, कभी एक-दो शब्द ही वाक्य बनते हैं। क्रियाओं का लोप भी जहाँ-तहाँ मिलता है। कभी विशेषण ही क्रिया का रूप धारण कर लेते हैं। कर्णकटु, कठोर, दुर्बोध, सामासिक, लम्बे, अनगढ़, संयुक्त ध्वनियों वाले शब्दों को स्थान नहीं मिलता। लम्बे मिश्र (Compound) और संश्लिष्ट (Complex) वाक्यों का पूर्ण बहिष्कार रहता है—छोटे-छोटे सरल वाक्यों की प्रधानता मिलती है। भाषा का बाहरी स्वरूप हृदय की उथल-पुथल— मन के मंथन को प्रकट करता है। ऐसी शैली को हम आवेग-शैली का नाम देते हैं।

भावात्मक निबन्धों में प्राप्त इस प्रकार की शैली को शुक्लजी ने 'प्रवाह' संज्ञा दी है और धारा तथा विक्षेप भी इसी के कुछ परिवर्तित रूप माने हैं।

परम्परागत अनुकरण की नैतिकता ने अन्य साहित्य-समीक्षकों को समझने का अवसर ही कहाँ दिया? उदाहरण के रूप में 'धारा', 'प्रवाह', 'विक्षेप' शैली के जो नमूने उपस्थित किये गये, उनसे तनिक भी अन्तर स्पष्ट नहीं होता। एक-दो पंक्तियों में जो इनकी परिभाषाएँ दी गईं, वे तो इतनी अपूर्ण और अस्पष्ट हैं कि किसी नमूने को किसी भी शैली की गोद में बैठा दीजिये—नमूना रंग बदल जायगा। 'धारा' 'प्रवाह' दोनों शब्दों से न भाषा और न ही भावों की तीव्रता और क्षिप्रता का पता चलता है। प्रवाह तो गंगोत्री से लछमनझूले तक भी है और पटना से हुगली तक भी और धारा तो उद्गम से मुहाने तक। इन नामों से अन्तर स्पष्ट नहीं होता। दोनों ही समानार्थक हैं—अतएव भ्रामक भी।

हाँ, 'प्रलाप' में परिभाषात्मक स्वरूप की स्पष्टता अवश्य मालूम होती है। शैली का नामकरण न केवल भीतरी आधार पर होगा, न बाहरी; दोनों को मिलाकर। इसलिए भी 'धारा' 'प्रवाह' नाम स्वीकार करने में भारी आपत्ति है। 'आवेग'-शैली का स्वरूप हमने भाषा और भाव, दोनों ही दृष्टियों से निश्चित किया है। 'आवेग' में जो मानसिक क्रिया-प्रतिक्रिया और हृदय-मंथन का निश्चित स्वरूप पाठक के सामने आता है, 'धारा' और 'प्रवाह' में नहीं। प्रायः जो नमूने धारा और

विक्षेप-शैली के पुस्तकों में देखने को मिले, वे भावात्मक निबन्धों की 'प्रसाद-शैली' में मज़े में रखे जा सकते हैं । इनमें अभिधात्मक गुण भाषा में सर्वोपरि है, फिर वे प्रसाद-शैली में क्यों नहीं ? धारा, विक्षेप, प्रवाह कहाँ से आ गये ?

प्रलाप

आवेग का ही दूसरा रूप है—प्रलाप। आन्तरिक आवेग के ही कारण प्रलाप की स्थिति आती है । भाषा की अस्त-व्यस्तता, वाक्य अधिकाधिक खण्डित, छोटे और विलीन, भाषा का प्रवाह कभी अत्यन्त तीव्र और कभी शिथिल। कभी असम्बद्धता, तीखापन, ओज, उपालम्भ; कभी विनम्रता, पछतावा, आत्मसमर्पण और अनुरोध। कभी विलक्षण सजगता, कभी मूर्छना—भाषा और भाव दोनों में ही जहाँ यह मिले, वहाँ प्रलाप-शैली समझनी चाहिए। प्रलाप में भावों का तारतम्यिक सम्बन्ध नहीं रहता। पागलपन की-सी मानसिक अवस्था लेखक की होती है। पागलपन में जिस प्रकार जो आया, बक दिया, वही इस शैली की विशेषता है। भावों की भीड़-सी उमड़ती है—भीड़ में कोई क्रम तो नहीं होता। भावों के कारण ही भाषा अलग स्वरूप धारण कर लेती है।

'विक्षेप-शैली' को हमने प्रलाप में ही सीमित कर लिया है। 'विक्षेप' में भी सहसा भावों की गति में बाधा पड़ती है । तुरन्त अन्य भाव उमड़ आता है। यही प्रलाप में होता है। समझ लीजिए—तेज झरना पर्वत से रपटता चला आ रहा है। रास्ते में कोई चट्टान मिली, पथ बदल गया। भिन्न ही लहरें उठने लगीं। फिर कहीं कोई बाधा पड़ी, प्रवाह में शिथिलता आ गई। यही रूप इस शैली का है। प्रलाप-शैली प्रेम-योगियों, सूफ़ियों, साधकों की रचनाओं में अधिक सिद्ध रूप में प्रकट होगी। यह शैली केवल भावात्मक निबन्धों में ही आ सकती है, विचारात्मक, वर्णनात्मक या विवरणात्मक में नहीं। इसी के अन्तर्गत कुछ आचार्यों ने 'तरंग-शैली' को भी गिनाया है, उसका न कोई स्पष्ट रूप है और न उसका कोई मतलब।

८

काव्य के रूप और निबन्ध

साहित्य की विधाओं में अनेक असमानताएँ मिलेंगी और अनेक समानताएँ। असमानता और समानता एकरूपता की पहचान है। पर दो-चार समानताओं को आधार मान दो विधाओं को एक नहीं कहा जा सकता। कहानी, नाटक, एकांकी, प्रबन्ध-काव्य और उपन्यास में तत्त्वों की समानता होते हुए भी, वे सभी स्वतन्त्र और प्रथक हैं। उपन्यास और महाकाव्य एक होते हुए भी एक नहीं। किन्हीं दो विधाओं या रूपों की तुलना कर भिन्नता और समानता दिखाने का तात्पर्य है, दोनों के रूप को स्पष्ट करना—उस बारीकी को बताना, जो दोनों के मध्य अन्तर की लकीर बनती है। तुलना का यह तात्पर्य नहीं कि किन्हीं भी दो विधाओं को लेकर उनकी अपनी विशेषताएँ गिना देना। दो समान लगने वाली विधाओं की तुलना कर अन्तर स्पष्ट करना ही सार्थक है। कभी-कभी दो वस्तुओं की समानता अन्तर को छिपा लेती है—भेद जानना कठिन हो जाता है। भ्रम होजाना असम्भव नहीं। इस भ्रम को दूर करने के लिए ही तुलना की जाती है। बात जब समझ में न आवे या अभिव्यंजना असमर्थ लगे, तो उपमा या समान और परिचित वस्तु के उदाहरण का अवलम्ब लेना पड़ता है। यहाँ साहित्य के विविध रूपों से निबन्ध की तुलना करके निबन्ध के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए उन रूपों से निबन्ध की समानता या प्रथकता का निरूपण किया जायगा।

गीति और निबन्ध

पद्य में जो गीत है, गद्य में वही निबन्ध। गीत में गीतकार की निजी भावात्मक अनुभूति की बाढ़ उमड़ती है। साधक अपने अन्तर के हर्षोल्लास की तीव्रता जब सँभाल नहीं पाता, वह गीत बनकर फूट पड़ती है। निबन्ध भी लेखक की व्यक्तिगत मानसिक और भावात्मक चेतना का गद्यात्मक रूप है। निबन्धकार भी अपनी रचना में निजी भावनाएँ और अनुभूतियाँ, विचार और विश्वास प्रकट करता है। गीत और निबन्ध, दोनों में ही आत्म-प्रकाशन का स्थान सर्वोपरि है। गीतकार अपने भावावेश और विचारोद्वेग को स्वरों में बाँधता है और निबन्धकार शब्द-गठन या वाक्यों में।

गीत में गीतकार का व्यक्तित्व प्रकट होता है। वह निश्छल और अवगुण्ठनहीन होकर पाठक के सामने आता है। कवि का कवि गीत में ही साकार होता है—उसके

प्राणों में कितने प्राण हैं, यह गीत में ही पता चलेगा। तुलसीदास के प्राणों की बेताबी, उसकी आत्मा का चीत्कार, हृदय की अनुनय 'विनय पत्रिका' में बजती है 'मानस' या अन्य ग्रन्थों में नहीं। इसी प्रकार निबन्ध में भी लेखक के प्राणों का बल बोलता है, अन्य रचनाओं में नहीं।

गीत और निबन्ध, आकार में दोनों ही छोटे होते हैं। गीत में एक ही भावना और अनुभूति का आवेश प्रकट होता है। निबन्ध में भी एक विषय का सम्बद्ध वर्णन या विवेचन रहता है। विषय, मर्यादा, भावमयता की दृष्टि से भावात्मक निबन्ध तो गद्य में लिखे गये गीत ही हैं। अनेक समीक्षक तो इन भावात्मक लघु निबन्धों को 'गद्यगीत' नाम से साहित्य की एक विधा भी मान बैठे हैं। गीत और निबन्ध में समानताएँ होते हुए भी दोनों की भिन्न मर्यादाएँ हैं, भिन्न अधिकार-सीमाएँ। बाह्य स्वरूप-संगठन में भी स्पष्ट अन्तर है। गीत के विषय सीमित हैं। गीत हर विषय पर नहीं लिखे जाते। मिलन, विरह, हर्ष-विषाद, विनय-उपालम्भ आदि की अनुभूति ही अधिकतर उनमें फूटती है। शृंगार, करुण, शान्त आदि रस उनकी सीमा है। निबन्ध का अधिकार सभी विषयों पर है। उसकी मर्यादा असीम है। नगण्य से नगण्य और महान से महान विषय निबन्ध के अधिकार-क्षेत्र में हैं।

गीत में केवल गीतकार का हृदय ही बोलता है। निबन्ध में लेखक का हृदय भी बजता है और मस्तिष्क भी सचेष्ट रहता है। गीत भावात्मक ही होगा, निबन्ध के अनेक प्रकार हैं। गीत में सुकुमारता रहेगी, निबन्ध में सबलता। एक बात और भी, गीत में कवि निरावरण होकर तो आता है, पर वह अपने पाठक से निबन्धकार के समान बातचीत नहीं करता। निबन्धकार तो एक साथी के समान अपने पाठक के सामने बैठ बातें करता है। इसलिए निबन्ध में व्यक्तित्व अधिक सबल और प्रभावशाली रूप में आता है।

पत्र और निबन्ध

पत्र और निबन्ध में समानता और अन्तर बहुत बारीक है। पत्र में व्यक्तित्व स्पष्ट रूप में आता है। उसमें आपसी बातचीत का तत्त्व सर्वोपरि है। 'व्यक्तित्व' और निजीपन (पारस्परिकता) निबन्ध और पत्र दोनों में ही रहते हैं। पत्र में प्रेषक अपना हृदय खोलकर रख देता है। पाने वाले और प्रेषक का काल और स्थानगत अन्तर मिट जाता है। तो क्या पत्र को निबन्ध की संज्ञा दी जाय? कहा जा सकता है, दोनों के आकार-संगठन में मोटा भेद है। पत्र के आरम्भ में प्रशस्ती, सम्बोधन, स्थान, तिथि, और अन्त में हस्ताक्षर, सम्बंध, निवेदन रहते हैं। तब 'प्रिय रजनी' या 'मेरे मन-मंदिर के देवता' ऊपर से और 'तुम्हारे रूप का बन्दी' या 'तुम्हारी दर्शन-चातिकी' नीचे से कट जाने पर पत्र क्या निबन्ध बन जायगा?

न पत्र निबन्ध बन सकेगा और न निबन्ध पत्र। पत्र और निबन्ध, दोनों में व्यक्तित्व का प्रकाशन रहते हुए भी भेद है। निबन्ध का व्यक्ति अपने पाठक के सामने इतना निकट नहीं, जितना पत्र का व्यक्ति। पत्र के व्यक्ति और पाठक में निज का घरू रूप रहता है। पत्र दो व्यक्तियों के मध्य सम्बन्ध-साधन है—निबन्ध व्यक्ति (निबन्धकार) और व्यक्तियों (पाठकों) के बीच सम्बन्ध-साधन। निबन्धकार अपनी बात अनेक व्यक्तियों से एक साथ कहता है। निबन्धकार जो कुछ कहना चाहता है, एक से नहीं, अनेक से सम्बन्ध रखता है—निबन्ध का रूप व्यक्ति-प्रधान होते हुए भी सामाजिक अधिक है। पत्र का रूप शुद्ध रूप में निजी या व्यक्ति-प्रधान। दोनों में निरूपित विषय, विवेचित समस्याएँ, अनुभूत हर्ष-विषाद का रूप भी इसी प्रकार भिन्न होगा।

निबन्ध अधिक मर्यादाशील है। उसमें लेखक को कुछ मर्यादाओं का पालन अवश्य करना होता है—वह सामाजिक जो अधिक है। पत्र में मर्यादा और समाज-संकोच का पालन आवश्यक नहीं। पत्र दो व्यक्तियों के हृदय के ही बीच की चीज़ है। एक हृदय दूसरे के सामने निसंकोच होकर आता है। और गोपनीय या निजी पत्रों में तो बाह्य समाज-नियमों का तिरस्कार ही होता है।

विषय की दृष्टि से निबन्ध की सीमाएँ बहुत विस्तृत हैं। किसी भी विषय पर निबन्ध लिखा जा सकता है। निबन्ध की अपेक्षा पत्र की सीमाएँ सकुंचित हैं। वैसे तो पत्र भी वर्णन, विवरण, विचार और भाव की प्रधानता से पूर्ण हो सकते हैं, और अनेक विषयों पर पत्र लिखे जाते हैं; तो भी पत्र के विषय अधिकतर व्यक्तिगत समस्याओं, घरू मामलों और दैनिक जीवन के आपसी भाव-अभावों से अधिक सम्बन्ध रखते हैं। विशाल मानवता की समस्याओं और उलझनों के सम्बन्ध में भी पत्र हो सकते हैं। ऐसे पत्र निबन्ध की सीमा में प्रवेश करने लगते हैं।

स्कैच और निबन्ध

स्कैच किसी प्राणी का चरित्र और भाव-प्रधान शब्द-चित्र है। स्कैच का वर्ण्य-विषय प्राणी है, पर अब निर्जीव पदार्थों के भी स्कैच लिखे जाते हैं—वे निर्जीव भी सजीव ही मानकर। स्कैच कहानी और निबन्ध के बीच की चीज़ है। स्कैच के माता-पिता कहानी और निबन्ध हैं। स्कैच में निबन्ध-तत्त्व अधिक मात्रा में है। स्कैच में जहाँ लेखक की निजी भावात्मकता, अनुभूति और विचार का प्राधान्य हुआ, वह निबन्ध के अधिक निकट आ गया। संक्षिप्तता निबन्ध का अनिवार्य लक्षण है। निबन्ध से भी अधिक संक्षिप्तता इसमें अपेक्षित है।

स्कैच में व्यक्तित्व दो प्रकार से साकार बनता है। लेखक का व्यक्तित्व और स्कैच में चित्रित प्राणी का व्यक्तित्व। स्कैच-लेखक किसी प्राणी के चरित्र (विचार,

भावना, व्यवहार) को कितनी गहराई से समझता है, उसके हृदय में स्कैच-निहित प्राणी के लिए कितनी आवेशमय, तीव्र और स्पष्ट भावनाएँ हैं, यही वह चित्रित करता है। यही उस लेखक का व्यक्तित्व है। इस दिशा में वह निबन्धकार के पास आ जाता है—स्कैच-निबन्ध के निकट। स्कैच-निहित प्राणी का व्यक्तित्व लेखक के व्यक्तित्व पर आधारित है। स्कैच-निहित प्राणी के व्यक्तित्व का अर्थ है—उसका स्पष्ट, उभरा हुआ, अपने में पूर्ण और पुतलियों में ठहरने वाला चित्र।

समानताओं के साथ ही दोनों में अन्तर की लकीरें मोटी और साफ़ हैं। स्कैच के आधार-विषय संख्या और क्षेत्र में सीमित हैं—निबन्ध के असीमित। स्कैच का आकार भी निबन्ध की तुलना में छोटा है। निबन्ध में लेखक तटस्थ भी रह सकता है—अपना व्यक्तित्व छिपा भी सकता है। स्कैच के प्रकार भी भावात्मक और विचारात्मक दो ही हो सकते हैं—अधिकतर भावात्मक ही। स्कैच में शब्दों के अर्थ रंग बन पाठक को आनन्द देते हैं और निबन्ध में शब्दों के अर्थ नाद-लहरें बनकर पाठक को बातचीत का रस।

प्रबन्ध और निबन्ध

प्रबन्ध और निबन्ध के नाम में ही समानता नहीं, अनेक जन इनको समानार्थक भी समझते हैं—परस्पर पर्याय। दोनों में अनेक समानताएँ होते हुए भी दोनों दो भिन्न साहित्य-विधाएँ हैं। शरीर-संगठन, बाह्य स्वरूप, वर्ण्य-विषय दोनों के बहुत मिलते-जुलते हैं। कभी-कभी आकार और शैली में भी दोनों समान-रूप हो जाते हैं। पर हैं दोनों में अन्तर—वह अन्तर ही दोनों को दो भिन्न रूप प्रदान करता है। निबन्ध में व्यक्तित्व स्पष्ट उभरे हुए रूप में आता है। मोटे तौर पर व्यक्तित्व का सशक्त प्रकाशन ही निबन्ध की अपनी विशेषता है। यह व्यक्तित्व ही निबन्ध को प्राणवान शैली, भाषा-संक्षिप्तता और तीव्र प्रवाह प्रदान करता है।

प्रबन्ध में व्यक्तित्व उभरकर नहीं आता। लेखक परोक्ष रूप में उपस्थित रहकर अपनी ज्ञान-चातुरी, दृष्टि-सूक्ष्मता, प्रकाशन-पद्धति, भाषा-शैली उपस्थित करता है। प्रबन्ध-आकार में निबन्ध से दस-बीस गुना बड़ा भी हो सकता है। उसमें निबन्ध की अपेक्षा शैली शिथिल, सशक्तता कम और विद्वत्ता अधिक रहती है। निबन्ध में निजी अनुभूति और विचार का प्राधान्य रहता है और प्रबन्ध में समाज-शास्त्र, लोक-संग्रह और पुस्तकीय ज्ञान का।

एक दृष्टि से निबन्ध में लेखक अधिक स्वाधीन है और निबन्ध है एक सरल साधन। लेखक जो सोचे और अनुभव करे, लिख दे। दूसरी दृष्टि से यह कठिन है, लेखक की यदि अपनी अनुभूति तीव्र नहीं, दृष्टि पैनी नहीं, विचार मौलिक नहीं और युक्तियाँ अकाट्य नहीं, तो निबन्ध में प्राण न आयँगे, वह एक लेख बनकर ही रह

जायगा। प्रबन्ध में सरलता यह है कि लेखक के पास अपना कुछ भी न हो तो भी वह शास्त्र-संग्रह से काम चला सकता है, पर उसमें भी यदि बात की मौलिक पकड़ नहीं हुई, तो प्रबन्ध कठिन साधन बन जाता है।

दोनों के अपने अलग मर्यादा-बन्धन हैं और अलग स्वाधीन विचरण-अधिकार। दोनों के अन्तर को स्पष्ट करने के लिए बताना अलाभकर नहीं, अंग्रेज़ी शब्द 'ट्रीटाइज़' (Treatise) का पर्याय प्रबन्ध है और 'ऐस' (Essay) का निबन्ध। आजकल हिन्दी में जिन आलोचनात्मक लेखों की बाढ़ आ रही है, वे निबन्ध-कोटि में कभी नहीं आ सकते। हम उन्हें आलोचना-पत्रक, लेख या प्रबन्ध की श्रेणी में रखते हैं। उनमें बहुत कम ऐसी रचनाएँ हैं, जिनको निबन्ध कहा जा सकता है। आलोचना में भी जिन लोगों ने, जिन रचनाओं में स्वतन्त्र मान्यताएँ स्थापित की हैं—पुरानी शैली, कला-पद्धति, विचार-परम्परा के विरुद्ध आवाज़ उठाई और अपने निजी चिन्तन से नई बात पैदा की, वे रचनाएँ अवश्य निबन्ध का गौरव पा सकती हैं।

कथा और निबन्ध

उपन्यास, कहानी और निबन्ध में स्वरूप, आकार, आधार और अधिकार-सीमा के विचार से कोई समानता नहीं। समानता होने पर ही तुलना और अन्तर की व्याख्या करना उचित है। इतना अवश्य जान लेना चाहिए कि कहीं-कहीं उपन्यास और कहानी में निबन्ध के अंश बिखरे मिलेंगे। कभी-कभी कहानी या उपन्यास में लेखक तटस्थ नहीं रहता, रसभोक्ता बन जाता है। ऐसे स्थलों पर वह अपनी भावुकता उँडेल देता है। किसी स्थान, व्यक्ति या परम्परा के प्रति वह भावात्मक अनुभूतियाँ बरसा देता है। कभी वह विचारात्मक विवेचन भी करने लगता है। ऐसे स्थलों पर वह निबन्धकार का चोला पहन लेता है।[1]

उपन्यास और कहानी में अनेक स्थलों पर बड़े रसीले आकर्षक और ममतापूर्ण वर्णन और विवरण मिलते हैं। कितने ही स्थलों पर लेखक अपने व्यक्तित्व का समस्त बल समेटकर सामने आता है और वह अपने निजी विचार और हर्ष-विषाद सामने आकर उपस्थित करता है। ऐसे स्थलों पर वह निबन्ध-रचना करने लगता है। हिन्दी के किसी भी उपन्यास से ऐसे स्थल चुनकर दिये जा सकते हैं, जो सुन्दर निबन्ध-खण्ड कहला सकते हैं। उपन्यास, कहानी और निबन्ध का पारस्परिक इतना ही सम्बन्ध है, इसके अतिरिक्त तीनों परस्पर अपरिचित, उदासीन परदेसी के समान जीवन-व्याख्या और मानव-हित का आदर्श लिए साहित्य-तीर्थ के यात्री हैं।

१. The novelist is able, if he choses to supplement it by direct personal commentary and explanation. —Hudson.

कई साहित्य-सिद्धान्त-शास्त्रियों ने निबन्ध और आख्यायिका की समानता दिखाई है। कुछ ने तो नाटक और उपन्यास से उसकी तुलना (समता और अन्तर) का विवेचन कर और भी कमाल कर दिया। यह गलती हुई कैसे ? बाबू श्यामसुन्दर दास ने दोनों में विचित्र समता की खोज की; फिर क्या, पैतृक रोग की तरह नकल की अंध परम्परा चल पड़ी। 'समता' और 'तुलना' की यही खोज रही तो एक दिन समीक्षक हाथी और उपन्यास की समता बताते हुए कहेगा, "हाथी और उपन्यास समान हैं। हाथी के छः अंग—चार पैर, सूंड और पूँछ। उपन्यास के छः तत्त्व—प्लाट, पात्र, संवाद, वातावरण, शैली और उद्देश्य। उपन्यास और हाथी दोनों ही आकार में बड़े। उपन्यास में रस, हाथी में मद। उपन्यास पढ़ते हुए हम इस लोक से ऊपर उठ आनन्द-लोक में पहुँच जाते हैं। हाथी की सवारी करते हुए भी हम इस धरती से ऊपर उठ जाते हैं—हमें आनन्द आता है···" ठीक इसी प्रकार की समता निबन्ध और आख्यायिका में है। और मज़ा यह कि इन समीक्षकों ने निबन्ध के भाई-बन्धुओं—पत्र, प्रबन्ध, स्कैच—को तुलना के लिए निबन्ध के पास भी न फटकने दिया।

६

मोनतैङ् : निबन्ध का जनक

गद्य-साहित्य की सशक्त विधा, निबन्ध का जनक है मिशॅल दॅ मोनतैङ्। मोनतैङ् ने अपनी रचनाओं को 'ऐसे' (Assais) की संज्ञा दी। अंग्रेज़ी में भी 'ऐसे' (Essay) नाम इस विधा के लिए स्वीकृत हुआ। मोनतैङ् का जन्म २८ फ़रवरी, १५३३ में, बोर्दो (Bordeaux) के एक सुशिक्षित और सुसंस्कृत परिवार में हुआ। इसके पिता, पीयर ऐकम, १५४४ ई० में बोर्दो के मेयर चुने गये, इसी से उनकी लोकप्रियता का पता चलता है। मिशॅल दॅ मोनतैङ् का घर का नाम ऍकम (Eyquem) था। मोनतैङ् की प्रारम्भिक शिक्षा लैटिन में घर पर ही हुई। १३ वर्ष की अवस्था तक इसे लैटिन भाषा का अच्छा ज्ञान हो गया। घर में साहित्य, कला और संगीतमय वातावरण था। वातावरण का प्रभाव इस पर पड़ता ही। छोटी आयु में ही इसने लैटिन के तीन कवियों—(Ovide), तराँस (Terence) और वरजिल (Virgil) का अध्ययन कर लिया। इसने तुलूस (Toulouse) में क़ानून की शिक्षा समाप्त की और यहीं सरकारी वकील बना। ला बोयसी (La Boetie) से इसकी मित्रता भी यहीं हुई, जो आजीवन रही। पार्लियामेण्ट के एक सदस्य की लड़की से १५६५ में इसका विवाह हो गया। ३ वर्ष बाद इसके ससुर की मृत्यु हो गई और उसकी सम्पत्ति भी इसे मिल गई। पैतृक सम्पत्ति थी ही। आर्थिक सम्पन्नता के कारण जीवन की चिन्ताओं से मुक्ति मिली। १५७० में त्यागपत्र दे, मोनतैङ् अध्ययन में लगा। दस वर्ष के एकान्त अध्ययन के बाद १५८० में इसके दो निबन्ध-ग्रन्थ प्रकाशित हुए। इसी वर्ष इसने पैरिस, रोम, वेनिस की यात्रा की और मानव-समाज के आचार-विचार का अध्ययन किया। अनुपस्थिति में ही यह बोर्दो का मेयर भी इसी वर्ष चुना गया। यह वर्ष मोनतैङ् के जीवन में विशेष ऐतिहासिक महत्त्व रखता है। १५८५ में इसे और इसके मित्र ला बोयसी को प्लेग निकली। ला बोयसी की उसी से मृत्यु हो गई। उसकी मौत से इसे इतना धक्का लगा कि यह जीवन से विरक्त हो गया। १५८८ में इसका तीसरा निबन्ध-संग्रह निकला। इस संग्रह से मोनतैङ् को बहुत सम्मान मिला।

१३ सितम्बर, १५९२, को ५९ वर्ष की अवस्था में इसका स्वर्गवास हो गया। मोनतैङ् ने यूनानी दार्शनिकों—सॅनॅक (Seneque) और प्ल्यूतार्क (Plutarque)—का अत्यन्त गम्भीर अध्ययन किया था। उनका प्रभाव भी इस

पर उचित मात्रा में पड़ा, पर जीवन के विषय में उसके विचार निंजी, मौलिक और स्वाधीन हैं। विचार-स्वाधीनता या वैयक्तिक चिन्तन और आत्म-संयम तथा कष्ट-सहिष्णुता को यह बहुत महत्त्व देता है। इसका विचार है कि मनुष्य कभी पूर्ण 'सत्य' को नहीं पा सकता। मनुष्य के विज्ञान, तर्क, ज्ञान, दर्शन कभी मनुष्य के पूर्ण पथ-प्रदर्शक नहीं बन सकते। प्राकृतिक परिस्थितियाँ बहुत-कुछ मनुष्य का निर्माण करती हैं—उसके स्वरूप का संघटन प्रकृति ही करती है। मनुष्य कभी प्रकृति को नहीं बदल सकेगा, और न अपने अनुसार ही बना सकेगा। मोनतैङ् परोक्ष सत्ता में विश्वास रखता है। स्वाधीन चिन्तक होते हुए भी वह नैतिक नियमों का समर्थक है—पूर्व विश्वासों, आस्थाओं और आचारों के महत्त्व को वह स्वीकार करता है। पसकाल (Pascal) नामक विचारक ने मोनतैङ् के विचारों की आलोचना की। वह उससे सहमत नहीं। पर उन्नीसवीं शताब्दी के बुद्धिवादियों ने मोनतैङ् की बहुत प्रशंसा की है। वे कहते हैं, मोनतैङ् ने प्राचीन विचारों का सार जनसाधारण की भाषा में प्रस्तुत किया। साथ ही एक अत्यन्त प्रौढ़ मूल्यांकन भी उसकी रचनाओं में है। बीसवीं शताब्दी के विचारक भी मोनतैङ् का महत्त्व मुक्त कण्ठ से स्वीकार करते हैं। कोई-काई तो उसकी रचनाओं को पाश्चात्यवाद की बाइबिल और वर्तमान का दर्पण तक कहते हैं।

सन् १५७१ से १५८० तक मोनतैङ् अपने महल में एकान्त-सेवन करता रहा। उसने इस काल में मिलना-जुलना प्रायः बन्द रखा। वह गहन चिन्तन और विस्तृत अध्ययन में डूबा रहा। कभी पढ़ना बिलकल बन्द कर देता और विचारों में डूबा रहता, तो कभी अध्ययन में लग जाता और कभी सब काम बन्द कर लिखने लग जाता। दस वर्ष तक यही क्रम रहा और इसी बीच मोनतैङ् के निबन्धकार का उदय हुआ। इस दस वर्ष के समय में उसने दो निबन्ध-ग्रन्थ रचे। इन ग्रन्थों में संकलित निबन्धों में विचार-परम्परा की सम्बद्धता कम है, विचारों की स्वतन्त्र दौड़ अधिक। पर सामञ्जस्य और सम्बद्धता का तार इन विचारों में है अवश्य। लगता है, लिखने से पूर्व मोनतैङ् के मस्तिष्क में निबन्ध के स्वरूप-संघटन और विचार-सम्बन्ध की कोई योजना नहीं रहती थी। कभी-कभी ऐसा भी लगता है कि कोई आदर्श या उद्देश्य भी उसके सामने नहीं, जिससे प्रेरित हो वह लिखता हो। स्वतन्त्र विचारों की जो बाढ़ उसके मस्तिष्क में उमड़ती, वह अपनी रचना में उँडेल देता। उद्धरण, कथा-प्रसंग, उदाहरण आदि से उनको सजा देता। अनेक घटनाओं, कथाओं, विचारों आदि की तुलनात्मक विवेचना करके अपनी सम्मति भी देता। अपनी बात कहने में न कोई दुराव रखता, न आडम्बर। निज को अधिक-से-अधिक स्पष्ट सीधे और सशक्त रूप में प्रकट करता। एक बार लिखकर उसे अनेक बार पढ़ता। वह उसे संशोधित,

परिवर्द्धित, परिवर्तित और संक्षिप्त भी करता। पहली दो पुस्तकों में विचारों की प्रौढ़ता कम है। १५८० के बाद की रचनाओं में प्रौढ़ता, गहनता और सबल व्यक्तित्व है। अपनी रचनाओं के विषय में उसने अनेक स्थलों पर कहा है कि मेरी रचनाओं में आप (पाठक) मुझे प्राकृत, अकृतिम और यथार्थ रूप में देख सकते हैं। मैंने इनमें निज को ही चित्रित किया है। मेरा व्यक्तित्व ही इनका उद्देश्य है। मैंने अपने यथार्थ निज को उपस्थित करने का प्रयास किया है। संसार के मनुष्य एक-दूसरे को देखते हैं, पर मैं अपने में झाँकता हूँ। अन्य लोगों से मुझे कोई प्रयोजन नहीं। वॉलतेअर ने मोनतैङ् के विषय में कहा है—'अपने को चित्रित करते हुए वह मानव-स्वभाव को ही चित्रित करता है। इसके निबन्धों में व्यक्तित्व मिलता है।" एक बार विक्टर ह्यगो ने अपने विषय में कहा था—"वह बुद्धिहीन है, जो यह समझता है कि मैं तुम नहीं।" यह बात वॉलतेअर के शब्दों में मोनतैङ् पर भी घटती है।

मोनतैङ् के निबन्धों के विषय विभिन्न हैं। स्पष्ट है, जन्म लेते ही निबन्ध ने सभी विषयों को अपनी सीमा में बाँध लिया। पहली पुस्तक का आठवाँ निबन्ध 'आलस', नवाँ 'झूठे', उन्नीसवाँ 'मरने की कला', पच्चीसवाँ 'शिक्षु-शिक्षा', सत्ताईसवाँ 'मित्रता', तीसवाँ 'मानवभक्षी' है। 'मरने की कला' शैली, विचार, अभिव्यंजना और जीवन-दर्शन के विचार से महत्त्वपूर्ण है। सत्ताईसवें में इसने अपने मित्र ला बोयसी के विषय में भी कहा है। चौबीसवें निबन्ध में इसने 'अहं' और पाण्डित्याभिमान (Padenticism) के विषय में अपने विचार दिये हैं। दूसरी पुस्तक का दूसरा, 'नशे' के विषय में है। इसमें उसने अपने पिता की नशेबाज़ी की ओर भी संकेत किया है। दसवाँ, सत्रहवाँ और बत्तीसवाँ निबन्ध महत्त्वपूर्ण है। बत्तीसवें निबन्ध में सेनेक और प्ल्यूतार्क के दार्शनिक विचारों का समर्थन किया गया है। तीसरी पुस्तक मोनतैङ् की मृत्यु के बाद सन् १५९५ में प्रकाशित हुई। इसमें मोनतैङ् के विचार अधिक प्रौढ़, व्यक्तित्व अधिक सबल, अभिव्यंजना अधिक सशक्त और भाषा-शैली अधिक कसी हुई है। इसका आठवाँ, नवाँ और तेरहवाँ निबन्ध अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। पहले में व्याख्यान-कला, बातचीत, वक्तृता, बाह्य प्रदर्शन (Vanity) और 'औचित्य' (Expedience) का विवेचन किया गया है। जीवन के प्रति आशावादी दृष्टिकोण और ईश्वर में अडिग आस्था का पता भी इस रचना से चलता है। दूसरे में ईमानदारी (Sincerity) के विषय में लिखता है और मनुष्य की सूखी व्यावहारिकता पर दुःख प्रकट करता है। तीसरे निबन्ध में 'तीन व्यवसाय' पर लिखा गया है और मोनतैङ् के पुस्तकालय आदि का वर्णन भी इसमें है। लेखक का चरित्र भी इसमें चित्रित हुआ है।

१०

अंग्रेज़ी निबन्ध

अंग्रेज़ी-भाषा में निबन्ध का जन्म ईसा की सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में हुआ। मोनतैङ् के निबन्ध-ग्रन्थों के प्रकाशन से सम्भवतः २० वर्ष बाद अंग्रेज़ी में बेंकन के निबन्ध प्रकाशित हुए। बेकन के पश्चात् तो वहाँ निबन्ध की अबाध परम्परा चल पड़ी। अंग्रेज़ी-साहित्य में निबन्ध-साहित्य की एक सम्पन्न, स्वाधीन और सशक्त विधा मानी जाती है। गद्य कहने से वहाँ अधिकतर निबन्ध का बोध होता है। गद्य-शैली की कसौटी एक प्रकार से निबन्ध ही बन गया है। शैली और आत्मप्रकाशन के रूप में अंग्रेज़ी-निबन्धकारों का व्यक्तित्व भी अत्यन्त विकसित और चमकीला है। अंग्रेज़ी से हिन्दी को पर्याप्त प्रेरणा भी मिली है। तब कुछ निबन्धकारों से परिचय प्राप्त करना हिन्दी-साहित्य के विद्यार्थी को हितकर ही होगा।

फ्रेंसिस बेकन

अंग्रेज़ी-निबन्ध का प्रवर्तक है फ्रेंसिस बेकन, मोनतैङ् के जन्म से २८ वर्ष बाद इसका जन्म (१५६१ ई०) और ३४ वर्ष बाद देहान्त (१६२६ ई०) में हुआ। दोनों के समय में इतना अन्तर नहीं, जितना निबन्ध के स्वरूप और शैली में। मोनतैङ् के समान न तो इसमें निज का प्रकाशन है, न विषय का फैलाव। मोनतैङ् में विषयान्तर भी बहुत है, इसमें अत्यन्त कसी हुई मर्यादाएँ। निबन्ध को बेकन ने विचार-प्रकाशन का साधन बनाया। बेकन अपने निबन्धों में स्वयं उपस्थित नहीं रहता।

बेकन के सभी निबन्ध विचारात्मक हैं। विचारक दार्शनिक के रूप या उसका सबल और सशक्त व्यक्तित्व सामने आता है; पर आत्मीयता, ममता, आत्मप्रकाशन या निज की उपस्थिति के रूप में नहीं। बेकन के जितने भी निबन्ध हैं, वे अधिकतर उसके दार्शनिक विचारों, जीवन के यथार्थ अनुभवों और पथ-निर्देशों के ही पूरक हैं। दार्शनिक के रूप में वह मैकीवली से प्रभावित है। अल्पतम शब्दों में अधिकतम विचार इसी के निबन्ध उपस्थित करते हैं। भाषा सादी-सरल; पर विचारों की गहनता, सघनता और व्याप्ति के कारण शब्दों का ऐसा उपर्युक्त चुनाव कितने लेखक कर पाते हैं? मुहावरों और कहावतों की छटा भाषा को चलता, चुस्त और धरू रूप प्रदान करती है। लैटिन का प्रभाव स्पष्ट है; अनेक लैटिन शब्दों और कहावतों का प्रयोग इसके निबन्धों में रहता है। इसकी शैली व्यंजनात्मक और समासात्मक है, भाषा में गजब का कसाव पाया जाता है। उदाहरण, अवतरण,

चित्रात्मकता और कल्पना की प्रधानता शैली की अन्य विशेषताएँ हैं। बेकन की शैली का रूप यदि हिन्दी-निबन्धों में तलाश किया जाय तो थोड़ा-बहुत वह शुक्लजी और जैनेन्द्र जी के निबन्धों में मिल जायगा। शैली, विचार, विषय आदि के लिए, 'Of Great Place', 'Of Studies', 'Of Delays', 'On Plantations' आदि निबन्ध पढ़े जा सकते हैं।

जॉन अर्ल

सत्रहवीं शताब्दी के निबन्धकारों में अर्ल भी विशेष स्थान रखता है। इसकी रचनाओं में निबन्ध अपने अधिक स्वाधीन स्वरूप को लेकर आया। इसके निबन्धों में सुरुचिपूर्ण आकर्षण, मनोरंजन और विचार का आनुपातिक मिश्रण है। आरम्भ में यह विषय की परिभाषा-सी दे देता है। भाषा चलती, मँजी और बोधगम्य है। छोटे-छोटे वाक्य और गठन में कसाव इसकी शैली की विशेषता है। कहीं-कहीं चुभीला व्यंग्य भी रहता है। कल्पना की बारीकी और उड़ान भी देखने को मिलती है। निबन्ध का अन्त प्रायः किसी चुटकुले या पहेली से होता है। इसके निबन्धों में व्यक्तित्व अधिक सबल या स्पष्ट होकर नहीं आता। 'A Pretender to Learning', 'A Young Man', 'A Plodding Student', जॉन अर्ल के बहुत अच्छे निबन्ध हैं। इनमें इसकी रचना-कुशलता और भाषा-शैली की सभी विशेषताएँ देखी जा सकती हैं। यह चरित्र-चित्र भी बहुत सफलता से लिखता था। 'A Dull Philosopher' इसका प्रसिद्ध चरित्र-चित्र है।

जौसेफ़ एडीसन

एडीसन कलावादी स्कूल का नहीं; सुधारवादी का अनुगामी था। इसके निबन्धों में न तो व्यक्तित्व की मस्ती मिलेगी और न परम्परा के प्रति चुनौती। स्वाधीन व्यक्तित्व तब कहाँ उभरेगा? समाज के नैतिक और दैनिक शील को सुधारने के लिए इसने अपने निबन्धों को साधन बनाया। जहाँ भी जीवन में शील और सौन्दर्य का अभाव इसने देखा; उसका विरोध किया।[१] शैली में सरलता, सुबोधता, स्पष्टता और स्वच्छता मिलेगी। विभिन्नता, सशक्तता और रंगीनी का अभाव है। भाषा में विचारात्मकता तो मिलेगी; पर गतिशीलता नहीं। शब्दावली के चुनाव में इसकी तीक्ष्ण प्रतिभा का पता चलता है। जॉसेफ़ एडीसन ने अंग्रेज़ी गद्य को शब्दाडम्बर और आलंकारिकता की अस्वाभाविकता से बचाया। कहीं-कहीं इसके निबन्धों में हास-विनोद की पुट भी रहती है, कहीं-कहीं स्वस्थ और सबल व्यंग्य भी। अंग्रेज़ी गद्य में

१. In short if I meet with anything in city, court or country, that shakes madesty of good manners, I shall use my utmost endeavours to make an example of it. —Addison.

एडीसन का ऐतिहासिक महत्त्व है। 'स्पेक्टेटर' में यह लिखा करता था। इस पत्र में एडीसन ने बहुत अच्छे सफल चरित्र-चित्र लिखे। इसके चरित्र-लेखन ने आने वाले अनेक उपन्यासकारों को रास्ता दिखाया।

'The vision of Mirza', 'The heart of a Coquette', 'Exercise of a fan' आदि निबन्धों में एडीसन की लेखन-कला देखी जा सकती है।

ऑलिवर गोल्डस्मिथ

अंग्रेज़ी गद्य को शैली प्रदान करने वाले कलाकारों में गोल्डस्मिथ का नाम भुलाया नहीं जा सकता। यह कवि, उपन्यासकार और नाटककार के साथ निबन्धकार भी बहुत अच्छा था। स्वभाव से अलमस्त, लापरवाह और अपव्ययी और विचारों में अपना ही जीवन-दर्शन लिये हुए। प्राकृत सीधे सादे जीवन का हिमायती था। तात्कालिक इंग्लैण्ड के समाज और शील पर इसने करारा व्यंग्य किया। मानव-स्वभाव के प्रति इसकी रचनाओं में गहरी सहानुभूति मिलती है। गोल्डस्मिथ का स्थान अंग्रेज़ी गद्य के प्रसिद्ध शैलीकारों में लिया जाता है। इसकी शैली बोधगम्य और सुरुचि-सम्पन्न है। भाषा की सार्थकता और स्वच्छता भी इसकी रचनाओं में मिलेगी। उसके निबन्ध भी अधिकतर वैयक्तिक या आत्मपरक वर्ग में आते हैं। इसके निबन्धों में इसका जादू भरा व्यक्तित्व ही है, जो पाठक को मुग्ध करता है। विनोदपूर्ण व्यंग्य इसकी शैली की मुख्य विशेषता है। व्यंग्य में गहराई कम हीं मिलेगी पर व्यंग्य होगा बड़ा सुरुचिपूर्ण, सांस्कृतिक और चमकता हुआ। राष्ट्रीयता की संकुचित चारदीवारी में उसका मन नहीं टिकता—दृष्टिकोण में अन्तर्राष्ट्रीय विचारों का विश्वासी है। 'The Citizen of the world' इसका निबन्ध संग्रह है।

चार्ल्स लैम्ब

लैम्ब ने अंग्रेज़ी निबन्ध को नई दिशा दी। इससे पूर्व अधिकतर निबन्धकार निज को अपनी कला-कृति से प्रथक ही रखते रहे। लैम्ब ने अँग्रेज़ी में वैयक्तिक या आत्मपरक निबन्ध का आदर्श उपस्थित किया। इसकी रचनाओं से अंग्रेज़ी निबन्ध समृद्ध बना—विश्व-साहित्य के लिये भा ये अमर देन हैं। इसके निबन्धों में व्यक्तित्व ने अत्यन्त स्पष्ट और स्वस्थ आकार ग्रहण किया। लैम्ब कहता तो अपने विषय में है; पर वह आत्म-प्रकाशन या निज का निरूपण विश्व की सहानुभूति, संवेदना और ममता का उपभोग करता है। आत्मीयता, अनुभूति और निज के अनुभव की पूँजी इसके निबन्धों की जान है। लन्दन में ही, आर्थिक अभावों से पीड़ित जीवन बीता। शारीरिक रूप में भी इसे दुख ही भोगना पड़ा। जीवन की

निर्दय परिस्थितियों ने इसके साहित्य का निर्माण किया। करुणा की अजस्र धारा और हास्य-व्यंग्य की बौछार—दोनों ही इसके निबन्धों में मिलेंगी; पर करुणा का अधिकार अन्य तत्त्वों के ऊपर है।

लैम्ब ने अंग्रेज़ी गद्य को काव्यमय माधुर्य और कल्पनामय रंगीनी दी। रोमांटिक युग की सभी विशेषताएँ इसके गद्य में मिलेंगी। संगीतात्मकता और सौन्दर्य इसके गद्य की विशेषताएँ हैं। शैली भावात्मकता की स्निग्धता और कथन की मौलिकता से भरपूर है। रूपक, उपमा और विरोधाभास से अपने कथन को प्रकाशन देने की ओर झुकाव लैम्ब में है। कल्पना तत्त्व की कहीं-कहीं इतनी प्रधानता मिलेगी कि भावों को समझने के लिए ऊहा का सहारा लेना पड़ेगा। इसके निबन्धों में एक विशेष तन्मयता मिलती है। लगता है, लेखक आनन्दविभोर हो रहा है—पाठक को भी उस रस में डुबा देना चाहता है। कथन में चमक, आकर्षण और घरूपन भी है। कहीं-कहीं शैली और प्रकार में कथात्मकता भी रहती है। अनेक निबन्ध संस्मरण की कोटि में आते हैं। कला और भाव दोनों की परख पर लैम्ब के निबन्ध सर्वश्रेष्ठ कला-रचना के नमूने हैं। विस्तार और विवरण की पूर्णता भी इसके निबन्धों में मिलेगी।

'Dream children', 'Poor relations', 'The old and new school master', 'Rosted pig', 'Grace before meat', 'The super annuited man', इसके श्रेष्ठ निबन्ध हैं।

विलियम हैज़लेट

हैज़लेट के निबन्धों में कल्पना और यथार्थ का सुन्दर सामञ्जस्य है। महाकवि वर्ड्स्वर्थ के समान इसने भी प्रकृति में प्राणों का अनुभव किया। इसके हृदय में भी प्रकृति के लिए उमड़ता हुआ प्रेम पाया जाता है। प्रकृति की भाषा में इसने भाव और भावनाएँ, वृत्तियाँ और प्रवृत्तियाँ सजग रूप में देखीं। इसकी रचनाओं में विचित्रता और मौलिकता मिलेगी। शैली, विषय-निरूपण, आत्म-चिन्तन, हृदय-आकर्षण आदि के रूप में, व्यक्तित्व ने इसकी रचनाओं में आकार पाया। निजात्मकता ने इसकी रचनाओं को स्वरूप और शक्ति दी। असामान्यता भी इनमें मिलेगी। शैली के रूप में यह खूब सजग और सशक्त है। रंगीन शब्दावली और चित्रात्मकता की छटा रचना को और भी मनोहर बना देती है। शब्दों में गतिशीलता है तथा उनका चुनाव उपयुक्त और सार्थक। उद्धरण-बहुलता भी मिलेगी। हैज़लेट रोमांटिक और रेनेसाँ-स्कूल की बीच की कड़ी है। आलोचकों के द्वारा इसे प्रशंसा और अप्रशंसा दोनों ही प्राप्त हुईं। स्टीवनसन ने एक बार इसके एक निबन्ध 'Going on a journey' की प्रशंसा में कहा था, जिसने यह नहीं पढ़ा, उस पर जुर्माना होना

चाहिए । 'Ignorance of the learned', 'On going a journey' 'On the love of the country' आदि निबन्ध पढ़न लायक हैं ।

वर्ड्स्वर्थ, कालरिज, बायरन, स्कॉट आदि पर भी इसने आलोचनात्मक निबन्ध लिखे । 'Spirit of age' इसकी निबन्ध-पुस्तक है

मैथ्यु अर्नॉल्ड

अर्नॉल्ड नैतिकतावादी विचारधारा का सबल समर्थक और प्रस्थापक था । अपने निबन्धों द्वारा इसने साहित्य-सिद्धान्तों की समीक्षा की । साहित्य को नैतिकता से सम्बद्ध करने का प्रयत्न किया । संस्कृति के सम्बन्ध में भी अपने विचार दिये । आध्यात्मिक विषयों पर भी लिखा । महत्त्वाकांक्षियों की इसने बड़ी खिल्ली उड़ाई । चुभने वाला व्यंग्य, देखने में जो शीतल और मधुर लगे; पर घाव गहरा करे, इसकी रचनाओं में मिलेगा । असुन्दर, भौंड़े और असंस्कृत पदार्थों पर इसने विनाशक मज़ाक किया है । शैली सुबोध और प्रसाद-पूर्ण है । अनेक बार यह वाक्यों को दोहरा भी देता है । शैली को प्रभावशाली और अभिव्यंजना को स्पष्ट बनाने के लिए प्राचीन उद्धरण और आप्तवाक्यों का भी प्रयोग इसकी रचना में रहता है । विशेषणों का चुनाव करने में अर्नॉल्ड अद्वितीय है । इसके गद्य में नाद-सौन्दर्य और संगीत भी मिलेगा । 'Culture and Anarchy' नामक पुस्तक में इसने अपने संस्कृति, साहित्य और कला-सम्बन्धी विचार दिये हैं । अपने युग का यह प्रसिद्ध कला-पारखी था । इसके कुछ निबन्ध हैं—'Sweetness and light', 'On poetry', 'Heine', 'On acadamies', 'Sheley' । इनमें इसकी रचना-कुशलता की पूर्ण परख की जा सकती है ।

टॉमस हैनरी हक्सले

टॉमस हैनरी हक्सले ने वैज्ञानिक विषयों पर सरल सुबोध शैली में निबन्ध लिखे । अपने समय में वैज्ञानिक विषयों को जनता में प्रिय इसी ने बनाया । डार्विन के विकासवाद के सिद्धान्त का प्रचार भी इसने किया । इसकी भाषा-शैली में स्वच्छता, सुबोधता और स्पष्टता रहती है । अन्य सामान्य विषयों पर भी इसने कुछ निबन्ध लिखे । सामान्य विषयों पर की गई रचनाओं में इसका निबन्धकार अधिक स्पष्ट व्यक्तित्व लेकर आया । 'Time and life'; 'On a piece of chalk', 'Liberal education', 'De Cartes discourse' इसके प्रसिद्ध निबन्ध हैं ।

बर्ट्रैण्ड रसल

रसल विश्व-विख्यात दार्शनिक है । स्पष्ट है, इसके निबन्ध विचार-प्रधान हैं । विराग-प्रधान बुद्धिवाद इसकी अधिकतर रचनाओं की आन्तरिक वृत्ति है । जीवन और

जगत की समस्याओं का हल यह यथार्थवाद में खोजता है। अपने विचारों का प्रतिपादन विज्ञान और इतिहास के समर्थन का सहारा लेकर करता है। अपने उद्देश्य को कभी भी रहस्यपूर्ण ढँग में नहीं रखता, स्पष्ट और सीधा पाठकों के सामने उपस्थित करता है। विषय की परिभाषा देकर उसे अत्यन्त सरल और सुबोध शैली में समझाता है। प्रमाण, तर्क, युक्ति, कारण-कार्य-सम्बन्ध आदि के सहारे यह निश्चित परिणाम पर पहुँचता है। विषय का विश्लेषण अत्यन्त स्वच्छ और सुबोध रूप में इसकी रचनाओं में मिलेगा। रसल प्रजातंत्रवादी उदार विचारक है—दूसरों के विचारों का सम्मान भी यह करता है; प्रतिभावान के प्रति इसका पूजाभाव रहता है। रसल की शैली अत्यन्त सरल और स्वच्छ है। न वाक्यों की बनावट में उलझन और न भावों में तनिक भी अस्पष्टता और दुर्बोधता। अलंकारों का प्रायः अभाव और सरल अर्थ गर्भित शब्दों का चुनाव शैली की निजी विशेषता है। बात को स्पष्ट और बोधगम्य बनाने के लिए तुलनात्मकता, दृष्टान्त, उदाहरण आदि का उपयोग भी यह करता है। अभिव्यंजना में अनुरोध मिलेगा। विनोद, हास्य, व्यंग्य का पुट भी रहता है। रसल की रचनाएँ बौद्धिक चेतना को उत्तेजित करन वाली हैं।

जहाँ तक विचारों का प्रश्न है, यह गोरी जातियों के प्रभुत्व का समर्थक है—उनकी विशेष प्रतिभा-सम्पन्नता का विश्वासी। प्रगतिशीलता का प्रबल विरोधी है। इसका दर्शन प्राचीन राजतंत्र की छाया में पनपने वाले दर्शन के ढँग का है। रंगीन जातियों को गोरियों से नीच यह मानता है। और इन दिनों तो अमरीकनवाद के प्रचारक के रूप में ही यह अधिक प्रकट हा रहा है। विश्व-शान्ति और विश्व-सरकार के विषय में इसने जो विचार प्रकट किये हैं, वे भी अमरीकनवाद के ही समर्थक हैं। इसके विचारों से प्रगतिशील मानवता की समानता में विश्वास करने वाले सहमत नहीं हो सकते। इसके विचारों और विषय-विवेचन आदि के लिए ये निबन्ध अवश्य पढ़ने चाहिएँ—'Western civilization', 'The role of individuality', 'The ancestry of facism', 'The place of science in a liberal education', 'Why I hate communism ?'

जी० के० चैस्टरटन

चैस्टरटन आधुनिक अंग्रेजी गद्य-लेखकों में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। यह उपन्यासकार, कहानी-लेखक, आलोचक और निबन्धकार—सभी कुछ है। इसके निबन्धों में सामान्य-सहज बुद्धि वैभव, जॉनसन के समान वयोवृद्ध समझदारी और बर्नर्डशा के समान वाक्चातुरी मिलेगी। विनोदी चुटखियाँ और चमकता व्यंग्य इसकी रचना को और भी प्राणवान बना देते हैं। मौलिक और अभिनव विचारों से इसकी

रचनाएँ सम्पन्न हैं। साधारण से विषय में यह अपनी प्रतिभा-तूलिका से वह रंग भरता है, कि चमक उठे। प्रत्येक विषय पर अपने निजी दृष्टिकोण से विचार करता है। अभिव्यंजना का ढँग पाठक को मुग्ध कर देता है। इसकी रचनाएँ ऊपर से देखने में अगम्भीर परिहासात्मक लगती हैं; पर उनकी तह तक पहुँचने पर वे गम्भीर प्रयोजन और अर्थ से पूर्ण मिलेंगी। व्यक्तित्व का आभास इसकी प्रत्येक रचना में मिलेगा। यह अंग्रेज़ी में 'Prince of Paradox' विरोधाभास-सम्राट कहलाता है। विक्टोरियन युग के विख्यात लेखकों पर इसने आलोचनाएँ भी लिखी। इसके कुछ निबन्ध ये हैं—'On running after one's hat', 'A defence of nonsense', 'Little birds, who wo'nt sing'।

रॉवर्ट लिण्ड

आधुनिक निबन्ध लेखकों में लिण्ड का नाम बड़े गौरव से लिया जाता है। यह समाजवादी लेखक है। अपने सिद्धान्तों के विषय में यह कभी किसी से समझौता नहीं करता, पर दूसरों के विचारों का विरोध पूरी आस्था और सबलता से करते हुए भी उसकी भावना को चोट नहीं पहुँचाता। इसकी रचनाओं में इसका अत्यन्त सहानुभूतिशील और आत्मीयतापूर्ण व्यक्तित्व मिलता है। यह अपने पाठक से बातें करता है—उस पर अपनी विद्वता का आतंक नहीं डालता। हास्य-विनोद का समावेश जहाँ-तहाँ इसकी रचनाओं में रहता है। व्यक्तित्व का सौन्दर्य और आकर्षण इसके निबन्धों को सर्वप्रिय बनाता है। अन्य के विचारों की आलोचना भी यह करता है। एच० जी० वेल्स के विचारों की इसने खूब आलोचना की है। इसके निबन्ध जीवन के विषय में चालू समीक्षाएँ उपस्थित करते हैं। 'In defence of silly people','The innocence of Sheley', 'Words and their use', 'The religious back ground of literature', 'Eggs, an easter homily', 'Poetry versus prose', 'The bounds of decency' आदि निबन्धों में लिण्ड की विषय-विभिन्नता, भाषा-शैली और विवेचन-पद्धति की परख की जा सकती है।

ऑलडोस हक्सले

हक्सले अपनी रचनाओं में आत्म-चिन्तक के रूप में आता है। मानसिक विरक्ति की भी झलक मिलती है। इसकी रचनाओं में भावात्मकता नहीं मिलेगी। इसके अधिकतर निबन्ध वैज्ञानिक और सांस्कृतिक विचार-विवेचन के श्रेष्ठ नमूने हैं। विषय-विवेचन और विचार-प्रतिपादन में पाण्डित्य और गाम्भीर्य रहता है। विचारों का समन्वय नहीं, विश्लेषण इसकी रचनाओं की विशेषता है। इसके रूपक मौलिक और अभिव्यंजना को स्पष्ट और सबल बनाते हैं। अर्नाल्ड के समान वाक्यों और विचारों की

पुनरावृत्ति भी इसके निबन्धों में मिलेगी। अपने व्यक्तित्व को पृथक् रखता है और कहीं-कहीं व्यंग्य का उपयोग भी करता है। 'Words and behaviour' उसका एक प्रसिद्ध निबन्ध है। 'Jesting Pilot' उसका निबन्ध-संग्रह है।

इनके सिवा अनेक निबन्धकार हैं, जिनको किसी प्रकार भी छोड़ा नहीं जा सकता। स्टीवनसन, डीक्विन्सी, जॉनसन, रस्किन, मैकाले, लीहण्ड, लिटन स्ट्रैंची, जॉन स्टुअर्ट मिल आदि ने भी अंग्रेज़ी निबन्ध के विकास में बहुत-कुछ भेंट किया है।

११

काल-विभाजन

हिन्दी-निबन्ध-साहित्य के हमने चार युग माने हैं। इतिहास और विकास के विचार से यह विभाजन अत्यन्त स्वाभाविक और सार्थक है। इससे निबन्ध-साहित्य का समीक्षात्मक अध्ययन सुबोध हो जायगा। सशक्त व्यापक और प्रभावशाली व्यक्तित्व और युग-प्रवृत्ति युग-निर्माण करते हैं। कभी युग-प्रवृत्ति में व्यक्ति समा जायगा, कभी व्यक्ति युग-प्रवृत्तियों का निर्माण करेगा—उन्हें दिशा देगा और प्रेरित करेगा। जिस काल में जो प्रकाशपिण्ड बने, उसी के नाम पर युग-निर्माण होगा। यह विभाजन केवल निबन्ध को ही इकाई मानकर नहीं किया गया, इकाई तो साहित्य है—सम्पूर्ण साहित्य। इतिहास की एकता के लिये भी यह विभाजन मुझे स्वीकार है। मतलब—साहित्य के किसी अंग का यदि काल-विभाजन की दृष्टि से विवेचन किया जाय, तो इसी रूप में।

प्रथम तीन—भारतेन्दु, द्विवेदी, प्रसाद-युग व्यक्तियों के नाम पर हैं। हिन्दी-साहित्य के इतिहास के प्रथम तीन—वीरगाथा, भक्ति और रीति-कालों के समान, गद्यकाल में कभी ऐसी विचारधारा या साहित्यिकवाद का प्रभाव नहीं रहा, जो समस्त साहित्य की प्रेरणा बन, उसे गति दे—उस पर छा जाय। किसी प्रवृत्ति के नाम पर इन युगों—कालविभागों—का नाम नहीं रखा जा सकता। इन तीन समय-विभागों में व्यक्तित्व ही व्यापक, सबल और प्रभावशाली होकर आया। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र अपने जीवन-काल में साहित्य की सभी हलचलों के प्राण रहे। मृत्यु के पश्चात् बीस वर्ष तक भारतेन्दु की प्रेरणा ही हिन्दी-साहित्य को गति देती रही। भारतेन्दु-काल १९३० से १९६० विक्रमी तक माना जा सकता है। इस युग का आरम्भ भारतेन्दु के प्रथम मौलिक नाटक 'वैदिकी हिन्सा, हिन्सा न भवति' से होता है। इसी वर्ष भारतेन्दुजी ने 'हरिश्चन्द्र मैगज़ीन,' जो आठ संख्याओं के बाद 'हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका' बन गई, प्रकाशित की। इसी समय से हिन्दी स्थायी और प्रौढ़ स्वरूप में आई। भारतेन्दु जी ने 'काल-चक्र' पुस्तक में लिखा है, 'हिन्दी नई चाल में ढली, सन् १८७३ ई०।'

इस समय भारतेन्दु २३ वर्ष के थे। उनकी प्रतिभा साहित्य-लक्ष्मी के रूप में अभिषिक्त भी हो चुकी थी। इसके बाद तो वह अपने जीवनकाल में साकार साहित्य के रूप में पूजे जाते रहे।

द्विवेदी-युग संवत् १९६० से १९८० तक माना जा सकता है। पंडित महावीर

प्रसाद द्विवेदी ने 'सरस्वती' का सम्पादन-कार्य संवत् १९६० में सँभाला । इस घटना का ऐतिहासिक मूल्य है । यहीं से हिन्दी में नवीन युग का आरम्भ हुआ । 'सरस्वती' के द्वारा ही द्विवेदी जी ने साहित्य की गति को नवीन दिशा की ओर मोड़ा—नवीन प्रकाश भी दिखाया । इन्होंने अनेक लेखक निर्मित किये—अनेक लेखकों को प्रकाश में लाये । हरिश्चन्द्र-मण्डल के समान, हिन्दी-लेखकों का, एक द्विवेदी-मण्डल भी बन गया । 'सरस्वती' के सम्पादन-काल में द्विवेदी जी ही हिन्दी-साहित्य को अनुप्राणित करते रहे । यह नहीं कि द्विवेदी जी अपने काल के सबसे महान् आलोचक या निबन्धकार हों । विद्वत्ता में भी पंडित पद्मसिंह शर्मा का नाम इनसे आगे लिया जा सकता है । पर द्विवेदी जी की व्यापकता, निर्माण-शक्ति, बहुमुखी सेवा और प्रेरणा ही सबसे आगे रही—अन्य कोई भी विद्वान् इस रूप में न आ सका ।

'प्रसाद' का उदय हिन्दी-साहित्य में नया प्रभात लाया । द्विवेदी-युग के अन्तिम पहरों में साहित्य नवीन जागरण की अँगड़ाई लेने लगा । समाज तेज़ी से बदल रहा था । राजनीतिक बेचैनी करवटें ले रही थी । साहित्य की आत्मा में नवीन प्राण उमड़ रहे थे । 'प्रसाद-युग' १९८० से २००० तक माना जा सकता है । वैसे तो 'प्रसाद' की प्रथम कहानी 'ग्राम' १९६८ और प्रथम नाटिका 'सज्जन' संवत १९६७ में निकल चुकी थी, पर 'प्रसाद' जी की व्यापकता का आरम्भ 'अजातशत्रु' के प्रकाशन (संवत् १९७९) से ही होता है । इसी के आस-पास इनकी रहस्यवादी कविताएँ भी प्रकाश में आ चुकी थीं । संवत १९८० के आस-पास 'प्रसाद' जी एक सशक्त प्रेरक सर्वतोमुखी प्रतिभा के रूप में मान्य हो चुके थे । इनका प्रभाव और प्रेरणा बीस वर्ष तक हिन्दी-कलाकारों को अभिभूत करती रही ।

संवत २००० जन्मते ही नई उथल-पुथल लाया । दूसरा विश्व-युद्ध चल रहा था । भारत राजनीतिक दासता की बेड़ियाँ तोड़ने के लिए छटपटा रहा था । 'भारत छोड़ो' आन्दोलन ज़ोरों पर था । मार्क्सवादी विचारों का देश में पहले ही से स्वागत हो रहा था, इस समय और भी खुले रूप में रूस का प्रचार होने लगा । जनता और लेखक दोनों के विचारों में क्रान्ति आने लगी । साहित्य नई दिशा की ओर बढ़ चला—इस नवीन प्रवृत्ति को प्रगतिवाद की संज्ञा दी गई । २००० से प्रगतिवाद-युग आता है । 'प्रसाद' के पश्चात साहित्य का प्रेरक कोई सशक्त महान व्यक्तित्व उदित नहीं हुआ । प्रगतिशील विचाराधारा ही साहित्य को अनुप्राणित करती रही । इसलिये इस युग को, व्यक्ति-प्रधान नहीं, प्रवृत्ति-प्रधान नाम दिया जायगा ।

आधुनिक साहित्य-विकास के हमने यही चार युग माने हैं । निबन्ध के उदय से आज तक के निबन्ध-साहित्य को हमने इन्हीं चार युगों में रखकर उसकी समीक्षा की है । इस युग-विभाजन में निबन्ध-विकास की गति पर भी ध्यान रखा है ।

निबन्धों के प्रकार, विषय, कला, सिद्धान्त और उनकी टैकनीक में भी युग-परिवर्तन के साथ नवीन विशेषता आई है। हाँ, युग कलैण्डर की तारीखों की तरह नहीं बदलते। इनमें २-४ वर्ष का हेर-फेर हो जाना असाधारण बात नहीं। इस युग के निबन्धों का अध्ययन करते हुए, पाठक जिज्ञासा करेगा, और आश्चर्य भी कि इस युग में निबन्ध अधिक प्रगतिवादी क्यों न बना, उल्टे सांस्कृतिक निबन्ध अधिक लिखे गये। बात ठीक है, पर युग का नाम साहित्य को इकाई मानकर रखा गया है, निबन्ध को नहीं। सचमुच, यह आश्चर्य और खेद की बात है भी कि निबन्ध प्रगतिवाद से बहुत कम प्रभावित हुआ। समाधान युग-परिचय में मिलेगा।

१२

'निबन्धकार' के बारे में

साहित्य, सिद्धान्त और समीक्षा-विषयक अनेक हिन्दी-पुस्तकें देखने में आईं। निबन्ध का विवेचन भी उनमें है ही। बहुत थोड़े समय में ही अनेक मीमांसा-समीक्षा, विवेचन-आलोचन उत्पन्न हो गये। इधर विश्वविद्यालयों की प्रेरणा से लोगों की लेखनी और छापे की मशीनें भी बड़ी तेज़ी से चलने लगी हैं। कोर्स के लिए धड़ाधड़ पुस्तकें मण्डी में आ रही हैं। बुरा क्या—माँग का उत्तर उत्पत्ति है। हिन्दी निबन्ध-विकास पर भी दो-चार पुस्तकें निकली हैं। पूर्णता की माँग अधिकतर पुस्तकों में दीखी—अनेक अभाव इनमें मिले। सिद्धान्त-विवेचन, सम्बन्धी पुस्तकों तक में निबन्ध के विषय में अत्यन्त अल्प और अपूर्ण सामग्री ही अधिकतर मिली। परिभाषा, प्रकार, आकार, स्वरूप आदि की स्पष्ट रेखाएँ इनमें खिंच न पाईं। निबन्ध-विकास के सम्बन्ध में प्रकाशित पुस्तकें भी बहुत संक्षिप्त और अपूर्ण हैं। दो-चार लेखकों के नाम गिना-भर दिये गये—न शैली का विवेचन और न विचारधारा की समीक्षा। सबसे अधिक खटकने वाली बात है—मान्यताओं और आस्थाओं का नितान्त अभाव। तीन वर्ष का जीवन उधार माँगकर लाने वाली कोर्स-किताबों से आशा भी ऐसी क्यों करें ? और समीक्षकों को शायद भय भी है, कहीं अनेक आस्थाएँ और मान्यताएँ साहित्य के टुकड़े न कर दें, जैसे हिन्दुओं के टुकड़े अनेक मत-पंथों ने कर दिये। कुछ समीक्षा-ग्रन्थों में तो पूर्वजों का इतना सम्मान है कि ज्यों की त्यों पंक्तियाँ उठाकर रख ली गईं या उनका सरल भाषा में अनुवाद कर लिया गया।

'निबन्धकार' में यह कुछ न मिलेगा। 'आलोक' में निबन्ध-सम्बन्धी सभी-कुछ का निरूपण किया गया है। परिभाषा, प्रकार, शैली, स्वरूप, सभी का विस्तृत विवेचन करने की सजग चेष्टा रही है। निबन्ध के संगी-साथियों—स्कैच, प्रबन्ध, पत्र से उसकी तुलना कर समानता-असमानता दिखाई गई है, जिससे निबन्ध की स्वरूप-सीमाएँ स्पष्ट हो जायँ। भ्रम समान वस्तुओं में होता है। भ्रम दूर होने पर ही किसी वस्तु का शुद्ध स्वरूप सामने आता है। इन्हें पढ़ने पर निबन्ध का शुद्ध स्वरूप और आकार सामने आयगा। 'आलोक' में शैली के विभिन्न प्रकारों का निश्चित और स्थिर रूप भी सामने रखने का प्रयत्न किया गया है और विभिन्न लेखकों की शैली का विवेचन भी। निबन्धकारों की रचनाओं को भी निबन्ध और शैली के विभिन्न प्रकारों के वर्ग में रख दिया गया है। 'आलोक' में निबन्ध-सम्बन्धी जो सिद्धान्त और

लक्ष्य समीक्षाधीन आये हैं, उनकी कसौटी पर ही विभिन्न लेखकों की रचनाओं की परख की गई है ।

'आलोक' में हिन्दी-निबन्ध-विकास पर कुछ नहीं कहा गया । सम्पूर्ण पुस्तक ही निबन्ध-विकास है । इसके अतिरिक्त प्रत्येक युग के आरम्भ में दिये गये युग-परिचय को क्रम से मिला लेने पर हिन्दी-निबन्ध का पूर्ण विकास सामने आ जाता है । दोहराने से क्या लाभ ?

फ्रेंच निबन्धकार मोनतेंङ् और उसके निवन्धों के विषय में सूचनात्मक विवेचन कर दिया गया । अंग्रेज़ी निबन्धकारों की भी परिचयात्मक समीक्षा की गई । इससे अधिक की आवश्यकता भी न दीखी । इस बात की अधिकतम चेष्टा रही कि कोई निबन्धकार न छूटे, सभी की रचनाओं की समीक्षा पुस्तक में हो । हाँ, स्कुलिया निबन्ध-लेखकों का समावेश इसमें नहीं हो सकता । ऐसे अनेक लेखक भी निबन्धकार बनकर 'हिन्दी-निबन्धकार' में आये हैं, जिन्हें अनेक अक्ल के कंजूस समीक्षकों ने अपने साहित्य की संकुचित सीमाओं में आने ही न दिया । हाँ, उन लेखकों को हमने छोड़ दिया है, जो छोटे-छोटे आलोचनात्मक लेख लिखकर निबन्धकार भी बनना चाहते हैं । आलोचना का आकार छोटा हो जाने पर तो वह निबन्ध बन नहीं जायगी । ऐसे लेखकों को भी हम 'निबन्धकार' में न ला सके, जिन्होंने विचार, भाव या शैली के रूप में दिया तो कुछ नहीं, कागज़ों का उपयोग करने की कोई कमी नहीं की—लिखा बहुत, पर रचा कुछ नहीं ।

किसी भी विषय पर मतभेद होना असम्भव तो नहीं—मतभेद का स्वागत ही किया जायगा । कोई अभाव भी रह सकता है—यथार्थ सुझाव के अनुसार सुधार भी किया जा सकता है । 'निबन्धकार' लिखकर मुझे सन्तोष ही हुआ । लेखनी के विश्वासी पग और भी सबलता से आगे ही बढ़े ।

एस० डी० कालेज,
अम्बाला कैण्ट

विनीत—
जयनाथ 'नलिन'

भारतेन्दु-युग

संवत १९३०-६० विक्रमी

१

युग-परिचय

भारतेन्दु-युग में नवीन चेतना जाग रही थी। नवीन और पुरातन के संघर्ष का काल। नये विचार तेज़ी से अपने लिए रास्ता बना रहे थे। हिन्दी-साहित्य जागरण की अँगड़ाई ले रहा था। जीवन नई दिशा की ओर अग्रसर था। अ क पत्र-पत्रिकाएँ जन्म ले रही थीं। जीवन में फक्कड़पन और अक्खड़पन—ऐसा युग निबन्ध के लिए बहुत ही उपजाऊ हैं। मस्त और फक्कड़ लेखक ही पाठक से सीधी बातें कर सकते हैं। अपने विचार पाठकों तक पहुँचाने के लिए निबन्ध ही सबसे अधिक सफल, सरल, श्रेष्ठ और सबल साधन है—न कोई बन्धन, न बाधा। इसलिए भारतेन्दु-युग में बहुत अच्छे निबन्ध लिखे गये। विविधता को कसौटी मानें तो यह युग द्विवेदी-युग से कहीं अधिक सम्पन्न, अधिक प्राणवान, अधिक स्वाधीन और उदार सिद्ध होगा।

'राजा भोज का सपना' (सितारेहिन्द), 'एक अद्भुत अपूर्व स्वप्न' (भारतेन्दु), 'स्वर्ग में विचार-सभा का अधिवेशन' (भारतेन्दु), 'एक अनोखा स्वप्न' (बालकृष्ण भट्ट), 'यमपुर की यात्रा' (राधाचरण गोस्वामी)—ये निबन्ध युग की एक विशेष कला-कल्पना की ओर संकेत करते हैं। 'ले भला बताइये तो आप क्या हैं ?' (प्रतापनारायण) में लेखक सीधे पाठक से बातचीत करता है। युग के पास कहने को बहुत था—जैसे मन में विचारों की बाढ़ सँभाली जा रही हो। अनेक लेखक अपनी बात सीधे न कहना चाहते थे, उन्होंने स्वप्नों की कल्पना की। यह शैली मनोरंजक, आकर्षक, निष्कण्टक और प्रभावशाली सिद्ध हुई। आज भी व्यंग्यात्मक चोट के लिए यह शैली अपनाई जाती है। कथन या आत्म-प्रकाशन की विविधता ही नहीं, विषय की अनेकरूपता भी इस युग की समृद्धि है। एक ओर तो 'आँख', 'भौं', 'वृद्ध', 'नहीं' 'रोटी तो किसी भाँति कमा खाय मुछन्दर' ऐसे हलके, मनोरंजक निबन्ध लिखे जा रहे थे; दूसरी ओर 'मनोयोग', 'नाटक' 'वैष्णवता और भारतवर्ष', 'मन की दृढ़ता', ऐसे विचारात्मक। एक ओर 'क़ौम', 'ज़ातीयता के गुण', 'जन्मभूमि' ऐसी राष्ट्रनिर्माणकारी रचनाएँ हो रही थीं, दूसरी ओर 'आचरण', 'ईमानदारी', 'धर्म-सम्बन्धी खर्च', 'तीर्थों की तीर्थता', 'चलन की गुलामी' ऐसी समाज और व्यक्ति के सुधार सम्बन्धी रचनाएँ। एक ओर शासन की कड़ी आलोचना हो रही है, दूसरी ओर 'परिपूर्ण पावस', 'हरिद्वार की यात्रा' और 'चन्द्रोदय' का आनन्द उठाया जा रहा है। निबन्धों के सभी प्रकार और सभी शैलियाँ उस युग के पास हैं।

'मनोयोग', 'मन की दृढ़ता', 'नाटक', 'वैष्णवता और भारतवर्ष', 'शब्द की आकर्षण-शक्ति' में विवेचन-शैली मिलेगी, 'अद्भुत स्वप्न', 'यमपुर की यात्रा' में प्रौढ़ व्यंग्य-शैली। 'पत्नीस्तव' में प्रलाप और 'आँसू' में प्रवाह-शैली की प्रधानता है। भारतेन्दु में आवेग और प्रलाप-शैलियों के अच्छे नमूने मिलते हैं। प्रतापनारायण मिश्र के अनेक निबन्धों में व्यंग्य-शैली का युगानुसार सफल रूप पाया जाता है।

इस युग के निबन्ध-साहित्य में नवीन और प्राचीन का स्वस्थ मिलन है। हरएक लेखक नवीन की मशाल ले आगे बढ़ रहा था—जन-समाज को पथ दिखा रहा था। प्राचीन को तिरस्कार की ठोकर मारकर नहीं, उसकी शक्ति-सम्पन्नता को पाथेय बनाकर। नवीनता की चकाचौंध किसी की आँखों से अपना प्रकाश न छीन सकी। अपने पर्व-त्योहार, अपने बादल और बसन्त उनकी नाड़ियों में ममता की गुदगुदी बजाते, देश की मिट्टी का मोह उनमें उन्माद जगा देता। देशभक्ति, जनजाग्रति, मानव-धर्म और समाजोत्थान इस युग के हिन्दी-निबन्ध में प्राण पा रहे थे। इस युग का उदारता 'वैष्णवता और भारतवर्ष' और 'विचार-सभा का अधिवेशन' में बोलती है। उदार चेतना जाग रही थी। मुल्ला, पण्डित-पुरोहित, कर्म-काण्ड, तीर्थ-व्रत आदि पर व्यंग्य के करारे वार किये जा रहे थे। 'अद्भुत स्वप्न' में चन्दाबटोर, सरकार, कट्टर पंथियों—सभी पर चोट की गई है। 'यमपुर की यात्रा' इस युग का सर्वश्रेष्ठ व्यंग्य है। इसमें राधाचरण गोस्वामी व्यंग्य और प्रगतिशीलता में सबसे आगे हैं। धार्मिक अन्धविश्वास और परम्परा पर आज भी इतना मारक व्यंग्य कम ही देखने में आता है। गोस्वामी जी अपने युग के सबसे अधिक उग्र विचारों के व्यक्ति हैं। बालमुकुन्द गुप्त के व्यंग्य में गम्भीरता, चोट और सोद्देश्यता है। 'शिवशम्भु का चिट्ठा' युग की महान देन है। 'राजा भोज का सपना' दान, धर्म, मानव-हित को नवीन परिभाषा में रखता है। यह एक उत्कृष्ट रचना है।

भाषा के विभिन्न रूप भी इस युग में मिलेंगे। 'प्रेमघन' की भाषा रंगीन चमक-दमक और अनुप्रासात्मकता लेकर आई। सजावट-बनावट उसकी विशेषता है। पर भावाभिव्यंजना की शक्ति भी उसमें मिलेगी। बालकृष्ण भट्ट की भाषा प्रौढ़, तीखी, चटपटी, चमत्कारपूर्ण रूप सामने रखती है। युग के सामने भाषा का कोई स्वरूप पहले से तो था नहीं, स्वयं उसने निर्मित किया। संस्कृत के वे शब्द ही स्वीकृत किये गये जो शिष्ट समाज में प्रचलित थे—दुरूह, बोझल और पराये-से बनकर वे नहीं आये। भाषा का चलता, जीवित, सबल और सार्थक रूप ही इस युग ने स्वीकृत किया। हास्य-विनोद, स्वच्छन्दता, चपलता, आशावाद इस युग की विशेषताएँ रहीं—भाषा का निर्माण भी उन्हीं के रंग में हुआ। 'ब्राह्मण', 'हिन्दी प्रदीप', 'आनन्द कादम्बिनी' आदि पत्रों ने युग के निबन्ध को विशेष गति और

आकार दिया। भारतेन्दु-युग के अन्तिम भाग में 'बंगवासी' और 'भारत मित्र' ने भी निबन्ध को गति दी। 'भारत मित्र' में ही बालमुकुन्द गुप्त के निबन्धों ने प्रकाशन पाया। भाषा की सफ़ाई और गठनशीलता उनमें देखी जा सकती है। भाषा-स्खलन और व्याकरणिक लापरवाही इस युग का बड़ा भारी दोष है। भारतेन्दु और भट्टजी तक में यह दोष मिलेगा—प्रतापनारायण मिश्र तो युग की इस निर्बलता के प्रतीक हैं। भाषा की एकरूपता उनकी रचनाओं में नहीं। विरामादि का प्रयोग तो बड़े से बड़ा लेखक भी नहीं करता। ये सब कमियाँ दूर करने के लिए द्विवेदी-युग आया।

२

बालकृष्ण भट्ट

भारतेन्दु-युग के प्रौढ़ व्यक्तित्व ने पण्डित बालकृष्ण भट्ट में आकार पाया। गम्भीरता और व्यंग्य का प्रभावशाली मिश्रण भट्टजी में है। इन-जैसा गम्भीर लेखक, स्वाधीन विचारक और समाज-चिन्तक दूसरा कोई नहीं। भट्टजी के समान लगन के पक्के और धुन के धनी साहित्य-निर्माता आज भी कहाँ? भारतेन्दु के बाद हिन्दी के सबसे बड़े हिमायती और साहित्य-स्रष्टा यही हैं। यदि परिस्थितियों को कसौटी मानें तो भारतेन्दु से भी अधिक भाग भट्टजी का है। भारतेन्दु सोने के पालने में झूलते थे और भट्टजी जीवन से जूझते थे। भारतेन्दुजी ने अपनी आर्थिक सुविधाओं की सहायता से अनेक लेखक पैदा किये, भट्टजी ने अभाव की भट्टी में जलते हुए साहित्य-निर्माण किया, अपने को गला दिया। जीवन के सभी अभाव समेटे, आजीवन चिन्ताओं की चादर लपेटे, ३२ वर्ष तक, 'हिन्दी प्रदीप' में अपने प्राणों का रक्त भर उसे जलाते रहे—हिन्दी-वालों को प्रकाश दिखाते रहे। औरों को आँखें देने में अपनी एक आँख खो बैठे। भट्टजी ने जीवन भर प्रतिकूल परिस्थितियों से युद्ध किया। अभाव के सामने सिर नहीं झुकाया। चिन्ताओं की लकीरें गालों पर न खिचने दीं। अडिग आस्था, सबल विश्वास, दृढ़ संकल्प और स्पृहणीय वीरता से साहित्य, समाज और राष्ट्र की सेवा में गलते रहे। भट्टजी अपने युग के सर्वश्रेष्ठ निबन्धकार हैं। तुलनात्मक समालोचना की नींव भी इन्हीं ने रखी, जिन पर पण्डित पद्मसिंह शर्मा ने तुलनात्मक समालोचना का भव्य भवन खड़ा किया। स्वाधीन विचार, अनाभिभूत भावना, प्राणवान व्यक्तित्व, सशक्त प्रभावशाली शैली, असीमित विषय-क्षेत्र में विचरण, तर्कपूर्ण विवेचनात्मक पद्धति—सभी कुछ हमें भट्टजी में मिल जाता है।

भट्टजी के विचार शास्त्रों की तोतारटंत से निर्मित नहीं हुए और न उनकी आस्थाएँ परम्परा की अंधी नकल हैं। विचार, स्वाधीन चिन्तन से स्वरूप में आये और आस्थाएँ, हृदय की उन्मुक्त अनाभिभूत भावनाओं से बनीं। पर यह नहीं कि फैशन के नशे में शास्त्रों का तिरस्कार और परम्परा का परित्याग हो। किसी भी निश्चय के पीछे उनका चेतनाशील सतर्क मस्तिष्क है। हम नहीं समझते, भारतेन्दु-युग में बालकृष्ण भट्ट से अधिक स्वाधीन और सतर्क विचारक और कोई व्यक्तित्व हो। भट्टजी ने वैदिक देवताओं को देवत्व से वंचित कर प्राकृतिक

तत्त्वों का प्रतीक माना। वेदों की अलौकिकता भी भट्ट जी की स्वाधीन-विचार की प्रयोगशाला में पहुँच मानसिक सरलता बन गई।

"युधिष्ठिर धर्म के अवतार और सत्यवादी प्रसिद्ध हैं, पर उनकी सत्यवादिता निजकार्य-साधन के समय सब खुल गई—'अश्वत्थामा हतः कुंजरो वा नरो वा' इत्यादि कितने उदाहरण इस बात के हैं।'

"कालिदास आदि कवियों की उक्ति-युक्ति के मुकाबले वेद का भद्दा और रूखा साहित्य अत्यन्त फीका मालूम होने लगा। कालिदास की एक-एक उपमा पर और भवभूति, भारवि, श्रीहर्ष, बाण की एक-एक छटा पर वेद के उम्दा-से-उम्दा सूक्त, जिनमें हमारे पुराने आर्यों ने मर-पचकर साहित्य की बड़ी भारी कारीगरी दिखाई है, न्योछावर है।"

"रामायण और महाभारत के आचार्य क्रम से कवि-कुलगुरु वाल्मीकि और व्यास थे, पृथ्वी के और और देशों में इनके समान या इनसे बढ़कर कवि नहीं हुए, ऐसा नहीं है।"

"प्रातःकाल उदयोन्मुख सूर्य की प्रतिभा देख उनके सीधे-सादे चित्त ने बिना कुछ विशेष छानबीन किये इसे अजेय और अज्ञात शक्ति समझ लिया। इसके द्वारा वे अनेक प्रकार का लाभ देख कानन-स्थित-विहंग-कूजन समान कलकल रव से प्रकृति की प्रभात-वन्दना का साम गाने लगे। वायु जब प्रबल वेग से बहने लगी तो उसे भी ईश्वरीय शक्ति समझ उसके शान्त करने को वायु की स्तुति करने लगे। वे ही सब ऋक् और साम की पावन ऋचाएँ बन गईं।"

इन अवतरणों में प्रकट किये गये विचारों के कारण परम्परा-पीड़ित पंडितों की दृष्टि में भट्टजी सिरफिरे नास्तिक ही गिने जायेंगे।

धर्म और दर्शन को समाज के विकास और राष्ट्र-निर्माण की कसौटी पर परखना भट्टजी के प्रगतिशील यथार्थवादी दृष्टिकोण का ही प्रमाण है। श्री शंकराचार्य और नानकदेव की तुलना करते हुए भट्टजी ने शंकर और रामानुज के दर्शन और धर्म की बड़ी कड़ी आलोचना की। हम सहमत न हों, तो भी उनके प्रगतिशील दृष्टिकोण की प्रशंसा ही की जायगी। "साहित्य जन-समूह के हृदय का विकास है" —साहित्य की यह परिभाषा किसी लक्षण-ग्रन्थ से नकल करके वह नहीं देते; जीवन-संघर्ष में पड़कर इसे पाते हैं। पाखण्डपूर्ण परम्पराओं, निष्प्राण धर्म और रोगग्रस्त दर्शन, अस्वास्थ्यकर सामाजिकताओं को सबल ठोकर भट्टजी सर्वदा लगाते रहे—अपने विश्वासों में अडिग और निर्माण में सदा आशावादी।

प्रकार, विषय-विविधता, व्यंग्यात्मकता, उदारता आदि की दृष्टि से भट्टजी अपने युग के प्रतिनिधि निबंन्धकार तो हैं ही; विवेचन-शैली, विचार-गाम्भीर्य, समीक्षा-

पद्धति के विचार से भावी निबन्धकारों की प्रथम पंक्ति में वह मज़े में खड़े किये जा सकते हैं। युग की सभी विशेषताओं से सम्पन्न—आनेवाले युग के लिए मशाल लिये पथ-प्रदर्शन भी वह करते हैं। भारतेन्दुजी उनके बाद जन्मे और युग-निर्माण कर पहले ही स्वर्ग सिधार गये—तब भट्टजी ने ही भारतेन्दु-युग की साज-सँवार की। वर्णनात्मक, विवरणात्मक, भावात्मक और विचारात्मक सभी प्रकार के निबन्ध भट्टजी की कलम से प्रसूत हुए। इनकी लेखनी कहीं 'मेला-ठेला' वर्णन करने में सक्रिय है, तो कहीं 'वकील' का चित्रण करने में। कहीं 'सहानुभूति', 'आशा' और 'माधुर्य' भावों पर वह चलती है, तो कहीं 'खटका' से खबरदार करती है। कभी 'तर्क और विश्वास', 'आत्म-निर्भरता', 'शब्द की आकर्षण-शक्ति', 'कल्पना-शक्ति' ऐसे विचारात्मक विषयों का विवेचन करती; कभी 'आँसू', 'चन्द्रोदय', 'मुग्धमाधुरी' ऐसे भावात्मक विषयों में रस उँड़ेलती है।

'खटका' 'विकील', 'इंग्लिश, पढ़े तो बाबू होय', 'रोटी तो किसी भाँति कमा खाय मुछन्दर' आदि निबन्धों में भट्ट जी भारतेन्दु-युग की परम्परा निभाते देखे जाते हैं। उनसे युग की मस्ती, हास्य-व्यंग्य-सम्पन्नता, चलती भाषा-शैली प्रकट होती है। लगता है, प्रतापनारायण मिश्र के समकक्ष भट्ट जी बैठे हैं। 'आत्मनिर्भरता', 'कर्तव्य-पालन', 'मनोविज्ञान', 'चरित्र-पालन', 'मन और नेत्र' के द्वारा वह द्विवेदी-युग में आ जाते हैं। उनमें भाषा की सफ़ाई और समीक्षा-शैली में भारतेन्दु-युग से आगे का आभास मिलता है। 'माधुर्य', 'आशा', 'सहानुभूति', में 'चिन्तामणि' के भाव-विषयक विचारात्मक निबन्धों का शैशव तलाश किया जा सकता है। 'शब्द की आकर्षणशक्ति' भट्ट जी की विद्वता और समीक्षा-पटुता का नमूना है। 'शंकराचार्य और नानकदेव' और 'दरिद्र की गृहस्थी' में भट्टजी प्रगतिशील विचारक के रूप में हमारे सामने आते हैं।

भट्ट जी भारतेन्दु-युग की समस्त विशेषताओं से सम्पन्न हैं। विचारों में महान उदारता, समाज के नव-निर्माण की निराली लगन, राष्ट्र के उत्थान की चिन्ता, भारतीय जनता की सच्ची हित-कामना—सभी-कुछ भट्ट जी के लेखों में पाया जाता है। देश की दासता देख आप तिलमिला उठते हैं। अवसर तलाश करके भी विदेशी शासन पर चोट करते हैं, समाज-द्रोहियों और राष्ट्रीय-विरोधियों पर व्यंग्यों की बौछार करते रहते हैं। भारतेन्दु-युग की मस्ती का आप प्रतिनिधित्व नहीं करते, पर उस युग की मस्ती, व्यंग्यात्मकता, हास्य, वाक्चातुरी भट्ट जी की रचनाओं में उल्लेखनीय मात्रा में हैं। और ज्ञान गम्भीर, चिन्तन प्रौढ़, विचार स्वाधीन, तीक्ष्ण सम्पन्न व्यक्तित्व तो इस युग में भट्ट जी के सिवाय दूसरा है ही नहीं।

"हरएक महकमों के अकिल अजीरन जुटते-जुटते पुलिस सिस्टेम बन गया, जिससे सरकार के न्याय में बट्टा लगने के अलावा अंग्रेज़ी राज अत्याचार और बिद्दत करने में नवाबी भी कान काटे हुए है।"

'का अकिल अजीरन रोग।' (भट्ट निबन्धमाला, प्रथम भाग, पृष्ठ ११३)

"विदेशियों के मुक़ाबले अपनी मानहानि पर हमें क्रोध आता नहीं। अपना हक्क और सत्व पहचानना किसे कहते हैं, जानते ही नहीं। मजहब के जाल में फँसे हुए धर्म-रक्षा के लिए कहो प्राण दौड़ा लें। स्वत्व-रक्षा (Rights and privileges) क्या है, कुछ समझते ही नहीं।"

—'रसाभास' (भट्ट निबन्धमाला, प्रथम भाग, पृष्ठ ७६)

"इस अकिल अजीरन ने ईश्वर तक को नहीं छोड़ा। सृष्टि-रचना करते समय उसकी कारीगरी में जो कुछ भद्दापन आता गया, वह सब कूड़े के समान इकट्ठा होता गया और कूड़ों के ढेर का ढेर (Embodied) मुजस्सिम आकृतिमान हो इल्लिट्रेट सेठ के आकार में परिणित हो गया।······खेती सब एकदम ठाँव ही टपटपाय रह गई।······गल्ले के रोजगारियों की बन पड़ी। मारे खुशी के उनका पेट नगाड़ा-सा फूल उठा। देव का यह अकिल अजीरन उनके लिए पारस हो गया।"

—'अकिल अजीरन' (भट्ट निबन्धमाला, प्रथम भाग, पृष्ठ ७६)

'दिल बहलाव के जुदे-जुदे तरीके' भट्ट जी के सर्वोत्तम वर्णनात्मक निबन्धों में हैं। शैली की प्रसादात्मकता स्पष्ट है। कल्पना तत्त्व की प्रधानता—उद्धरण में जो दो चित्र दिये गये हैं, पाठक का भी दिलबहलाव करते हैं। वर्णन तथा विवरण प्रधान निबन्धों में चित्रांकन बहुत बड़ी सफलता है। लगता है, हुक्केबाज और निन्दक-मण्डल सामने बैठे हैं। विषय और प्रसंग के अनुसार भाषा की विविधता और रूपाभरण भट्ट जी की विशेषता है। युग की विशेषता—व्यंग्यात्मकता—भी अपने अधिकार का उपयोग करते पाई जाती है।

एक अवतरण—

"कितनों का दिल बहलाव हुक्केबाज़ी है। सब काम से फ़ुरसत पाय किसी बैठक में आ बैठे। हा हा ठी ठी करते जाते हैं और चिलम पर चिलम उड़ाते जाते हैं। हा हा ठी ठी धौल-धक्कड़ का मौका न मिला तो बेजड़, बेबुनियाद जी-उबियाऊ कोई दास्तान छेड़ बैठे। घण्टों में इसमें समय बिलाय घर की राह ली, जी बहल गया।

चुगल चबाई ईढ़ीं-धूर्तों का दिल बहलाव निन्दा-चबाव से है। दो-चार पुराने समय के खबीस इकट्ठे हो गये, तमाखू पिच-पिच थूकते जाते हैं और सौ वर्ष का कोई पुराना जिकिर छेड़े बैठे हैं। बहुधा जात-बिरादरी

होगी। नाक चढ़ाय-चढ़ाय मुँह बगार-बगार किसी भले मानुष के गुण-अवगुण और दोष उद्घाटन करते दो-चार कच्ची-पक्की कह-सुन लिया, मन बहल गया।"

—'दिल बहलाव के जुदे-जुदे तरीके' (भट्ट-निबन्धावली, प्रथम भाग, हि० सा० प्र०)

'मेला-ठेला', 'विशाल वाटिका', 'स्त्रियाँ', 'हिन्दुस्तान के रईस' हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ वर्णनात्मक निबन्धों में गिने जायँगे। जो कल्पना-प्रसूत यथार्थ चित्र इनमें उपस्थित हैं, वे आज के निबन्धों में भी कम ही सुलभ हैं। चित्रात्मकता ही तो वर्णन और विवरण में प्राण-प्रतिष्ठा करती है। विवरणात्मक निबन्ध भी भट्टजी ने लिखे; बहुत ही कम। और वे उनकी सफलता के अच्छे प्रमाण नहीं। उनमें विवरण की सादगी आवश्यकता से अधिक है। न उनमें निबन्ध का कसाव, न शैली का गठन; न पुतली में उतरने वाले चित्र, न जानदार व्यंग्य। 'नई सभ्यता की बानगी' में तो संवादों की वह भरमार कि निबन्धात्मकता दब ही गई। 'अशर्फी का आत्म-वृत्तान्त' 'एक अनोखा स्वप्न', 'दम्भाख्यान' भी सीधी-सादी रिपोर्ट से हैं। शैली इतनी प्रसाद पूर्ण है कि निबन्ध न होकर ये बात-कथन मात्र रह गये।

भावात्मक निबन्धों में भी भट्टजी का निबन्धकार स्निग्ध रागात्मकता लेकर आया। शैली की दृष्टि से भी उसने विविध स्वरूप उपस्थित किये। भावात्मक निबन्धों में उसने तीखेपन की शिकायत भी न आने दी। भावात्मक निबन्धों में बधाई की अधिकारिणी सफलता भी उसे मिली; पर भट्टजी के निबन्धकार का यथार्थ सबल, प्रभावशाली, प्राणवान चिन्तनशील व्यक्तित्व विचारात्मक निबन्धों में ही प्रकट हुआ। भाव-प्रधान निबन्धों में 'आँसू', 'चन्द्रोदय', 'पत्नी-स्तव', 'माता का स्नेह', 'माधुर्य' 'मुग्ध-माधुरी', 'हाकिम और उनकी हिक़मत', 'हमारे मन की मधुप वृत्ति' अपनी श्रेष्ठता के लिए किसी से अनुग्रह की माँग न करेंगे। भट्टजी की भावुकता इनमें छलकी पड़ती है। उनकी ज्ञान-गम्भीर भाषा इनमें मुग्धा का रूप धारण करती है। उनका कठोर व्यंग्य गुदगुदी बन जाता है। भावात्मक निबन्ध के सभी गुणों से सम्पन्न ये हैं। प्रलाप और आवेग शैलियाँ भी इनमें मिल जाती हैं। स्वगत-भाषण की शैली, जिसे हम 'प्रलाप' का ही रूप मानते हैं, इनमें पाई जाती है। 'चन्द्रोदय,' 'पत्नीस्तव' और 'हाक़िम और उनकी हिक़मत' इसके लिए उपस्थित किये जा सकते हैं।

"यदि सृष्टिकर्त्ता अत्यन्त शोक में अश्रुपात को प्राकृतिक न कर देता तो वज्रपात सम दारुण दुःख के वेग को कौन सँभाल सकता······बरसात में तालाब जब लबालब भर जाता है तो बाँध तोड़ उसका पानी बाहर निकाल देना ही सुगम उपाय बचाव का होता है। आँख से तो आँसू चला ही करता है, आज हमने लेख में भी पर ही कलम चलादी।"

"मृतक के लिए लोग हज़ारों-लाखों खर्च कर आलीशान रोज़े मक़बरे या कबरें संगमरमर या संगभूसा की बनवा देते हैं। कीमत पत्थर मणिक जरमुरद से उन्हें आरास्ता करते हैं; वे मक़बरे क्या उनकी रूह को उतनी राहत पहुँचा सकते हैं जितनी उसके दोस्त आँसू टपकाकर पहुँचाते हैं।"

—'आँसू' (साहित्यसुमन, पृष्ठ ९८-९९)

'आँसू' में भाषा के दो रूप हमारे सामने आते हैं—प्रसादपूर्ण टकसाली शुद्ध खड़ीबोली और हिन्दी का चोला पहन शिवप्रसाद 'सितारेहिन्द' की उर्दू। दोनों रूपों में शैली एक ही है—भावात्मक निबन्ध की आवेग शैली। भट्टजी की भाषा के इसी रूप—'सितारेहिन्द' की हिन्दी को देख डॉ० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा ने भट्टजी को शुद्धवादियों की श्रेणी से निकाल दिया। पर भट्टजी के एक-दो निबन्धों में ही यह सितारेहिन्दी रूप आया है, शेष सभी में वह शुद्धवादी या समन्वयवादी के रूप में ही आये हैं। उनकी समस्त रचनाओं को पढ़कर लगता है, वह एक ऐसी भाषा-शैली का निर्माण कर रहे थे, जो सब को ग्राह्य हो। आगे चलकर महावीरप्रसाद द्विवेदी ने भी उसी सामान्य शैली को अपने विचारात्मक निबन्धों में अपनाया है। भट्टजी के अनेक भावात्मक निबन्धों में तो शुद्ध काव्यात्मक हिन्दी का स्वरूप ही निखरा।

"हे पत्नी! तुम्हारे कोमल अंग-सौष्ठव का सम्पर्क, तुम्हारे अधरामृत का पान वा चाख कोकिला-लाप, कुहुनाद को तिरस्कार करने वाला तुम्हारे कोकिल-कण्ठ निर्गत शब्दों को जिसने अपने कानों का अतिथि न किया उस लँडूरे का जीवन ही क्या?"

× × ×

"हे आदि रस की अधिष्ठात्री! शूरवीर साहब लोग मुल्क के इन्तज़ाम की चतुराई में कहीं से नहीं चूकते, पर तुम्हारे समस्त नाज-नखरों पर अपना अधिकार जमाना तो दूर रहा, एक साधारण गौन के इन्तज़ाम में उनकी सब भूल जाती है।"

"गजगामिनी, जिसकी चाल के आगे हंसों का अपनी चाल का घमण्ड चला जाता है, जिस पिकबैनी की वचन-माधुरी सुन कोकिला लज्जित हो मौन व्रत धारण कर लेती हैं, जिसके नवनीत कोमल अंगों के साथ होड़ होने में कोमलता पत्थर-सी कड़ी मालूम होती है, शोभा और सौन्दर्य की अधिष्ठात्री लक्ष्मी जिसके लावण्य जलधि की लहरों में अचम्भे में आप गोता खाने लगती है—

'एक नारी सुन्दरी वा दरी वा।'

भर्तृहरी की यह उक्ति ऐसी ही सहधर्मिणी के मिलने से सुघटित होती है।"

—'पत्नीस्तव' (भट्ट-निबन्धमाला, पृष्ठ २८)

'पत्नीस्तव', 'माधुर्य', 'चन्द्रोदय', 'मधुप', 'मुग्ध माधुरी', 'माता का स्नेह', 'आशा'—सभी भावात्मक निबन्धों में भी भट्टजी नितान्त शुद्धवादी के रूप में

आते हैं। हाँ, कट्टर शुद्धवादी वह नहीं, जो शुद्धि के नाम पर भाषा को वन्दी बना बाहरी स्वास्थ्यकर प्राणवान वायु से भी उसे वंचित करना चाहते हैं। 'पत्नीस्तव' से उद्धृत संदर्भों में केवल 'इन्तज़ाम' और 'नाज़-नखरे' दो शब्द बाहरी हैं; पर अपनी जगह ये खूब जमे हैं। प्रसंग परिहास का है। शेष समस्त निबन्ध में शुद्ध, काव्यात्मक, भावुक, कोमलकान्त पदावली की छटा है। भावव्यंजना, भाषा का बाह्य स्वरूप, वस्तु-विषय-वर्णन, कला-साधना सभी परम्परागत है। भावात्मक निबन्धों की दोनों शैली—आवेग और प्रलाप—इसमें पाई जाती हैं। संदर्भ के प्रथम दो भागों में सम्बोधन और स्वगत भाषण प्रलाप-शैली का ही आभास देता है। तीसरे भाग में, आवेग-शैली सौम्य रूप में आई है। "जिसकी चाल······ जिस पिक बैनी ·····जिसके नवनीत कोयल ·····जिसके लावण्य······" आदि अनेक वाक्य खण्ड "ऐसी ही सहधर्मिणी ······" से जुड़ते हैं। यह आवेग-शैली का प्रारम्भिक सौम्य रूप कहा जा सकता है। आवेग में जुड़े-जुड़े वाक्य निकलते हैं। तीव्र वेग और बहाव उनमें होता है—उद्धरण में यह स्पष्ट है।

विचारात्मक निबन्धों में भट्टजी का निबन्धकार सबसे अधिक सबल रूप में चमका। भट्टजी शुद्ध विचारवादी थे। वह तर्क, युक्ति और कार्य-कारण के विश्लेषण से पाठक को सन्तुष्ट और विश्वस्त करते थे। हृदय की अपील की अपेक्षा मस्तिष्क के अनुरोध में वह अधिक भरोसा रखते थे। उन्हें विश्वास था, मानव की आस्था और विश्वास ज्ञान की स्वीकृति के द्वारा ही स्थिर रह सकते हैं। बहुत समझाने पर भी यदि मनुष्य अपने हित को न पहचाने तो रोष आ ही जाता है। यही कारण भट्टजी के निबन्धों में तीखे व्यंग्य का है, पर चिड़चिड़ापन कहने में मन झिझकता है। यह भी अपने उद्देश्य और विश्वास के प्रति लेखक की ईमानदारी ही है।

"तो निश्चय हुआ कि वास्तव में सुख या दुःख दोनों कुछ भी नहीं हैं; केवल हमारे ही चित्त की दुर्बलता मात्र है। सच तो यों है कि दुःख कभी-कभी मनुष्य को उस घोर महा विपत्ति की सूचना देता है, जो इसे समूल नाश कर देती है। इसलिए दुःख जीवों का रक्षक और समूल नाश से उन्हें बचाने वाला है। मान लीजिए सुख ही सुख होता तो इस संसार की क्या दशा होती ? मैं समझता हूँ, तब यह दृश्य जगत संसार इसे नाम से कभी न कहा जाता। क्योंकि संसार तो वही कहा जाता है, जो सदा एक रूप न हो।"

—'आत्मगौरव,' (भट्ट-निबन्धमाला, पृष्ठ २८)

'तो निश्चय', 'सच तो यों है', 'इसलिए', 'मान लीजिए', 'मैं समझता हूँ', 'क्योंकि,'—ये वाक्यखण्ड लेखक की तर्कपूर्ण, युक्ति-प्रधान, विवेचनात्मक शैली प्रकट करते हैं। 'क्योंकि', 'इसलिए' आदि शब्दों से कार्य-कारण सम्बन्ध प्रकट होता है।

प्रमाण और युक्तियों के द्वारा परिणाम निकाल पाठक को अभिभूत करने के गुण इस शैली में हैं। यह प्रसाद-शैली नहीं, विवेचनात्मक है। प्रसाद या व्यास-शैली में सरल भाषा, वाक्य-विन्यास, उपमा, रूपक आदि के द्वारा श्रोता या पाठक को समझाया जाता है, तर्क-वितर्क उसमें नहीं रहता। आचार्य शुक्ल के निबन्धों की शैली भी विवेचनात्मक है। वह परिष्कृत मस्तिष्क, तीक्ष्ण प्रतिभा वालों के लिए और यह कम बुद्धि वाले भोले-भाले अल्पज्ञान मनुष्यों के लिए।

विवेचनात्मक शैली का एक अन्य रूप भी भट्टजी के विचारात्मक निबन्धों में मिलेगा, इसे हम विश्लेषणात्मक ढँग भी कह सकते हैं। इसमें लेखक किसी भाव, भावना, वृत्ति, अनुभूति, मनोवैज्ञानिक तथ्य आदि को परिभाषात्मक रीति से समझाता है। उसे स्पष्ट करने के लिए समान लगने वाले भाव, भावना, तथ्य आदि का अन्तर स्पष्ट करता है—समीक्षाधीन विषय की बारीकियाँ खण्ड-खण्ड करके बताता है। विश्लेषण को भी हमने विवेचन के अन्तगर्त ही लिया है।

"किसी वस्तु के देखने, छूने, सुनने व सूँघने से जो एक प्रकार का ज्ञान होता है, उसे बोध कहते हैं। परन्तु यथार्थ में केवल बोध से ज्ञान नहीं होता, प्रकृत ज्ञान बोध और साधारण ज्ञान दोनों से मिलकर होता है। और वह प्रकृत ज्ञान, बोध तुम्हें कितना ही हो, बिना मनोयोग से नहीं होगा।"

—'बोध मनोयोग और युक्ति' (भट्ट-निबन्धावली, दूसरा भाग)

ऊपर के उद्धरण में उस शैली का प्रारम्भिक रूप है, जिसका चरम विकास हमें आचार्य शुक्ल के निबन्ध-संग्रह 'चिन्तामणि' में मिलता है। 'बोध' को समझाने का प्रयत्न शुक्लजी की विवेचनात्मक शैली में किया गया है। इससे अधिक बारीक विश्लेषण की आशा भारतेन्दु-युग में की भी क्या जा सकती? गम्भीर मनोवैज्ञानिक विषयों पर भी भट्टजी ने अनेक निबन्ध लिखे। भाव, वृत्ति, भावना पर उनके अनेक निबन्ध शुक्लजी के निबन्धों के साथ रखे जा सकते हैं। 'आशा', 'आत्मनिर्भरता', 'कल्पना शक्ति', 'तर्क और विश्वास', 'प्रतिभा', 'मन के गुण' 'ज्ञान और भक्ति', 'शब्द की आकर्षण-शक्ति', 'मन की दृढ़ता' उनके श्रेष्ठ विचारात्मक निबन्ध हैं। 'शब्द की आकर्षण-शक्ति' तो उनकी विद्वता का ज्वलन्त उदाहरण है।

"यह सम्पूर्ण विश्व जिसे हम प्रत्यक्ष देख-सुन सकते हैं, सब कल्पना ही कल्पना, नाशवान और क्षणभंगुर है, अतएव हेय है। इन्हीं (गौतम, कपिल) के देखा-देखी बुद्धदेव ने भी अपने बुद्धमत का यही निष्कर्ष निकाला कि जो कुछ कल्पनाजन्य है, सब क्षणिक और नश्वर है। ईश्वर तक को उन्होंने इस कल्पना के अन्तर्गत ठहराकर शून्य अथवा निर्वाण ही को मुख्य माना। रेखागणित-प्रवर्तक उक्लैदिस ज्यामिट्री की हरएक शकलों में बिन्दु और रेखा की कल्पना करते-करते हमारे सुकुमार

मति इन दिनों के छात्रों का दिमाग ही चाट गये । कहाँ तक गिनावें, सम्पूर्ण भारत का भारत इसी कल्पना के पीछे गारत हो गया, जहाँ कल्पना (Theory) के अतिरिक्त क्रियात्मक (Practical) करके दिखाने योग्य कुछ रहा ही नहीं । यूरोप के अनेक वैज्ञानिकों की कल्पना को शुष्क कल्पना से कर्तव्यता (Practice) में परिणत होते देख यहाँ वालों को हाथ मलमल पछताना और कलपना पड़ा ।

प्रिय पाठक ! कल्पना बुरी बला है । चौकस रहो, इसके पेच में कभी न पड़ना; नहीं तो पछताओगे । आज हमने भी इस कल्पना की कल्पना में पड़ बहुत-सी भारी-भारी कल्पना कर आपका थोड़ा-सा समय नष्ट किया, क्षमा करियेगा ।"

—'कल्पना-शक्ति'

विचारात्मक निबन्ध की अन्य शैली—

"योरूप के लोगों में बात करने का हुनर है । 'आर्ट ऑफ़ कन्वरसेशन' यहाँ तक बढ़ा है कि स्पीच और लेख दोनों इसे नहीं पाते । इसकी पूर्ण शोभा काव्यकला-प्रवीण विद्वन्मण्डली में है । ऐसे चतुराई के प्रसंग छेड़े जाते हैं कि जिन्हें सुन कान को अत्यन्त सुख मिलता है । सुहृद्‌गोष्ठी इसी का नाम है । सुहृदगोष्ठी की बातचीत की यह तारीफ़ है कि बात करने वालों की लियाकत अथवा पण्डिताई का अभिमान या कपट कहीं एक बात में न प्रकट हो; वरन क्रम रसाभास पैदा करने वाले सभों को बरकते हुए चतुर, सयाने अपनी बात को अक्रम रखते हैं । वह हमारे शुष्क पण्डितों की बातचीत में, जिसे शास्त्रार्थ कहते हैं कभी आवेगा ही नहीं ।"

—'बातचीत'

भट्टजी के विवरणात्मक और वर्णनात्मक निबन्ध प्रसाद-शैली में हैं । इसी शैली में अधिकतर ये निबन्ध लिखे जाते हैं, समास और व्यंग्य-शैली में लिखे ही नहीं जा सकते, यह बात नहीं । भट्टजी के विचारात्मक निबन्धों में भी प्रसाद-शैली बहुत सफल रूप में आई है । 'बातचीत' इस शैली का आदर्श नमूना कहा जा सकता है । इसमें भट्टजी की सभी विशेषताओं से सम्पन्न शैली मिलती है । यही शैली प्राय: भट्टजी का स्पष्ट रूप से प्रतिनिधित्व करती है । कहने का सीधा और व्यंग्य के पुट से पूर्ण ढंग, भाषा का समन्वित रूप, सन्तुलित वाक्य और सुलझे विचार भट्टजी की प्रसाद-शैली की विशेषताएँ हैं ।

भट्टजी की भाषा और शैली के विविध रूप हैं । कहीं-कहीं वह काव्यात्मक भावुकता-भरी सजीव भाषा लिखकर शुद्धवादियों का नेतृत्व करते पाये जाते हैं, कहीं एक ऐसी भाषा का निर्माण करते हुए, जो सबको स्वीकृत—बोधगम्य भी हो । कहीं ज्ञान-गरिमा की झोंक में उर्दू, फ़ारसी, अंग्रेज़ी के शब्द ही नहीं, वाक्य के वाक्य भाषा की महफ़िल में ऐसे बैठाते हैं कि उन्हें उठाने का किसी को साहस नहीं ।

'संजीदगी', 'बेकदर', 'दास्तान', 'आरास्ता', 'राहत', 'रूह' 'नाज-नखरा', 'जाहिर', 'जैमुर्रद' फ़ारसी-अरबी शब्द भी बेधड़क होकर प्रयोग करते हैं। निबन्धों के शीर्षक भी वह कई बार उर्दू-ढंग के रखते थे। 'हाकिम और उनकी हिक्मत', 'कौआपरी और आशिकतन', 'नाज़नखरा जाहिर करने का मौका नहीं', 'हम चुनी दीगरे नेस्त' आदि वाक्य भी जहाँ-तहाँ मिलेंगे। साधारण बोलचाल में प्रयुक्त ही नहीं, अंग्रेजी शिक्षित समाज द्वारा गोद लिये शब्द भी आप धड़ल्ले से प्रयोग करते थे। 'पुलपिट', 'फॉर्मैलिटी', 'कल्चर', 'नैचरल गिफ़्ट', 'मारेल करेज','राइटस एण्ड प्रिविलेज', 'एज़म्पशन', 'स्टैण्डर्ड', 'फ़ैशन ऑफ़ दी डे' खोजने के लिए बहुत दौड़-धूप करनी नहीं पड़ती।

भारतेन्दु-युग की खड़ीबोली के गद्य का बहुत सुन्दर, सुगठित, सशक्त नमूना हमें भट्टजी की रचनाओं में मिलता है। युग के भाषा-स्खलन और भाषा-मिश्रण से भी भट्टजी नहीं बचे। यह दोष भारतेन्दु तक में था। प्रतापनारायण मिश्र में तो यह स्खलन और मिश्रण और भी चमकीला होकर आया। पूर्वी प्रयोग भट्टजी के लेखों में साधारण बात है। 'समझाय बुझाय', 'फ़ुर्सत पाय', 'नाक चढ़ाय चढ़ाय,' 'मुँह बगार-बगार' पूर्वी ढंग की पूर्वकालिक क्रियाएँ हैं। ब्रजभाषा का प्रभाव भारतेन्दु-युग में था ही, उससे यह भी नहीं बच सके। औकार और ऐकार भी जहाँ-तहाँ दिखाई दे जाता है। 'कहैं', 'सिधारै','पड़ैगा', 'करैंगी', 'लड़ै', 'पचै' के प्रयोगों से यह स्पष्ट है। 'दो चार कच्ची-पक्की कह सुन लिया', 'मुझे डर लगी', 'वेद के उत्पत्ति का समय', 'लीला देखा', 'पहले तक की तो मुझे होश है', अशुद्ध व्याकरणिक प्रयोग भी तलाश किये जा सकते हैं। कभी-कभी, पर बहुत ही कम, वाक्यों की बनावट उर्दू ढंग की होती थी। इन दोषों के साथ ही भट्टजी के ग्रामीण प्रयोग बड़े सशक्त और उपयुक्त हैं। शब्द को बैठाना वह खूब जानते हैं। सर्वसाधारण द्वारा प्रयुक्त शब्दों का अर्थ और प्राण-शक्ति को भट्टजी बहुत अच्छी तरह समझते थे। कभी-कभी बहुत सुन्दर वर्णशंकर शब्दों का निर्माण भी करते थे। 'मन-माफ़िक' बुरा तो नहीं लगता।

भट्टजी के गद्य के दोष युग की निर्बलता हैं। दोष तलाश करने से मिलते हैं, गुण जहाँ-तहाँ बिखरे पड़े हैं। सम्पूर्ण निबन्ध साहित्य को लें, तो इनकी भाषा में अनोखी सफ़ाई है। सशक्त व्यंग्य है, गहन अर्थ और अभिव्यंजना की शक्ति है। व्यंग्य-विनोद-सम्पन्न शीर्षकों और लेखों द्वारा एक ओर तो वह प्रतापनारायण के पास बैठे हैं और गम्भीर विवेचन और विचारात्मक निबन्धों को लिए आचार्य शुक्ल के पास। प्रसाद-शैली में सरल विचार पाठक तक पहुँचाने के प्रयत्न में वह द्विवेदी के पास आ जाते हैं और भावात्मक-काव्य-गुण-सम्पन्न शैली में वह गद्य-काव्य के प्रलापी

कलापियों को प्रकाश दिखाने लगते हैं। वह अपने युग के सर्वश्रेष्ठ निबन्धकार हिन्दी के मोनतैङ् हैं।[1]

१. बाबू श्यामसुन्दरदास ने प्रतापनारायण मिश्र को हिन्दी का मोनतैङ् कहा है। ऐतिहासिक रूप में भी बालकृष्ण भट्ट हिन्दी के प्रथम निबन्धकार हैं और विषय-विविधता की कसौटी पर उनकी रचनाएँ परखी जायँ तो वह अपने युग में सर्वश्रेष्ठ। भट्टजी को ही हिन्दी का मौनतैङ् कहना अधिक सार्थक है।

३

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

युग-पुरुष आते हैं, युग की छाती पर लकीर खींचकर चले जाते हैं। अवतारी पुरुषों की यही लकीरें इतिहास बनाती हैं। भारतेन्दु ऐसे ही अवतारी युग-पुरुष थे। वह एक युग थे—युग-प्रतीक थे। उनकी कला-प्रतिभा के हिमाचल से अनेक साहित्य-सरिताएँ बह निकलीं। भारतेन्दु के नाटककार को तो समीक्षकों और इतिहासकारों ने पहचाना, निबन्धकार को वे भूले ही रहे; पर निबन्धकार को उनका नाटककार दबा न सका। भारतेन्दु अपने युग के श्रेष्ठ निबन्धकार हैं। नाटक में कला की व्यापक चित्रशाला के पीछे भारतेन्दु छिप तक जाते हैं, निबन्ध में नहीं छिप सकते। निबन्ध में भी वह चमकीला और प्राणवान व्यक्तित्व लेकर आये। साधन और शैली की कठिनाई के कारण नाटक में लेखक का यथार्थ निज चमक ही नहीं पाता। सीधे रूप में वह आयेगा ही कैसे? दो के बीच का अन्तर निबन्ध में लोप हो जाता है। इसलिए भारतेन्दु का निज जितना स्पष्ट और साकार निबन्धों में मिलेगा, अन्य रचनाओं में नहीं। निबन्ध ही भारतेन्दु के यथार्थ विचारों और विश्वासों का चित्र उपस्थित करते हैं। इनमें शैलियाँ भी सभी मिल जायँगी। और भाषा का विवेचनात्मक गाम्भीर्य तो केवल निबन्धों में ही है।

विषय-विविधता की दृष्टि से भी उनके निबन्धों की खासी संख्या है। इतिहास, धर्म, समाज, राजनीति, आलोचना, खोज, यात्रा, प्रकृति-वर्णन, आत्मचरित, व्यंग्य-विनोद आदि सभी विषयों पर भारतेन्दु जी ने लिखा। 'काश्मीर-कुसुम', 'उदयपुरोदय', 'कालचक्र', 'बादशाह-दर्पण', ऐतिहासिक निबन्ध हैं। इनमें इतिहास की सचाई न खोजें, भावोत्तेजक घटनाओं को ही अधिक महत्त्व दिया गया है। उद्देश्य है, देश को जगाना, इसलिए बहुत-सी सुनी-सुनाई बातें इनमें हैं। वैद्यनाथधाम, हरिद्वार और सरयूपार की यात्राओं पर तो बहुत अच्छे विवरणात्मक निबन्ध भारतेन्दुजी ने लिखे। ये तो आज भी हिन्दी के नवीनतम श्रेष्ठ निबन्धों में रखे जा सकते हैं। जीवन की स्वच्छन्दता, सप्राणता और चंचलता इनमें मिलेगी। बीच-बीच में प्राकृतिक चित्र, व्यंग्य और चुटकुलों की छटा निबन्धों में नया आकर्षण भर देती है। एक वर्णन—"ठण्डी हवा मन की कली खिलाती हुई बहने लगी × दूर से धानी और काही रंग के पर्वतों पर सुनहरापन आ चला × कहीं आधे पर्वत बादलों से घिरे हुए, कहीं एक साथ बाष्प निकलने से उनकी चोटियाँ छिपी हुई और कहीं चारों ओर से उन पर

जलधारा पात से बुक्के की होली खेलते हुए बड़े ही सुहावने मालूम पड़ते थे ×"

यात्रा-सम्बन्धी विवरणात्मक निबन्धों में कहीं-कहीं गजब का व्यंग्य है। गाड़ी की शिकायत करते हुए आप लिखते हैं—"गाड़ी भी ऐसी टूटी-फूटी जैसे हिन्दुओं की किस्मत और हिम्मत ×···अब तो तपस्या करके गोरी-गोरी कोख से जन्म लें तब संसार में सुख मिले ×" एक महाजन का परिचय लीजिए—"महाजन एक यहाँ है × वह टूटे खपड़े में बैठे थे × तारीफ़ यह सुना कि साल भर में दो बार क़ैद होते हैं क्योंकि महाजन पर जाल करना फर्ज़ है और उसको भी छिपाने का शऊर नहीं ×"

शुद्ध रूप से व्यंग्यात्मक निबन्ध भी भारतेन्दुजी ने लिखे। 'लेवी प्राणलेवी,' 'स्वर्ग में विचार-सभा का अधिवेशन', 'ज्ञातिविवेकिनी सभा', 'पाँचवें पैगम्बर', 'अंग्रेज़ स्तोत्र', 'कंकड़ स्तोत्र' में इनका व्यंग्य बहुत चमका है। हमें तो जो सशक्त, मधुर, प्रभावशाली और सार्थक व्यंग्य इनके निबन्धों में मिला, प्रहसनों में नहीं। व्यंग्य के दो रूप इनमें मिलते हैं—एक तो शब्दगत और दूसरा अर्थगत। शब्दगत व्यंग्य यथार्थ नहीं, बहुरुपिया है—व्यंग्य का चोला पहने हुए। अर्थगत व्यंग्य ही स्थायी और यथार्थ है। शब्दगत व्यंग्य अधिकतर श्लेष से उत्पन्न किया जाता है, वह मदारी का व्यंग्य है, साहित्य-स्रष्टा का नहीं। शब्दगत व्यंग्य का एक नमूना—"मिठाई हरैया की तारीफ़ के लायक है × बालूसाही सचमुच बालूसाही है × भीतर काठ के टुकड़े भरे हुए × लड्डू भूर के × बरफी अहा हा हा ! गुड़ से भी बुरी × खैर लाचार होकर चने पर गुज़र की × गुज़र गई गुज़रान क्या झोंपड़ी क्या मैदान ×"

"वाह रे बस्ती × झख मारने को बसती है × अगर बस्ती इसी को कहते हैं तो उजाड किसको कहेंगे × सारी बस्ती में कोई भी पण्डित बस्तीराम ऐसा पंण्डित नहीं है × खैर अब तो एक यहाँ बसति होगी ×"

—'सरयूपार की यात्रा'

अर्थगत व्यंग्य का बहुत अच्छा नमूना 'कंकड़ स्तोत्र' है। इसमें सांस्कृतिकता, कला और अर्थ-व्याप्ति का सुन्दर सामंजस्य है—

'कंकड़ देव को प्रणाम है × देव नहीं महादेव क्योंकि काशी के कंकड़ शिवशंकर के समान हैं। हे लीलाकारिन् ! आप केशी, शकट, वृषभ खरादि के नाशक हो। इससे मानो पूर्वार्द्ध की कथा हो अतएव व्यासों की जीविका हो। आप वानप्रस्थ हो क्योंकि जंगलों में लुढ़कते हो, ब्रह्मचारी हो क्योंकि बटु हो। गृहस्थ हो चूनार रूप से, सन्यासी हो क्योंकि घुट्टमघुट्ट हो। आप अंग्रेज़ी राज्य में भी गणेश चतुर्दशी की रात को स्वच्छन्द रूप से नगर में भड़ाभड़ लोगों के सिर पर पड़कर रुधिरधारा से नियम

श्रौर शान्ति का श्रस्तित्व बहा देते हो श्रतएव हे अंग्रेज़ी राज्य में नवाबी स्थापक ! तुम को नमस्कार है।"

—'कंकड़ स्तोत्र'

भाषा-शैली की कसौटी से देखें तो इनके निबन्धों में विविध शैलियाँ मिलती हैं। भाषा में मार्मिक श्रभिव्यंजना, विदग्ध वाग्मिकता, सजीव श्रनेकरूपता श्रौर मन-मोहक स्वच्छता मिलेगी। स्वाभाविक सरल श्रलंकार-योजना भी है। कई निबन्धों में गोष्ठी—वार्तालाप—का ढंग भी श्रपनाया गया है। भाषा में दुरूहता, दुर्बोधता, कृत्रिमता श्रौर समासात्मकता नहीं—वाक्य-योजना श्रौर भाव-प्रकाशन दोनों ही सरल। कहीं-कहीं क्रियाश्रों का श्रभाव भाषा को तीव्र प्रवाह प्रदान करता है। "चारों श्रोर हरी-हरी घास का फ़र्श × ऊपर रंग-रंग के बादल × गड़हों में पानी भरा हुश्रा × सब कुछ सुन्दर······×" को क्रिया का लोप जानदार बना रहा है। कभी-कभी मस्ती में श्राकर यह सितारेहिन्दी 'हिन्दी' भी लिख डालते थे। 'ख़ुशी' इनका एक विचारात्मक निबन्ध है। इसे पढ़कर नहीं लगता कि—'सत्य हरिश्चन्द्र', 'वैष्णवता श्रौर भारतवर्ष' या 'नाटक' का भारतेन्दु इसका लेखक है। "हरदिलख़्वाह श्रासूदगी को ख़ुशी कह सकते हैं याने जा हमारे दिल की ख़्वाहिश हो वह कोशिश करने या इत्तिफ़ाक़ियः-बग़ैर कोशिश बर श्रावे तो हम को ख़ुशी हासिल होती है", ख़ुशी की परिभाषा देते हुए श्राप लिखते हैं। यात्रा-सम्बन्धी निबन्धों में भी श्रापने कहीं-कहीं ऐसी ही भाषा का प्रयोग किया है। लगता है, ये निबन्ध प्रारम्भिक श्रवस्था के हैं। यह उर्दू-शैली श्राई भी केवल एक-दो निबन्धों में ही।

भारतेन्दुजी की भाषा-प्रौढ़ता का श्रादर्श हम 'नाटक' श्रौर 'वैष्णवता श्रौर भारतवर्ष' में पाते हैं। इन निबन्धों में भाषा की गम्भीरता, शक्ति-सम्पन्नता, तत्समता, स्वच्छता सभी-कुछ मिलता है। गम्भीरता होते हुए भी सुबोधता, शक्ति-सम्पन्नता होते हुए भी तरलता श्रौर गतिशीलता, तत्समता होते हुए भी सरलता श्रौर समास-हीनता इसमें मिलती है। ये दोनों निबन्ध विचारात्मक हैं। भारतेन्दुजी की विनोद-प्रियता, चुटकुलेबाज़ी, लापरवाही, व्याकरणीय उपेक्षा इनमें कम ही मिलेगी। एक प्रौढ़ विवेचक श्रौर सतर्क श्रालोचक के रूप में भारतेन्दुजी इनमें उपस्थित हैं। शैली इनकी विवेचनात्मक है। श्रन्य विवरणात्मक श्रौर वर्णनात्मक निबन्ध प्रसाद-शैली में हैं। एक-दो स्थानों पर प्रवाह-शैली भी मिलती है।

"प्रथमतः कर्ममार्ग में फँसकर लोग श्रनेक देवी देवों को पूजते हैं किन्तु बुद्धि का यह प्रकृत धर्म है कि यह ज्यों-ज्यों समुज्ज्वल होती है श्रपने विषय मात्र को उज्ज्वल करती जाती है। थोड़ी बुद्धि बढ़ने ही से यह विचार चित्त में उत्पन्न होता है कि इतने देवी देव इस श्रनन्त सृष्टि के नियामक नहीं हो सकते। इसका कर्त्ता स्वतन्त्र

कोई विशेष शक्तिसम्पन्न कोई ईश्वर है। तब उसका स्वरूप जानने की इच्छा होती है अर्थात मनुष्य कर्म-काण्ड से ज्ञान-काण्ड में आता है। ज्ञान-काण्ड में सोचते-सोचते संगति और रुचि के अनुसार या तो मनुष्य फिर निरीश्वरवादी हो जाता है या उपासना में प्रवृत्त होता है। उस उपासना की विचित्र गति है। यद्यपि ज्ञानबुद्धि के कारण प्रथम मनुष्य साकार उपासना छोड़कर निराकार की ओर रुचि करता है किन्तु उपासना करते करते जहाँ भक्ति का प्राबल्य हुआ वहीं अपने उस निराकार उपास्य को भक्त फिर साकार करने लगता है। बड़े बड़े निराकारवादियों ने भी 'प्रभो दर्शन दो, अपने चरण कमलों को हमारे सिर पर स्थान दो अपनी साधुमयी वाणी श्रवण कराओ' इत्यादि प्रयोग किया है। वैसे ही प्रथम सूर्य पृथ्वीवासियों को सबसे विशेष आश्चर्य और गुणकारी वस्तु बोध हुई, उससे फिर उनमें देव बुद्धि हुई। देव बुद्धि होने ही से आधिभौतिक सूर्यमण्डल के भीतर एक आधिदैविक नारायण लाये गये। फिर अन्त में कहा गया कि नारायण एक सूर्य ही में नहीं सर्वत्र है और अनन्त कोटि सूर्य चन्द्र तारा उन्हीं के प्रकाश से प्रकाशित हैं अर्थात आध्यात्मिक नारायण की उपासना में लोगों की प्रवृत्ति हुई।"

—'वैष्णवता और भारतवर्ष'

"जिस नाटक की उत्तरोत्तर कार्य प्रणाली सन्दर्शन करके दर्शक लोग पूर्व पूर्व कार्य विस्मृत होते जाते हैं, वह नाटक कभी प्रशंसा-भाजन नहीं हो सकता। जिन लोगों ने केवल उत्तम उत्तम वस्तु को चुनकर एकत्र किया है उनकी गुम्फित वस्तु की अपेक्षा जो उत्कृष्ट मध्यम और अधम तीनों यथास्थान निर्वाचन करके प्रकृति की भाव-भंगी उत्तम रूप से चित्रित करने में समर्थ है वही काव्यामोदी रसज्ञ मण्डल को अपूर्व आनन्द वितरण कर सकते हैं।"

—'नाटक'

भाषा-सम्बन्धी युग की लापरवाही निबन्धों में भी मिलती है। इस युग के हर-एक लेखक में ये दोष पाये जाते हैं। व्याकरणिक अशुद्धियाँ जहाँ—तहाँ हैं। 'हौं,' 'बेर', बातैं', 'पुस्तकैं', 'गिरैंगे', 'कहैंगे', 'भरैंगे', 'कधी', 'किए चाहिए', तारीफ़ यह सुना', 'जाती समय', 'उनके आत्मा का दल', 'किसी को हमारी डर है', 'रह गई पाण्डित्य', 'तुम लोगों को सेल्फ़ गवर्नमेण्ट है', इनकी भाषा के दोष दिखाने के लिये पर्याप्त हैं।

भारतेन्दु में युग की उदारता बोलती थी। यह मानवधर्म के समर्थक थे। इन्होंने स्वामी दयानन्द से असहमत होते हुए भी 'स्वर्ग में विचार-सभा का अधिवेशन' में उनकी देशभक्ति की प्रशंसा की। केशवचन्द्र का समर्थन किया। देशभक्त तो पक्के थे ही—भारत-भूमि के दीवाने। पर इनकी रचनाओं में सन्तुलित प्रगति-

शीलता नहीं—प्रगतिशील विचारक हम इन्हें नहीं कह सकते। भट्टजी के विचारों में अधिक स्वाधीनता और प्रगतिशीलता मिलेगी। इन सीमाओं के बीच तो राधाचरण गोस्वामी भी इनसे आगे निकल गये हैं। सम्भवत: भारतेन्दुजी की पारिवारिक सम्पन्नता और परम्पराओं के कारण ऐसा हो। इसलिए इनका व्यंग्य कई बार वैसे ही हो जाता है, जैसे किसी की मज़ाक बनाने के लिए अपनी सूरत ही बिगाड़ लेना। नीचे दिया गया अवतरण उदाहरण है—"देखो शराब पियो, विधवा-विवाह करो, बालपाठशाला करो, आगे से लेने जाओ, बाल्य-विवाह उठाओ, जाति-भेद मिटाओ, कुलीन का कुल सत्यानाश में मिलाओ, होटल में लव करना सीखो, स्पीच दो, क्रिकेट खेलो, शादी में खर्च कम करो, मेम्बर बनो, दरबारदारी करो, चुस्त-चालाक बनो, हम नहीं जानते को हम नहीं जानटा कहो।"

—'पाँचवे पैग़म्बर'

'होटल में लव करना', 'शराब पीना', 'दरबारी करना' और 'विधवा-विवाह करना', बाल्य-विवाह उठाना', 'जाति-भेद मिटाना' क्या समान हैं? विचारों का सन्तुलन नहीं, मस्ती में आकर लिख मारा।

पर भारतेन्दुजी को हमें यहाँ न खोजना चाहिए, वह मिलते हैं, शासन की पीठ पर व्यंग्य के कोड़े लगाते हुए, दकयानूसी समाज को गुदगुदी करते और धकेलते आगे बढ़ाते हुए। वह मिलते हैं हिन्दी के लिए अपना सर्वस्व होमते हुए, प्रभात से उज्ज्वल और संकल्प से सबल हाथ में जलती मशाल लिये साहित्य को भविष्य का पथ दिखलाते हुए।

भाषा में चिह्न × पूर्ण विराम के स्थान पर लगाया गया है। भारतेन्दुजी की रचनाओं में विरामों का प्रयोग नहीं, और है भी तो बहुत कम। पाठ की सुविधा के लिए ऐसा किया गया है।

४

बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमधन'

हिन्दी को स्वच्छता, भावात्मकता, सरलता, मधुरता और स्वाभाविकता प्रदान की भारतेन्दु ने; गम्भीरता, अभिव्यंजना, विविधरूपता, विचार-सम्पन्नता की भट्ट जी ने; और उसमें चंचलता, स्फूर्ति, विनोद-प्रियता, सामान्य ग्रामीणता और सुबोधता भरी प्रतापनारायण मिश्र ने। इन तीनों गद्यकारों की भाषा में अलंकार-आडम्बर, विधान-दुरूहता और प्रकाशन-अस्पष्टता न थी। उसका स्वाभाविक स्वरूप स्थिर हो चला। 'प्रेमधन' अपनी प्रथक विलक्षण शैली लेकर हिन्दी में आये। 'भारतेन्दु-युग' के वह प्रमुख लेखक और पत्रकार हैं; पर उनकी भाषा का आदर्श है अपना अलग—विलक्षण।

प्रेमधन जी भारतेन्दु के मित्र थे। वेशभूषा भी वह भारतेन्दु जैसी ही रखते। उनके समान ही लक्ष्मी की कृपा—बात-बात में रईसी। भारतेन्दु रईस होते हुए भी फक्कड़ तबीयत के मनुष्य थे—वह मस्ती और लापरवाही 'प्रेमधन' में नहीं। इनके इसी रईसी स्वभाव, जनसम्पर्क के अभाव, शृंगार-कलाभिरुचि ने इनकी भाषा और शैली को विचित्र स्वरूप दिया। इनकी कला का आदर्श जन-जन का मनोरंजन नहीं, सामान्य समाज में प्रियता प्राप्त करना नहीं, शृंगार-सदन में सजते रहना, अपने सौन्दर्य पर स्वयं मुग्ध होना और आराम से पड़े एक-आध बाग-विलासी के यहाँ पहुँच मन-बहलाव कर आना। ऐसी भाषा जनसम्पर्क में न आयेगी, न उसमें प्राणी होंगे, न जीवन-शक्ति। वह तो अपने विलास-भवन में ही भर जायगी।

इनके साहित्य-सृजन का उद्देश्य, भारतेन्दु, भट्ट और मिश्र जी के समान जन-सत्तात्मक नहीं। साधारण समाज तक अपनी बात पहुँचाने की चिन्ता नहीं, लगता है, कला के लिए कला, जीवन से उसका सम्बन्ध क्या? 'कलम की करामात' दिखाना ही कला की सबसे बड़ी सिद्धि है। बड़े-बड़े मज़मून बाँधने का जोश इनमें है। शब्दों की विचित्र फुलझड़ियाँ छोड़ने के अरमान इन्हें गुदगुदाते हैं। भाषा को रंगीन बनाना, शैली पर अलंकारों का इतना बोझ लादना कि वह स्वाभाविक चाल भूल, रेंगने लगे, इनका नशा था। यह लिखते नहीं थे, बैठकर एक-एक शब्द गढ़ते—उन्हें नगीनों की तरह जमाते। इनकी कला व्यक्ति या वर्ग विशेष के लिए है, सामान्य समाज के लिए नहीं। इतना सब कुछ होते हुए भी इनकी भाषा में पूरा आडम्बर ही नहीं है, उसमें सूक्ष्म विचार-विवेचन की सामर्थ्य भी है।

'प्रेमघन' जी ने दो पत्र प्रकाशित किये—मासिक 'आनन्दकादम्बिनी' और साप्ताहिक 'नागरी-नीरद'। ये दोनों पत्र, इन्होंने अपने उमड़ते हुए विचारों, भावों और साहित्यिक आदर्शों को सन्तुष्ट करने के लिए ही निकाले। इनमें बाहर के लेख बहुत ही कम रहते। भारतेन्दु जी ने एक बार इन्हें लिखा भी कि इनमें सभी विचारों, प्रकारों और शैलियों की सामग्री रहनी चाहिए। भारतेन्दु को इनसे, एकरसता के प्रति शिकायत थी और इनको भारतेन्दु से उनकी जल्दबाजी और लापरवाही के प्रति। दोनों पत्रों में 'प्रेमघन' जी ने निबन्धों, लेखों, समाचारों और शीर्षकों—द्वारा अपने आदर्श पाठकों के सामने रखे।

'आनन्दकादम्बिनी', संवत् १९४२ की संख्या में छपा एक समाचार—"दिव्य देवी श्री महारानी बढ़हर लाख झंझट झेल और चिरकाल पर्यन्त बड़े-बड़े उद्योग और मेल से दुःख के दिन सकेल, अचल कोर्ट पहाड़ ढकेल फिर गद्दी पर बैठ गईं। ईश्वर का भी क्या खेल है कि कभी तो मनुष्य पर दुख की रेल-पेल और कभी उसी पर सुख की कुलेल है।" इस समाचार में 'झेल', 'मेल', 'सकेल', 'ढकेल', 'खेल, 'रेलपेल', 'कुलेल' शब्दों में अनुप्रास की अस्वाभाविक भीड़ है। 'नागरी-नीरद' के शीर्षक भी ऐसे ही विचित्र, हास्यास्पद, सानुप्रास और गढ़े हुए होते थे। 'सम्पादकीय सम्पति-समीर', 'हास्यहरितांकुर', 'नियम-निर्दोष', 'विज्ञापन वीर बहूटियाँ'—स्तम्भ-शीर्षक न होकर वर्षा के रूपक मात्र हैं। 'नागरी-नीरद' का अर्थ है, 'हिन्दी का बादल बादल बरसे तो ठण्डी हवा क्यों न चले, हरी-हरी घास क्यों न उग आये, मेघ-गर्जन क्यों न हो? बीर बहूटियाँ क्यों न रेंगने लगें?'

'प्रेमघन' जी की भाषा में कृत्रिमता बहुत है। बलात अरुचिकर लगने वाले अनुप्रास की भीड़-भाड़ साधारण बात है। इन्होंने एक बार आचार्य शुक्ल जी की एक पंक्ति को सुधारकर यों रूप दिया था—"दोनों दलों-दलदली में दलपति का विचार भी दलदल में फँस रहा।" दलपति का विचार दलदल में फँसा या नहीं, पर 'प्रेमघन' जी की अभिव्यंजना, विवेचना-शैली सभी कृत्रिमता की दलदल में फँसकर रह गईं। विलक्षण पद-विन्यास, भाषा की दुरूहता, वाक्यों की लम्बाई, समास-प्रियता, अलंकारों की बोझल सजावट आदि ने इनकी भाषा को अस्वाभाविक, अव्यवहारिक और अर्थबोध के लिए अशक्त बना दिया। अपनी विलक्षण शैली के कारण 'प्रेमघन' जी अकेले रह गये। एक-दो लेखकों को छोड़, किसी ने इस हथौड़ी-निर्मित शैली के लिए सिर-खपाई न की।

'प्रेमघन' की भाषा में पूर्वीपन का भी प्रभाव है, पर अधिक नहीं। 'भई' 'भया' के प्रयोग भी मिल जाते हैं। 'कराकर', 'आनपड़ा', 'तौ भी' जैसे पंडिताऊ शब्द भी तलाश किये जा सकते हैं। 'पहले भी' के स्थान पर 'आगे भी' 'लिख ही' के

स्थान पर 'लिखी'; 'है ही नहीं' के लिए 'हइ नहीं'; 'कहने लगे' के स्थान पर 'कहने लग पड़े' का प्रयोग भी इनकी भाषा में मिलता है। लल्लूलाल के समान तुकांत गद्य की रुचि भी इनमें है। "श्रीमान् लेफ्टीनेण्ट गवर्नर भी आये शिकार के बहाने जंगल में मंगल मचाये। पहाड़ों पर बाजारें लगीं। स्थानिक कर्मचारियों की ख़ैरख्वाहियाँ जगीं। कुछ लोग जो लखाये तो अनेक बेगार से चिल्लाये नगर के टाउनहाल में ऐड्रेस का तदवीर भी हुआ।' इस उद्धरण में 'आये', 'मचाये', 'लगी—'जंगी', 'तरखाए-चिल्लाये' में 'तुक' और 'मचाये', 'लगी', 'तदबीर हुआ' में व्याकरण-सम्बन्धी दोष स्पष्ट हैं।

'मचाये' भूतकालीन सकर्मक क्रिया है। कर्त्ता के साथ 'ने' विभक्ति चाहिए। 'बाज़ारें लगीं' के स्थान में 'बाज़ार लगे' होना चाहिए। 'तदबीर हुआ' नहीं 'तदबीर हुई'।

एक उद्धरण—

"निदाति उस देववाणी वा वेद भाषा त्रिपथगा की इहलौकिक धारा वैदिक-अपभ्रंश-गंगोतरी से जो आर्य प्राकृत नाम्नी गंगा बही हो जैसे। सुरसरिता क्रमशः अनेक नाम और रूप धारण करती कोड़ियों नदीनद को अपने में लीन करती भारत भूमि के प्रधान भागों को उपजाऊ बनाती सैकड़ों शाखाओं में बटकर समुद्र में जा मिली और जैसे गंगोतरी से चलकर प्रयाग तक जान्हवी अपनी श्वेत धारा सुधा स्वादु सलिल के रूप और गुण को स्थिर रख सकी, किन्तु यमुना से मिलकर वर्ण में श्यामता और गुण में वातुलता ला चली, उसी प्रकार आर्य प्राकृत भी हिमालय से लेकर कुरुक्षेत्र तक आते अपने रूप और गुण को स्थिर रख सकी। इसके पीछे जनपद विस्तार-क्रम के अनुसार इसके रंग, रूप और गुणों में भेद हो चला।"

—'हिन्दी भाषा का विकास'

'हिन्दी भाषा का विकास' 'प्रेमधन' जी का विचारात्मक निबन्ध है। विषय के अनुसार इस निबन्ध की 'प्रसाद' या 'विवेचन'-शैलियाँ होनी चाहिएँ। सरल, सुबोध, प्रसादात्मक शैली में समझाने से पाठकों के पल्ले कुछ पड़ता भी। विवेचनात्मक शैली में हिन्दी के समर्थक विद्वानों को प्रामाणिक सामग्री मिलती, विरोधी तर्क, युक्ति प्रमाण आदि से अभिभूत होते। इस उद्धरण में 'प्रेमधन' की शैली की अनेक विशेषताएँ उपस्थित हैं। 'वेदभाषा-त्रिपथगा', 'अपभ्रंश-गंगोतरी', 'आर्य प्रकृत नाम्नी गंगा' में विचित्र रूपक खड़े किये गये हैं। वाक्य की लम्बाई फेफड़ों की परीक्षा लेती है, प्रसंग की दुरूहता स्मरण-शक्ति को चुनौती देती है। 'निदान देववाणी' से वाक्य आरम्भ हुआ और 'स्थिर रख सकी' पर समाप्त—पूरे ८० शब्दों में। इस उद्धरण की शैली को दुरूह 'समास-प्रधान' कहा जा सकता है।

"सुन्दर हरित पत्रावलियों से भरित तरुगनों की सुहावनी लताएँ लिपट-लिपट मानों मुग्ध मयंक मुखियों को अपने प्रियतमों के अनुरागालिंगन की विधि बतलाती। युक्त पर्वतों के शृंगों के नीचे सुन्दरी दरा समूह से स्वच्छ, श्वेत जल-प्रवाह ने मानों पारा की धारा और बिल्लौर की ढार को तुच्छ कर युगल पार्श्व की हरी-भरी भूमि के कि जो भारे हरेपन के श्यामता की झलकदे अलक की शोभा लाई है, बीचों-बीच माँग-सी काढ़ मन माँग लिया और पत्थर की चट्टानों पर सुन्बुल अर्थात् हंसराज की जटाओं की बिखरी हुई लटों के लावण्य का लाना है।"

—'परिपूर्ण पावस'

यह उद्धरण 'परिपूर्ण पावस' एक वर्णनात्मक निबन्ध से लिया गया है। शैली की काव्यात्मकता स्पष्ट है। लेखक भाषा की रंगीनी और माधुर्य बिखराता चलता है। प्रसाद-शैली यह है नहीं, जो प्रायः ऐसे निबन्धों में व्यवहृत होती है। 'हरित भरित', 'मुग्ध-मयंकम मुखियों', 'पारा-धार', 'झलक-अलक', 'लटों-लावण्य-लाना' में अनुप्रास, 'सुन्दरी-दरी' और 'माँग से काढ मन माँग' के 'माँग' में यमक की छटा है; उत्प्रेक्षा भी एक-दो मिल ही जायँगी। 'प्रतीप' भी खोजा जा सकता है। वर्णन में काव्य की मधुरता है, शैली अधिक बोझल नहीं, कृत्रिमता इसमें अवश्य है, लम्बे वाक्य का व्यसन इसमें पूरा किया गया है। 'उपाध्याय पण्डित बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमधन'—इतने बड़े नाम वाला लम्बे वाक्य लिखे कोई आश्चर्य तो नहीं। इस नाम की लम्बाई का मुकाबला 'राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह' भले करलें, और किसी की तो ताब नहीं।

दो अवतरण और लें—

"धन्य-धन्य उस परब्रह्म सच्चिदानन्द धन को कि जिसकी कृपावारि-बिन्दु-वर्षा से, आनन्द-प्रमत्त हो अचानक आज फिर यह मन-मयूर उत्साह-आलम्बन कर आनन्द-कादम्बिनी के आनन्द-विस्तार-लालसा से थिरकने लगा, और बिना किसी सोच-विचार के लेखनी चातक बन चहँकार चली कि मेरे प्यारे रसिको! आओ आज के समागम (में) चिर वियोग—दुःख को भूलें और बहुत दिनों से मानवती बैठी वार्ता—बधूटी के आरम्भ—घूंघट को खोल उसके आनन्द-मन्द-स्मित का स्वास्थ्य अनुभव करें कुछ अपनी-बीती सुनायें और कुछ तुम्हें भी सुनाने का अवसर दें।"

—'उत्साह-आलम्बन'

"वह कौन ऐसा आत्मपरायण है, जो विदेश भ्रमण कर थकित गात हो अपनी प्रिय जन्मभूमि की ओर पद रक्खे, तो स्वदेश-स्नेह और अनुराग से न उछलने लगे। यदि कोई ऐसा है, तो उसे आँख खोल देख लो, क्योंकि ऐसे नीच के विषय में कवि की लेखनी कभी उच्छ्वास नहीं लेती चाहे वह कैसा ही लक्ष्मीवान, कीर्तिमान् वा

उपाधियों से भूषित क्यों न हो, क्योंकि यह सब शक्तियाँ अर्थात उपाधि, धन और कीर्ति, उसने एकमेव स्वार्थ—साधन ही में लगाई है, इससे जीते जी वह अपनी अमल कीर्ति का लोप होते देखगा, और इस प्रकार मृत्यु के स्मारक-स्तम्भ पर कभी कवि की अमरकारी टाँकी का शब्द न सुन पड़ेगा और न उसकी समाधि किसी के प्रेमाश्रु से सींची जायगी। इसमें सन्देह नहीं कि जैसा स्नेह, प्यार तथा आदर मनुष्य अपने देश का करता है, वैसा कदाचित वह दूसरे देश का नहीं कर सकता। इस विषय में उसकी बुद्धि कुछ ऐसी पक्षपातिनी हो जाती है कि वह चाहे कैसा ही शोभा-सम्पन्न स्थान क्यों न देखे, अथवा परमोत्कृष्ट नगरों में क्यों न भ्रमण करे, पर उन सबों में अपने देश और नगर के समक्ष उसे कुछ न कुछ न्यूनता ही देख पड़ेगी। गोल्डस्मिथ जब देशाटन करने को निकला था, तब वह यह निश्चय करना चाहता था कि कौनसा ऐसा देश है जो सर्वोत्कृष्ट, सर्वोत्तम, सर्वसम्पत्ति से सम्पन्न तथा सुखी है। परन्तु उसे यही कहना पड़ा—'जिस देश में जो रहता है उसकी आँखों में उस देश से बढ़कर अन्य कोई देश नहीं'।"

—'जन्मभूमि'

जब कभी भाषा की सजावट का व्यसन कम होता, सरल, सुबोध और स्वाभाविक भाषा भी यह लिखते। 'नाटकों' में उर्दू मिश्रित भाषा भी इन्होंने लिखी; पर निबन्ध में यह संस्कृत आतंकित भाषा ही लिखते रहे। विचारात्मक और वर्णनात्मक निबन्ध ही इन्होंने अधिकतर लिखे। 'आनन्दकादम्बिनी' में प्रकाशित साहित्यिक मनोरंजक लेख 'हमारी मसहरी' और 'हमारी दिनचर्या' कहते हैं, 'प्रेमधन' द्वारा ही लिखे गये थे। 'मसहरी' का आनन्द तो साहित्यिक मर्मज्ञ ही ले सकता है। 'दिनचर्या' में काव्यपूर्ण मधुर भाषा का स्वाभाविक प्रवाह है। न इसमें दुरूहता, न लम्बे वाक्य और न अलंकारों का बोझ। यदि यह 'प्रेमधन' की ही रचना है, तो उनकी अन्य रचनाओं से बिलकुल भिन्न है। वर्णनात्मकता में भावात्मकता का प्रशंसनीय मिश्रण है। 'फाल्गुन', 'मित्र', 'ऋतु-वर्णन' भी इनके अच्छे निबन्ध हैं।

५

प्रतापनारायण मिश्र

जन-साहित्य का जन-भाषा में लिखने वालों में प्रतापनारायण सबसे आगे रहे। मिश्र जी के व्यक्तित्व में निराला आकर्षण था। इनके चलबुले प्राण इनकी रचनाओं में चंचल हैं। भारतेन्दु-युग का लापरवाह फक्कड़पन, अथक उत्साह, हास-परिहास रचनाओं में चुभीले व्यंग्य, गुदगुदी-भरा विनोद मिश्र जी में घुल-मिल गये थे। फिर भी मिश्र जी का व्यक्तित्व इतना प्रकास्वान, स्वाधीन और पृथक है। लगता है, मानस में जोश और आवेग की बाढ़ उमड़ रही है—वही वाणी और लेखनी से फूट निकल रही है। निश्चय ही उनका व्यक्तित्व सम-सामयिक लेखकों से लकीर खींचकर अलग किया जा सकता है।

बालकृष्ण भट्ट के समान प्रतापनारायण मिश्र भी जीवन से सूझने वाले साहित्य-शूर हैं। अपने रक्त से इन्होंने 'ब्राह्मण' को पाला। एक फक्कड़ साधनहीन, स्वाभिमानी, ब्राह्मण के द्वारा 'ब्राह्मणीय' का संचालन साधारण घटना नहीं। भट्ट जा और मिश्र जी बड़े जीवट के मनुष्य थे। देशहित, समाज-सेवा, साहित्य-निर्माण और हिन्दी-प्रचार की धुन में इन्होंने कभी अपनी निजी और कौटुम्बिक कठिनाइयों की चिन्ता न की। साहित्य-रचना मानसिक विलास नहीं, इनके लिए जीवन-संघर्ष था।

'ब्राह्मण' व्यंग्य-हास्य लेकर होली के अवसर पर अवतरित हुआ। विनोद उसका जन्मजात् स्वभाव था। 'ब्राह्मण' ही मिश्र जी के गुदगुदी-भरे व्यंग्य-पगे लेख जनता तक पहुँचाता रहा। भारतेन्दु-युग का हास-परिहास, व्यंग्य-विनोद, मिश्र जी के निबन्धों में ही चरम को पहुँचा। मिश्र जी के अतिरिक्त, उस युग में, छोटे-छोटे विषयों पर इतने मनोरंजक, सर्वप्रिय, चित्ताकर्षक निबन्ध अन्य कोई भी लेखक लिखने में समर्थ नहीं, आज की बात ही क्या! गम्भीरता का इतना आतंक, व्यंग्य की बात करना भी कुफ्र! मिश्र जी के निबन्धों में जवानी का अल्हड़पन भी है; तेज और बल भी। उनमें एक आवेगपूर्ण व्यक्तित्व का यौवन बोलता और साधना का स्वर बजता है।

अपनी बात धड़ल्ले से कहना, निर्भयता से अपने विचार जन-समाज के सामने रखना, नवीन सभ्यता और आधुनिक शिष्टाचार की परवाह न करना—यही मिश्र जी का सबल व्यक्तित्व है। कभी-कभी वह बात कहने की धुन में नागरिक

शिष्टता की इतनी उपेक्षा करते कि शील और शिष्टता का अभाव हो जाता। अक्खड़पन और फक्कड़पन निबन्ध के गुण बन भी जायँ, पर अनागरिकता और अशिष्टता जैसे खटकने वाले दोष तो रहेंगे ही। ये दोष मिश्र जी की रचनाओं में हैं। देश-प्रेम की लगन, समाज-सुधार की धुन, हिन्दी के लिए पागलपन—उद्देश्य के लिए ईमानदारी, जन-उत्थान की कामना और इन सबके प्रति ईमानदार सतत प्रयत्न— जड़ता फिर भी न जाय तो लताड़-फटकार और अशिष्टता न आने देना अत्यन्त सयंमी लेखक की सामर्थ्य है। मिश्र जी में वह संयम न खोजिए।

मिश्र जी ने नित्य-प्रति व्यवहार में आने वाले, सर्वपरिचित, सामान्य विषयों में अपनी लेखनी का जौहर दिखाया। उनमें कल्पना, जवानी, व्यंग्यात्मकता, चंचलता, वाक्चातुरी के रंग भर सर्वसाधारण का मनोरंजन किया। इन निबन्ध-पात्रों में अपनी बात का रस—देश-प्रेम और समाज-उत्थान का संदेश, पतन की चेतावनी और पराभव का भय—सामान्यजनों तक पहुँचाते रहे। 'नाक', 'भौं', 'वृद्ध' पर उक्तियाँ और श्लेष का करिश्मा दिखाना उद्देश्य नहीं, उद्देश्य तो है जनता की आँखें खोलना। उसे जगाना, गुदगुदी करके; टाँग खींच या कलाई झटककर नहीं। उनका प्रमाद हटाना, कमर पर लातें जमाकर नहीं, गालों पर कुंकुये फोड़कर। वह 'भौं' पर लिखें या 'दाँत' पर, 'स्वार्थ' से सावधान करें या 'मनोयोग' का उपयोग बतावें, अन्त में बात अपनी ही कहेंगे। मनोरंजक बहस, कितनी करलें, पर अन्त में देश-चिन्तन, समाज-हित, जन-जागरण की बात कह जायँगे। 'यदि हमारे धन, बल, भाषा इत्यादि सभी कुछ निर्जीव हो रहे हैं, तो भी यदि हम पराई भौंहें ताकने की लत छोड़ दें, आपस में बात-बात में भौंह चढ़ाना छोड़ दें, दृढ़ता से कटिबद्ध हो के, वीरता से भौंहें तान के देश-हित में सन्नद्ध हो जायँ, अपने देश की बनी वस्तुओं का. अपने धर्म का, अपनी भाषा का, अपने पूर्व-पुरुषों के रुजगार और व्यवहार का आदर करें तो परमेश्वर अवश्य हमारे उद्योग का फल दे। उसके सहज भृकुटि-विलास में अनन्त कोटिब्रह्माण्ड की गति बदल जाती है, भारत की दुर्गति बदल जाना कौन बड़ी बात है।' बातें 'भौं' पर कही जा रही हैं, पर उसमें अपने देश, धर्म, व्यापार, साहित्य, भाषा, इतिहास सबके प्रति पाठक को सजग किया जा रहा है। इसीलिए मिश्र जी की तुलना लैम्ब, मौनतैङ्, हैज़लिस्ट या चेस्टरटन से करना भ्रामक है। उन्होंने वैयक्तिक या आत्मपरक निबन्ध (Personal essays) लिखे हैं। मिश्र जी ने सोद्देश्य सामाजिक या देशहित पूर्ण।

इनके भाव, भाषा, विचार—सभी में जहाँ-तहाँ उच्छृंखलता, अव्यवस्था और लापरवाही भी है और आत्मीयता, तेजस्विता और सशक्तता भी। एक ओर देशीपन का चरम और दूसरी ओर नवीन विचारों, भावनाओं, व्यवस्थाओं का स्वागत। जो

अच्छा लगा, जिसमें भारत और भारतीयों का हित देखा; विना छिपाव के लिख दिया। भाषा, भाव और विचारों में इनकी सबसे बड़ी विशेषता है आत्मीयता। इसी आत्मीयता के कारण इनकी भाषा में बैसवोड़ के शब्द, महावरे, कहावतें निधड़ कहो आ बैठे। अपनापन और घरू वातावरण लाने के लिए जन-प्रचलित और जनप्रिय शब्दावली और कहावतों का प्रयोग मिश्र जी ने बहुत किया। कहीं-कहीं यह खटकने तक लगा। स्थानीय भाषा-ममता ने मिश्र जी को गम्भीर विषयों की सीमा में न घुसने दिया। इनकी रचनाओं में निर्मल, निश्चल, व्यवस्थित और निर्दोष स्वरूप स्थापित न हो सका। इन्शा अल्ला की भाषा की-सी चुहल, उछल-कूद, चंचलता, गुदगुदी तो इसमें आई; सदासुखलाल की स्वच्छता और एकरूपता नहीं।

'भौं', दाँत', 'पेट', 'मुच्छ', 'नाक'—शारीरिक अंगों पर भी मिश्र जी की विनोदी लेखनी चली और 'वृद्ध', 'प्रताप-चरित्र' आदि स्कैच भी उसने लिखे। 'दान', 'जुवा', 'अपव्यय'—दुर्व्यसन भी मिश्र जी की दृष्टि से न बचे और वे 'छल', 'स्वार्थ', 'भलमंसी', 'विश्वास', 'सत्य' आदि वृत्तियाँ। 'नास्तिक', 'ईश्वर की मूर्ति', 'शिव मूर्ति', 'मन', 'सोने का डण्डा', 'मनोयोग' आदि विचारात्मक निबन्ध भी उन्होंने लिखे और 'आत्मीयता', 'चिन्ता' भावात्मक भी 'समझदार की मौत है', 'टेढ़ जान शंका सब काहू', 'घूरे कलत्तां बिनै, कनातनक डौल बाँधै', 'होली है अथवा होरी है', व्यंग्य प्रधान मनोरंजक लेख भी। मिश्र जी की अनेक रचना निबन्ध न कहलाकर विनोदात्मक लेख ही हैं।

निबन्धों की विविधता से लगता है कि हर क्षेत्र में मिश्र जी का गमन और रमण था; पर वह जितने सफल व्यंग्यात्मक मनोरंजक विनोदी निबन्धों में हुए, अन्य में नहीं। वास्तव में मिश्र जी का व्यक्तित्व मज़ाकिया सामान्य वस्तुओं पर लिखे गये निबन्धों में ही उभरा और चमका। ये इन्होंने लिखे भी बहुत—विचारात्मक तो तीन-चार ही केवल। इनकी अधिकतर रचनाएँ भावात्मक और वर्णनात्मक ही हैं। कुछ निबन्ध तो विषय की दृष्टि से—'आत्मीयता', चिन्ता'—भावात्मक हैं; अधिकतर भाषा, शैली, रस, रागात्मकता की दृष्टि से। मिश्र जी के निबन्धों में विषय और अनुभूति की भावात्मकता इतनी नहीं, जितनी भाषा, मनोरंजन, हास्य-व्यंग्य आदि की।

हास्य और व्यंग्य शब्द और अर्थ दोनों में होना चाहिए। अर्थगत व्यंग्य ही यथार्थ है। हृदय मुग्ध भी उसी से होता है। वह स्थायी, चुटीला और चुटकी लेने वाला भी होगा। भारतेन्दु-युग में अर्थगत व्यंग्य का अधिक विकास न हुआ। मिश्र जी का भी हास्य-व्यंग्य अर्थगत कम है, शब्दगत अधिक। पर पहले का बिलकुल अभाव नहीं। मिश्र जी हास्य उत्पन्न करने के लिए श्लेषों, कहावतों, महावरों का

सहारा लेते हैं। श्लेष की शक्ति हिन्दी में जितनी है, अन्य भाषाओं में नहीं—"फागुन के दिनों में जब जड़ आम 'बौराते' हैं, तब आम खास सभी के बौराने की क्या बात है।" मिश्र जी के श्लेष का अच्छा नमूना है। 'बौराना' और 'आम' में शब्द-श्लेष है। 'आम खास' के 'बौराने' में अर्थश्लेष भी खोजा जा सकता है।

महावरों और कहावतों के लिए तो मिश्र जी का कोई भी लेख उपस्थित किया जा सकता है। 'धारिए', 'बात', 'दाँत', 'भौं', 'पेट' 'मुच्छ'—प्रत्येक लेख महावराकोश है। 'बात' से ली गई ये पंक्तियाँ देखिये—डाकखाने अथवा तारघर के सहारे से बात की बात में चाहे जहाँ की जो बात हो जान सकते हैं। इसके अतिरिक्त बात बनती है‡ बात बिगड़ती है‡ बात आ पड़ती है‡ बात जाती रहती है‡ बात जमती है‡ बात उखड़ती है‡ बात खुलती है‡ बात छिपती है‡ बात चलती है‡ बात अड़ती है‡ इन पंक्तियों में बात के सम्बन्ध में महावरों की झड़ी लगा दी गई है। भाषा के इस चमत्कार से भी एक विशेष प्रकार के पाठकों का मनोरंजन होता है। भाषा की यह जादूगरी कभी-कभी खिलवाड़ की सीमा तक भी पहुँच जाती है, जब मिश्र जी श्लेष उत्पन्न करने की झोंक में लिखते हैं, "सदैव नारी का विचार और परनारी का ध्यान रखो, नहीं महा अनारी हो जाओगे।" ऐसे प्रसंग हास्य नहीं, हास्यास्पद अवश्य हो जाते हैं।

भाषा में स्खलन, शैली में घरूपन और ग्रामीणता, चंचलता और उछल-कूद मिश्र जी की विशेषता है। भाषा सम्बन्धी दोष जहाँ-तहाँ लापरवाही से बिखरे पड़े हैं। कहीं-कहीं वाक्य का विलक्षण और दुर्बोध रूप भी मिलता है। उर्दू के एक-दो शब्द भी परदेसी की तरह डरे-डरे-से दीख पड़ते हैं। 'तेग-अदा', 'कमाने अब्र', 'निहायत' आदि 'भौं' में मिल जायँगे। "पर केवल इन्हीं के तक में दूसरे को कुछ नहीं फिर क्यों इनकी निन्दा की जाय ?" का अर्थ समझना टेढ़ी खीर है। विराम चिह्न तब प्रयुक्त ही अधिक नहीं होते थे; इन्होंने तो उनका जैसे बहिष्कार ही कर रखा हो। इनके अभाव में वाक्य कभी-कभी इतना लम्बा हो जाता है, भाव समझने में उसे बार-बार पढ़ना पड़ता है।

'धोखा' से उद्धृत "जब सब कुछ धोखा······क्यों सुकुड़ जाती है ?" वाक्य ५० शब्द का है। 'मनोयोग' से लिया गया—"जिनमें मन···करता है।" भी ५० शब्दों का बड़ा उलझा हुआ है। 'दाँत' में अनेक वाक्य मिलकर एक वाक्य बनता है—६० शब्दों का।

भाषा में ‡ चिह्न अर्द्धविराम के स्थान पर सुविधा के लिए लगा दिया है। मिश्र जी की रचना में यह नहीं है।

मिश्र जी की भाषा में कहावतों की तो भरमार है। 'धूरेकलत्ताबिने कनातन कडौल बाँधे', 'पीसै का चुकरा गावै काछी तातरना', 'मारे को मारे शाह मदारा', 'समझदार की मौत है', 'हाथी के दाँत खाने के और दिखाने के और', 'गुरु गुड़ ही रहा, चेला शक्कर हो गया', 'उसी की जूती उसी के सिर।'—ऐसी अनेक कहावतें आपके निबन्धों में भरी पड़ी हैं। कहावतें ही नहीं प्राचीन संस्कृत और हिन्दी कवियों की पूरी-पूरी पंक्तियाँ भी आप धड़ल्ले से उद्धृत करते थे—'बँधे बछेड़ा कट्टर होइगे, बइठे ज्वान गये तोंदियाय'; 'नारि नारि सब एक हैं, जतमेहरि तस' भाप'; 'मुँद गईं आँखें तो लाखें केहि काम की'; 'वा हम काहू के कोऊ न हमारा'; गो गोचर जहँ लगि मन जाई, सो सब माया जानेः भाई'—उदाहरण-स्वरूप उपस्थित है।

उनकी भाषा में पूर्वी क्रिया, विशेषण, संज्ञा आदि तो मिलती ही हैं, शब्दों के लिखित ग्रामीण रूप भी मिल जाते हैं। उदाहरण के लिए 'टेव', 'संतमेंत', 'खौखियाना', 'भया', 'मुड़ियावैं', 'धमकावै', 'उपजाय', 'काहे', 'फुँदनी', 'झपका', 'तौं', 'दिखावैं', 'देश्रो', रिषि', 'रिषीश्वर', 'रितु', 'लेखणी', 'ग्रहस्त', खड़ीबोली की भाववाचक संज्ञाओं के अशुद्ध रूप भी तहाँ-तहाँ मिलते हैं—कर्तव्यता', प्रावल्यता', 'ऐक्यता', 'ज्यात्याभिमान' वैसे यह भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को भाषा-शैली में अपना आदर्श मानते थ; पर इन्होंने अनुकरण उनका किसी रूप में नहीं किया। अपनी निजी निराली मनमौजी, अव्यवस्थित, चंचल-हल्की शैली को जन्म दिया। वह इन तक ही रह गई। मिश्र जी की शैली को समझने के लिए नीचे तीन उद्धरण दिये जाते हैं—

"ऐसी-ऐसी बातें सोचने से गोस्वामी तुलसीदास जी का 'गो गोचर जहँ लगि मन जाई, सो सब माया जानेहु भाई, और श्री सूरदास जी का 'माया मोहनी मनहरन' कहना प्रत्यक्ष तथा सच्चा जान पड़ता है। फिर हम क्यों नहीं जानते कि धोखे को लोग बुरा क्यों कहते हैं? धोखा खाने वाला मूर्ख और धोखा देने वाला ठग क्यों कहलाता है। जब सब कुछ धोखा ही धोखा है और धोखे से अलग रहना ईश्वर की सामर्थ्य से भी दूर है तथा धोखे ही के कारण संसार का चर्खा पिन्न-पिन्न चला आता है नहीं तो ढिचर-ढिचर होने लगे, वरन रह ही न जाय, फिर इस शब्द का स्मरण वा श्रमण करते ही आपकी नाक-भौं क्यों सुकुड़ जाती है? इसके उत्तर में हम तो यही कहेंगे कि साधारणतः जो धोखा खाता है वह अपना कुछ न कुछ गँवा बैठता है और धोखा देता है उसकी एक न एक दिन कलई खुले बिना नहीं रहती है और हानि सहना वा प्रतिष्ठा खोना दोनों में हो ही जाया करती हैं।"

—'धोखा'

"शरीर के द्वारा जितने काम किये जाते हैं उनमें मन का लगाव अवश्य रहता है। जिनमें मन प्रसन्न रहता है वही उत्तमता के साथ-साथ होते हैं और जो

उसकी इच्छा के अनुकूल नहीं होते वह वास्तव में चाहे अच्छे कार्य भी हों किन्तु भली प्रकार पूर्ण रीति से सम्पादित नहीं होते, न उनका कर्ता ही यथोचित आनन्द लाभ करता है। इसी से लोगों ने कहा है कि मन शरीर-रूपी नगर का राजा है और स्वभाव उसका चंचल है। यदि स्वच्छन्द रहे तो बहुधा कुत्सित ही मार्ग में धाव मान रहता है। यदि रोका न जाय तो कुछ काल में आलस्य और अकृत्य का व्यसन उत्पन्न करके जीवन को व्यर्थ एवं अनर्थपूर्ण कर देता है।"

—'मनोयोग'

"हमारे ग्रामदेव भगवान् भूतनाथ से अकथ्य अप्रतर्क्य एवं अचिन्त्य हैं। तौ भी उनके भक्तजन अपनी रुचि के अनुसार उनका रूप, गुण स्वभाव कल्पित कर लेते हैं। उनकी सभी बातें सत्य हैं, अतः उनके विषय में जो कुछ कहा जाय सब सत्य है। मनुष्य की भाँति वे नाड़ी आदि बन्धन से बद्ध नहीं हैं। इससे हम उनको निराकार कह सकते हैं और प्रेम-दृष्टि से अपने हृदय-मन्दिर में उनका दर्शन करके साकार भी कह सकते हैं। यथातथ्य वर्णन उनका कोई नहीं कर सकता। तौ भी जितना जो कुछ अभी तक कहा गया है और आगे कहा जावेगा सब शास्त्रार्थ के आगे निरी बकबक है और विश्वास के आगे मनः शान्तिकारण सत्य है! महात्मा कबीर ने इस विषय में कहा है वह निहायत सच है कि जैसे कई अन्धों के आगे हाथी आवै, और कोई उसका नाम बता दे तो सब उसे टटोलेंगे। यह तो सम्भव नहीं है कि मनुष्य के बालक की भाँति उसे गोद में लेके सब कोई अवयव का बोध कर लें। केवल एक अंग टटोल सकते हैं और दाँत टटोलने वाला हाथी को खूँटी के समान, कान छूने वाला रूप के समान, पाँव स्पर्ष करने वाला खम्भे के समान कहेगा। यद्यपि हाथी न खूँटे के समान है और न खम्भे के। पर कहने वालों की बात झूठी भी नहीं है। उसने भली भाँति निश्चय किया है और वास्तव में हाथी का एक अंग वैसा ही है जैसा वे कहते हैं। ठीक यही हाल ईश्वर के विषय में हमारी बुद्धि का है। हम पूरा-पूरा वर्णन वा पूरा साक्षात कर लें तो वह अनन्त कैसे और यदि निरा अनन्त मान के अपने मन और वचन को धन की ओर से बिलकुल फेर लें तो हम आस्तिक कैसे! सिद्धान्त यह कि बुद्धि जहाँ तक है वहाँ तक उनकी स्तुति, प्रार्थना, ध्यान, उपासना कर सकते हैं। और इसी से हम शान्ति लाभ करेंगे।'

—'शिवमूर्ति'

शैली के विचार से 'धोखा' मिश्र जी के मनोरंजक, हल्के, सामान्य विषयों पर लिखे गये श्रेष्ठ निबन्धों में है। इसमें भाषा की सफ़ाई, शैली की निर्दोषता, अभिव्यंजना का विकास—सभी गुण हमारे सामने आ जाते हैं। यह दोषों से प्रायः मुक्त है; तो भी मिश्र जी की शैली और प्रकाशन-पद्धति के गुण-दोषों का हमें पता

अवश्य चल जाता है। यह भावात्मक निबन्ध तो नहीं कहला सकता; वर्णनात्मक ही अधिक है; पर शैली के विचार से हल्के भावात्मक निबन्ध में इसे स्थान दिया जा सकता है। मिश्र जी ने अधिकतर निबन्ध प्रसाद-शैली में व्यंग्य का पाग चढ़ाकर, पाठकों के सामने रखे। अनेक निबन्धों में हास्य आधिकारिक रूप में है, उन्हें हम सरल व्यंग्य की शैली में मान सकते हैं।

'मनोयोग' और 'शिवमूर्ति' मिश्र जी के विचारात्मक निबन्धों में सर्वश्रेष्ठ हैं। 'मनोयोग' की शैली प्रसादात्मक कहलायगी—विवेचनात्मकता का इसमें अत्यन्त ही कम स्पर्ष है। इन दोनों निबन्धों में मिश्र जी की भाषा अन्य सभी निबन्धों से अधिक स्वच्छ, स्पष्ट, अभिव्यंजना और व्यंजनापूर्ण है। न वह अस्वाभाविक उछल-कूद, न महावरेबाजी व कहावतों का जमघट। सुसम्बद्ध वाक्य, सुलझे विचार, भाषा की एकरूपता—सब कुछ इन दोनों निबन्धों में मिले। 'मनोयोग' और 'शिवमूर्ति' में मिश्र जी बालकृष्ण भट्ट के समीप बैठते हैं—वही गम्भीरता, वही बात कहने की सफ़ाई, वही भाषा की सार्थकता, एकआध वाक्य लम्बा अवश्य है—पर दुर्बोध नहीं।

'शिवमूर्ति' में मिश्र जी एक विवेचक, मननशील चिन्तक के रूप में आते हैं। सम्भवतः 'शिवमूर्ति' के अतिरिक्त उन्होंने कोई निबन्ध इतना बढ़िया नहीं लिखा। भाषा का निखार भी इसमें है। विषय-विवेचन के अनुकूल भाषा गम्भीर, सार्थक और शुद्ध है, इसमें तर्क, प्रमाण और परिणाम की पद्धति भी है। 'तौ भी', 'इससे', 'यदि', 'तो', 'सिद्धान्त यह कि' आदि शब्दों से विवेचनात्मक शैली स्पष्ट हो जाती है। 'अकथ्य', 'अप्रतर्क्य', 'अचिन्त्य' में निबन्ध की दार्शनिक गम्भीरता का आयास है।

भाषा, शैली, अभिव्यंजना सम्बन्धी अनेक दोष होते हुए भी मिश्र जी भारतेन्दु-युग के अत्यन्त प्रिय लेखक हैं। इनके अनेक निबन्ध हिन्दी के अच्छे निबन्धों में गिने जा सकते हैं। आत्मीयता, आकार-संकोच, भाषा का चटपटापन, उछलता उमंग भरा व्यक्तित्व, जवानी का फक्कड़पन और तेज़, उक्ति-चमत्कार और व्यंग्य की बौछार आदि विशेषताएँ मिश्र जी को शक्तिशाली निबन्धकार प्रमाणित करती हैं। अपने क्षेत्र में वह एकमात्र लेखक स्वयं हैं।

६

बालमुकुन्द गुप्त

गुप्त जी, सजग और निष्कम्प लौ मस्तक पर धरे, दो युगों के दुराहे पर जलते हुए दीपक हैं। वह भारतेन्दु और द्विवेदी-युग की कड़ी हैं। इनके निबन्धों के प्राण भारतेन्दु-युग के हैं, शरीर द्विवेदी-युग का। भारतेन्दु-युग के जागरण का उल्लास, राष्ट्र-प्रेम की बेचैनी, समाज के नव-निर्माण की आकुल कामना। द्विवेदी-युग की सधी हुई भाषा, वही स्वच्छता और स्पष्टता। भारतेन्दु-काल के जन्म से २-३ वर्ष बाद इनका जन्म हुआ, उसके यौवन के साथ इनका यौवन फूटा, द्विवेदी-काल आरम्भ होने के ४-५ वर्ष बाद इनकी मृत्यु हुई। हरिश्चन्द्र और द्विवेदी जी दोनों के ही यह सामयिक रहे।

पत्रकार और निबन्धकार दोनों ने गुप्त जी में सबल और सफल आकार पाया। कुछ काल 'बंगवासी' का सम्पादन करने के बाद गुप्त जी 'भारतमित्र' के प्रधान सम्पादक बने। देश की राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक दुरवस्था के कारण इनके हृदय में अतुल बेचैनी थी। राजनीतिक विवशता और सामाजिक बुराइयों के विरुद्ध लेखनी चलाना इनकी पत्रकारिता का लक्ष्य रहा। विदेशी शासन और भारत की राष्ट्रीय पराधीनता के विरुद्ध गुप्त जी की सशक्त विश्वासी और निर्भय वाणी 'भारतमित्र' में निरन्तर मुखरित होती रही। मौजी तबीयत, विनोदी स्वभाव, छेड़छाड़ का शौक़—सब ने मिलकर गुप्त जी की लेखनी में विलक्षण व्यंग्य भर दिया। आत्माराम के नाम से इन्होंने द्विवेदी जी से छेड़छाड़ की। इस विनोदी चुहलबाज़ी की उन दिनों खूब चर्चा रही। इनके सजग पत्रकार ने भाषा को सर्वबोध्य सामान्य टकसाली, चलता रूप प्रदान किया। उर्दू-फ़ारसी के पूर्ण विद्वान और सफल पत्रकार होने के कारण इनकी भाषा में उर्दू शब्दों का स्वागत आश्चर्य नहीं। गुप्त जी के निबन्धों में इनकी आत्मा का बेताब तीखापन व्यंग का चोला पहनकर बोलता है। राजनीतिक और सामाजिक समस्याओं पर उन्होंने बहुत ही सफल, चुभीले, गुदगुदी भरे, चुटीले और सबल व्यंग्यात्मक निबन्ध लिखे। गुप्त जी के व्यंग्य सरस, मधुर और सुबोध हैं। साधारण पाठक भी उनमें आनन्द लेता है—इतने दुरूह नहीं, जो केवल विद्वान और उन्नत मस्तिष्क ही उनमें रस पा सकें। हृदय और मस्तिष्क का जैसा सामञ्जस्य इनके निबन्ध-व्यंग्यों में मिलता है, वह कम ही देखने में आयगा। इनके व्यंग्य का बाह्य स्वरूप हँसता-हँसाता दीखता है, पर उसके अन्तर में एक

बेचैनी बजती है। केवल हँसकर ही इनकी रचना का मूल्य नहीं चुकाया जा सकता, हमारे अन्तर की पुतलियों के सामने विचार का एक प्रश्न-चिह्न खड़ा हो जाता है। हम व्यंग्य की गोद में छिपी पीड़ा का पर्दा भी उठाकर झाँकते हैं। इनके हास्य-विनोद सम्पन्न निबन्ध पढ़कर इन्हीं के शब्दों में कहना पड़ता है, "भारतमित्र-सम्पादक, जीते रहो। दूध बताशे पीते रहो।"

हास-परिहास करते-करते सहसा उनके निबन्ध की आत्मा गम्भीर हो जाती है। उसमें सांस्कृतिक प्रौढ़ता भी चमक उठती है, और उसका प्रभाव भी सघन और गहन हो उठता है। इस सहसा गम्भीरता के कारण परिहास और विनोद को यों ही उड़ाया नहीं जा सकता।

"एक दिन ऐसी ही काली रात थी। इससे भी घोर अँधेरी भादों कृष्ण अष्टमी की अर्द्ध रात्रि, चारों ओर घोर अंधकार—वर्षा होती थी, बिजली कौंध रही थी, घन गरजते थे। यमुना उत्ताल तरंगों में बह रही थी। ऐसे समय में एक दृढ़ पुरुष एक सद्यजात शिशु को गोद में लिये मथुरा के कारागार से बाहर निकल रहा था।"

इनके निबन्धों में भावात्मकता और कथात्मकता अधिक है। निबन्ध का पारिभाषिक कसाव इनमें सम्भवतः न भी मिल सके; पर 'रसात्मकता' और शैली सफल और स्वस्थ रूप में अवश्य मिलेगी। विचारात्मक और वर्णनात्मक निबन्ध इन्होंने कम ही लिखे। 'शिवशम्भु का चिट्ठा' में संग्रहीत निबन्धों में कथात्मकता का प्राधान्य है। साधारण बात को भी यह अपनी मज़ाकिया कलम से जानदार बना देते हैं। किसी भी साधारण घटना, पर्व-त्यौहार, गम्भीर समस्या और विचार-प्रधान प्रश्न को लेकर यह 'शिवशम्भु' के रूप में अपने निजी विचार प्रकट करते हैं। 'शिवशम्भु' के रूप में हरेक विचार, अनुभव, भावना और माँग के पीछे गुप्त जी का प्राणवान सजग, सतर्क और राष्ट्रीय व्यक्तित्व बोलता है। कहीं छिछला व्यक्तित्व नहीं, विचारक गम्भीर और अन्तर्दर्शी गुप्त जी की शैली में लाक्षणिकता भी रहती है। रहस्यवादी लाक्षणिकता नहीं; व्यंग्यपूर्ण प्रतीकात्मकता। अप्रस्तुत के द्वारा प्रस्तुत की प्रतीति यह बहुत सुन्दर और सफल ढँग से कराते हैं। यही प्रतीकात्मक आधार इनकी भाषा-शैली और भावव्यंजना को चमत्कार और निराली वक्रता देता है। पर दुरूहता का दोष कभी नहीं आता। लम्बे मज़मून बाँधने, घुमा-फिराकर टेढ़े-तिरछे ढँग से बात कहने, अस्वाभाविक रूपक खड़े करने या समासों की छटा दिखाने की तनिक भी प्रवृत्ति उनमें नहीं। भाषा की सफ़ाई, स्पष्टता, सुबोधता और सरसता हर वाक्य में झलकती है। भाषा में बात को गति और यति और वाक्य-विन्यास अत्यन्त सुगढ़ और सरल। एक ही विविध रूपों में रखकर और भी सरल बना देते हैं।

नीचे दिये गये उदाहरण में इनकी शैली की यह विशेषता स्पष्ट है—

"कृष्ण हैं, उद्धव हैं, पर ब्रजवासी उनके निकट भी नहीं फटकने पाते। सूर्य है, धूप नहीं। चन्द्र है, चाँदनी नहीं। भाई लार्ड नगर में ही हैं, पर शिवशम्भु उनके द्वार तक नहीं फटक सकता है. उनके घर चल होली खेलना तो विचार ही दूसरा है। भाई लार्ड के घर तक बात की हवा तक नहीं पहुँच सकती। × × × द्वितीया के चन्द्र की भाँति कभी-कभी बहुत देर तक नज़र गड़ाने से उसका चन्द्रानन दिख जाता है तो दिख जाता है। किन्तु दूज के चाँद के उदय का भी एक समय है, लोग उसे जान सकते हैं। भाई लार्ड के मुखचन्द्र के उदय के लिए कोई समय भी नियत नहीं।"

गुप्त जी का आदर्श चलती, टकसाली, सर्वप्रिय सर्वसुबोध मिश्रित भाषा है। उर्दू के चिर-परिचित शब्दों को देश-निकाला देना यह ठीक नहीं समझते।

"नारंगी के रस में जाफ़रानी बसन्ती बूटी छानकर शिवशम्भु शर्मा खटिया पर पड़े मौजों का आनन्द ले रहे थे। खयाली घोड़े की बागें ढीली कर दी थीं। वह मनमानी जकन्दें भर रहा था। हाथ-पाँव को भी स्वाधीनता दी गई थी। वे खटिया के तूल-अरज की सीमा उल्लंघन करके इधर-उधर निकल गये थे। कुछ देर इसी प्रकार शर्मा जी का शरीर खटिया पर था और खयाल दूसरी दुनियाँ में। अचानक एक सुरीली गाने की आवाज़ ने चौंका दिया। कनरसिया शिवशम्भु खटिया पर उठ बैठे। कान लगाकर सुनने लगे। कानों में वह मधुर गीत बार-बार अमृत ढालने लगा।"

'शिवशम्भु का चिट्ठा' के 'दुराशा' नामक लेख से उद्धृत इस गद्यखण्ड में उर्दू के शब्दों का पर्याप्त स्वागत है। 'ज़ाफ़रानी', 'मौजों', 'खयाली', 'तूल-अरज़', 'आवाज़' आदि शब्दों का प्रयोग उनके भाषा-सम्बन्धी आदर्श को प्रकट करता है। इनमें से कोई भी शब्द बलात खेंचकर नहीं बैठाया गया—सभी चिर-परिचित हैं। इसलिए ये विदेशी नहीं रहे। प्रचलित महावरों का प्रयोग भी यह उचित रूप में करते हैं। इससे इनकी भाषा में स्वाभाविक व्यावहारिकता आ जाती है। वाक्य सुसम्बद्ध, भाषा का प्रवाह समान गति से बहता है—कहीं न बीच में चट्टान मिलती है, न गति अवरुद्ध होती है। गुप्त जी की प्रसाद-प्रधान भाषा में इतिवृत्त उपस्थित करने की क्षमता तो है ही, चित्रांकन की शक्ति भी है।

गुप्त जी की भाषा-शैली और वस्तु-विषय वर्णन को स्पष्ट करने के लिए नीचे दो अवतरण दिये जाते हैं—

"अन्त में स्वर्गीय बाबू हरिश्चन्द्र जी के समय में हिन्दी के भाग्य ने पलटा खाया। उन्होंने हिन्दी को उत्तम बनाने की चेष्टा की। कई एक अच्छी-अच्छी पोथियाँ लिखकर उन्होंने सुन्दर हिन्दी का एक नमूना खड़ा किया। फिर और

लगातार कई एक पुस्तकें लिखकर उसकी पुष्टि की। यद्यपि स्वर्गीय राजा लक्षमणसिंह महोदय ने सन् १८६३ ई० में 'शकुन्तला' का हिन्दी अनुवाद करके फिर एक अच्छी हिन्दी का नमूना उपस्थित किया था; पर उसका उस समय अधिक प्रभाव नहीं हुआ। मुख्य काम बाबू हरिश्चन्द्र जी के हाथों से ही हुआ। कहा जा सकता है कि हिन्दी नहीं थी। बाबू हरिश्चन्द्र ने उसे पैदा किया। यदि हिन्दी होती तो राजा शिवप्रसाद नागरी अक्षरों के बड़े प्रेमी होकर उर्दू में क्यों उलझे रहते ?"

—'कवि वचन सुधा'

"मेरी बलबलाहट उनके कानों को इतनी सुरीली लगती थी कि तुम्हारे बगीचे में तुम्हारे गवैयों तुन्हारी पसन्द की बीबियों के स्वर भी तुम्हें इतने अच्छे न लगते होंगे। मेरे गले के घण्टों का शब्द उनको सब बाजों से प्यारा लगता था। फोग के जंगल में मुझे चरते देखकर वह उतने ही प्रसन्न होते थे जितने तुम अपने सजे बगीचों में भंग पीकर, पेट भरकर और ताश खेलकर।'

—'मेले का ऊँट'

पहला अवतरण विचारात्मक निबन्ध का गद्यांश जैसा है। इसमें तर्क. युक्ति, कारण-कार्य आदि पर हल्का-सा विचार है। इसकी शैली-विवेचन प्रधान है, 'मेले का ऊँट' में नई रोशनी के मारवाड़ियों की मज़ाक है। समझ लेना चाहिए, 'ऊँट' कोई प्राचीन रंगढंग का मारवाड़ी है।

७

राधाचरण गोस्वामी

राधाचरण गोस्वामी दो युगों की साहित्य-समृद्धि का उपयोग करने वाले लेखक हैं। भारतेन्दु के व्यक्तित्व और विचारों से प्रभावित हो, इन्होंने वृन्दावन से 'भारतेन्दु' नामक मासिक पत्र निकाला। व्यंग्य के क्षेत्र में यह भारतेन्दु और प्रतापनारायण से भी आगे बढ़ते हुए दीखते हैं। 'यमपुर की यात्रा' का उल्लेख किये बिना भारतेन्दु-युग का व्यंग्य-विवेचन पूर्ण नहीं होता। 'यमपुर की यात्रा' एक लम्बा कथात्मक निबन्ध है—कहानी हम इसे कह नहीं सकते। इसमें राजनीतिक उत्पीड़न, सामाजिक पाखण्ड और धार्मिक अंधविश्वासों पर बहुत ही मारक व्यंग्य है। गोस्वामी वैष्णव-कुल में जन्म लेकर भी लेखक आर्यसमाजी सुधारक से कम नहीं। अपूर्ण कामना लिये स्वर्ग जाने का उसे दुःख है क्योंकि 'विधवा-विवाह को प्रचलित होते अभी नहीं देखा, न विलायत जाने की रोक उठी, न जाति-पाँति का झगड़ा मिटा।' यह कामना तो हमने भारतेन्दु-युग के बड़े से बड़े लेखक की कलम में भी न देखी। राजनीतिक विवशता पर वह खेद प्रकट करता है, 'न हमारे जीते जी प्रेस-एक्ट उठा, न लाइसेंस टैक्स का काला मुँह हुआ।'

गोस्वामी जी प्रगतिशील चिन्तक हैं। न विदेशी साहित्य से उन्होंने विचारों की नकल की और न ही किसी राजनीतिक वाद के फैशन ने उन्हें प्रेरित किया। आज से पौन शताब्दि पूर्व ऐसे विचार देना, ऐतिहासिक महत्त्व ही नहीं रखता, हिन्दी-लेखकों की प्रगतिशील विचार-परम्परा की पाताल-व्यापी जड़ों की ओर भी संकेत करता है। सन्देह नहीं, वह युग-स्वामी दयानन्द के ज्ञान वितरण का था; हिन्दी-कलाकार उस सीमा से बाहर रहकर भी वह बात कह रहे थे, जो मानव-धर्म, उदार सामाजिकता, एकनिष्ठ राष्ट्रप्रेम की नींव की ईंट बनती है। जब राधाचरण धार्मिक अन्धविश्वास पर चोट करते हैं, तो उनकी बोली में कबीर के प्राण बजते दीखते हैं। कबीर के व्यंग्य में कटु तीखापन है, गले से उतरते हुए लकीर-सी खिंचती है; गोस्वामी जी का व्यंग्य शहद में डूबा, हँसी में लिपटा और कल्पना से रंगीन है। वैतरणी पार करते हुए लेखक रोक लिया जाता है। उसने गोदान किया, तो नहीं; लिया अवश्य है। तब प्रधान से बहस होती है—"साहब प्रथम प्रश्न तो सुन लीजिए, गोदान का कारण क्या? यदि गौ की पूंछ पकड़कर पार उतर जाते हैं तो क्या बैल से नहीं उतर सकते? जब बैल से उतर सकते हैं, तो कुत्ते ने क्या

चोरी की ?" इसके बाद लेखक ने सीटी बजाई, रतन कुत्ता आ गया। उसे वैतरणी में धकेल दिये जाने की आज्ञा हुई। यह अन्याय—"विवेक विचार कुछ नहीं, अंधेर नगरी और हिन्दुस्तानी घिसघिस।" तुरन्त वह रतन को पुकार वैतरणी में कूद पड़े और रतन की पूँछ पकड़े पार हो जाता है। व्यंग्य की चोट बहुत करारी है। पाखण्डी पौराणिक संस्कृति की जड़ें हिल जाती हैं। इस पर पण्डा-पुरोहित-समाज क्यों न बौखला उठे। विदेशी साहित्य की मानसिक दासता से आहत आज कितने लेखक यह कल्पना कर सकते हैं ? 'यमपुर की यात्रा' संवत् १९३७ की 'सारसुधानिधि' में प्रकाशित हुआ—आज से ७४ वर्ष पूर्व उन दिनों यह बात सोचना, क्या कल्पनातीत नहीं ?

गोस्वामी जी की भाषा गठी हुई सामान्य जनसमाज की बोली है। 'यमपुर की यात्रा' में पाठक कहकहा लगाकर हँसता है। शैली में व्यंग्य है, सरलता और सुबोधता है। विचारों में उग्रता और प्रहार की शक्ति है। 'तुम्हें क्या ?' और 'होली' में भी राधाचरण गोस्वामी की निबन्ध-प्रौढ़ता और हास्य-व्यंग्य की चपलता मिलेगी।

गोस्वामी जी के समसामयिक लेखक नन्दकिशोर देवशर्मा का 'शैतान का दरबार' भी इस युग की विशिष्ट रचना है। प्रकृति सम्बन्धी लेख लिखने में ठाकुर जगमोहनसिंह का नाम भुलाया नहीं जा सकता। इनकी रचनाओं में भारतभूमि की सच्ची ममता छलकती है। काशीनाथ खत्री ने भी नीति, कर्तव्यपालन, देशहित सम्बन्धी लेख लिखे। इनकी कम ही रचनाएँ निबन्ध की प्रौढ़ता पा सकीं—साहित्य-कोटि में कम लेख ही आते हैं।

द्विवेदी-युग

(सं० १९६०-८० वि०)

१

युग-परिचय

२

महावीरप्रसाद द्विवेदी

३

माधवप्रसाद मिश्र

४

गोविन्दनारायण मिश्र

५

श्यामसुन्दर दास

६

पद्मसिंह शर्मा

७

अध्यापक पूर्णसिंह

८

चन्द्रधर शर्मा गुलेरी

१

युग-परिचय

दूसरे युग में निबन्ध का शैशव समाप्त हुआ। गद्य-शैली में प्रौढ़ता का उत्तरदायित्व आने लगा। लड़कपन की लापरवाही अब न रही—गद्य का परिमार्जन और भाषा का स्वरूप-निश्चय किया जाने लगा। निबन्ध ही इसके लिए सर्वोत्तम साधन है। इस युग के निबन्ध का आरम्भ दो अनुवाद-पुस्तकों—'बेकन-विचार-रत्नावली' और 'निबन्ध-माला दर्श'—से हुआ। ये पुस्तकें महावीरप्रसाद द्विवेदी और गंगाप्रसाद अग्निहोत्री द्वारा, लार्ड बेकन (अंग्रेज़ी) और चिपलूणकर (मराठी) की रचनाओं से अनूदित होकर हिन्दी में आईं। अनुवादों से श्रेष्ठ मौलिक निबन्धों के उदय की आशा पूरी न हुई। इन दोनों ही लेखनियों से प्रौढ़ निबन्धों का सृजन न हुआ। अग्निहोत्री तो इस अनुवाद तक ही रह गये।

भारतेन्दु-युगीन, देश-प्रेम और जन-जीवन की परम्परा इस युग में लोप हो गई। न पर्व-त्योहारों से लेखकों की नाड़ियों में आनन्द-उत्साह उमड़ता, न ऋतु-शोभा और प्राकृतिक छटा से उनकी पुतलियों में रस छलकता। माधवप्रसाद मिश्र में हरिश्चन्द्र-युग की पर्व-त्योहार-वर्णन की परम्परा का अवसान हुआ। गद्य-शैली में तो प्रौढ़ता और विविधता आई; पर निबन्ध में उस विचार-पद्धति और चिन्तन-शैली के दर्शन न हुए, जिससे पाठक को मानसिक समृद्धि मिले—बुद्धि के चिन्तन-तन्तु बज उठे, और वह नवीन ज्ञान-प्रकाश पा सके। इस युग में अन्तर की ओर गति तो दीखती है; पर प्राधान्य स्थूल और आकार का ही रहा। न विवेचन की सूक्ष्मता आ पाई, न विचार की गहनता। द्विवेदी जी के निबन्ध तो सूचना-पत्रक या बातों के संग्रह ही अधिकतर रहे। माधवप्रसाद की रचनाएँ प्रबन्ध अधिक हैं, निबन्ध कम। द्विवेदी-युग, यथार्थ में भारतेन्दु और प्रसाद-युग के बीच की कड़ी है—दोनों की झाँकी मात्र इसमें मिलेगी।

निबन्धकार के रूप में अध्यापक पूर्णसिंह का चमकता व्यक्तित्व इस युग की सबसे बड़ी देन है। उनकी शैली में वक्रता है, कसाव भी है और व्यंग्य भी। विचारात्मकता और भावात्मकता का स्वस्थ मिश्रण भी उसमें मिलेगा। निबन्धकार का पूर्ण व्यक्तित्व उनमें उभरा। एक विलक्षण लाक्षणिकता इनके निबन्धों में मिलेगी। यदि गुलाबराय जी को इसी युग में मानें तो उनके निबन्ध भी महत्त्वपूर्ण हैं। पर उनके अधिकतर निबन्ध प्रसाद-युग की ही देन हैं। इसलिए हमने उनको प्रसाद-युग में

रखा है। अर्थ-गर्भित वक्रता के लिए चन्द्रधर शर्मा गुल्लेरी के निबन्ध अवश्य पढ़ने योग्य हैं। पाण्डित्यपूर्ण हास्य भी इनमें रहता है। शैली की विचित्रता और तमाशे-बाज़ी के लिए गोविन्दनारायण ने छेनी-हथोड़े से बहुत काम लिया है। द्विवेदी-युग वास्तव में साज-सँवार का युग है—प्रसाद-युग के लिए रास्ता बनाने के लिए ही इसका आगमन हुआ। यथार्थ निबन्धकार इस युग में दो-चार ही हुए। इस युग की एक विशेषता यह है कि इस युग में साहित्य-विवेचन की ओर भी ध्यान गया और साहित्यिक निबन्धों की परम्परा पड़ी।

२

महावीरप्रसाद द्विवेदी

भारतेन्दु-युग में, विविध रूपों में, साहित्य-निर्माण हुआ। युग अलमस्ती और निराली धुन का प्रतीक वना रहा—लेखकों में लिखने का नशा जैसे बाढ़ बनकर उमड़ता रहा। गद्य का आशातीत सृजन हुआ; उसके स्वरूप को परख की कसौटी पर कसने की फ़ुर्सत किसे मिलती? उसके स्वरूप की साज-सँभार पर किसका ध्यान जाता? स्वरूप-संगठन, वाक्य-विन्यास, व्याकरण की शुद्धता, विरामचिह्नों का प्रयोग, भाषा की एकरूपता और शैलीगत विशेषताओं पर बहुत कम ध्यान दिया गया। साहित्य-रचना-सरिता अपने स्वाभाविक पथ पर बहती रही। गद्य को व्यवस्थित रूप देने और मनमौजी कलाकार को रोकने-टोकने वाला कोई व्यक्तित्व उस युग में न था। गद्य को व्यवस्थित, नियमित, स्वरूप-गठित, विधानवद्ध करने का काम द्विवेदी जी ने किया।

आचार्य द्विवेदी ने सन् १९०३ ई० (संवत १९६० वि०) में 'सरस्वती' का सम्पादन सँभाला। यह पत्रिका द्विवेदी जी के भाषा-संस्कार-सम्वन्धी कार्य का सफल और सबल साधन बनी। 'सरस्वती' के द्वारा उन्होंने लेखकों को उनकी भूलें बताना आरम्भ किया। व्याकरण सम्बन्धी भूलों की वह कड़ी आलोचना करते। विराम-चिह्नों के प्रयोग और उपयोग पर प्रकाश डालते। भाषा के गठन और स्वरूप को समझाते। अन्य भाषाओं के शब्दों से हिन्दी को अछूती रखा जाय, ऐसे शुद्धवादी वह नहीं। स्थायी रूप में नागरिक अधिकार प्राप्त शब्दों को देश-निकाला देने के पक्षपाती भी वह नहीं। शब्दों का शुद्ध, सार्थक, ठीक रूप में प्रयोग हो, इसके वह भारी हिमायती थे। हिन्दी का अपना स्वरूप-गठन, अपनी प्राणवान आत्मा, अपना सशक्त तन हो—यही उनकी सर्वोच्च कामना थी। इसी कामना-पूर्ति के लिए उन्होंने सतत सक्रिय और समझदार प्रयत्न किया।

'कवि-कर्तव्य' में नवीन कवियों और लेखकों का पथ-प्रदर्शन करते हुए द्विवेदी जी लिखते हैं,—"कबिता लिखने में व्याकरण के नियमों की अवहेलना न करनी चाहिए। शुद्ध भाषा का जितना मान होता है, अशुद्ध का नहीं होता।..................... जहाँ तक सम्भव हो शब्दों का मूल रूप न बिगाड़ना चाहिए।.. ... . मुहावरे का भी विचार रखना चाहिए। बे मुहावरा-भाषा अच्छी नहीं लगती। 'क्रोध क्षमा कीजिए' इत्यादि वाक्य कान को अतिशय पीड़ा पहुँचाते हैं। शब्दों की

शुद्धि पर द्विवेदी जी इतना अधिक ध्यान देते कि 'मनोरञ्जन' को 'मनोरंजन' 'भाण्डार' को 'भंडार', 'रङ्क' को 'रंक' कभी न लिखते। शब्द-प्रयोग के विषय में 'कवि-कर्तव्य' में वह लिखते हैं—'तन्वी' शब्द का सामान्य अर्थ स्थल विशेष में स्त्री होता है। परन्तु 'तनु' शब्द का अर्थ कृश लेने के कारण 'तन्वी' का विशेष अर्थ दुर्बल है। यदि कहें कि वह तन्वी अपने पति के साथ अपने घर में रहती है, तो यहाँ 'तन्वी' शब्द उस अर्थ का व्यञ्जक नहीं हो सकता, जो अर्थ 'रामा' इत्यादि शब्दों का होता है। परन्तु यदि यह कहें कि वह 'तन्वी' अपने प्रियतम का वियोग बड़े धैर्य से सहन कर रही है, तो यहाँ 'तन्वी' शब्द की गर्भित शक्ति से वियोग-द्योतक अर्थ को सहायता पहुँचती है।" इस उदाहरण से द्विवेदी जी की भाषा का आदर्श स्पष्ट हो जाता है।

द्विवेदी जी ने भाषा के अन्तर और 'वाह्य' में एकरूपता लाने की सजग चेष्टा तो की ही, साहित्य को समृद्ध बनाने में भी यह सदा तत्पर रहे। निज साहित्य-सृजन द्वारा द्विवेदी जी भले ही साहित्य-भण्डार में बहुत गौरवपूर्ण वृद्धि न कर सकें, पर सभी समसामयिक लेखकों को हिन्दी-साहित्य के अभावों का ज्ञान कराते रहे। साहित्य की आवश्यकताओं की वक़ालत वह करते रहे, रीतों कोनों को दिखाते रहे। विभिन्न रूपों के अनुपात से सूचना-सम्पन्न बनाते रहे। कभी 'कवियों की उर्मिला-विषयक उदासीनता' लिख उपेक्षित चरित्रों के प्रति सहानुभूति जगाते, कभी 'नायिका-भेद' लिख पुरानी लकीर पीटना छोड़, नव-निर्माण की ओर अग्रसर करते। अरुचिकर, अनिच्छित और अनुपात से अधिक शृंगार-रचना के विरुद्ध सचेत करते हुए लिखते—"सदाचरण का सत्यानाश करने के लिए क्या इससे भी बढ़कर कोई युक्ति हो सकती है? युवकों को कुपथ पर ले जाने के लिए क्या इससे भी अधिक बलवती और कोई आकर्षण-शक्ति हो सकती है? हमारे हिन्दी-साहित्य में इस प्रकार की पुस्तकों का आधिक्य होना हानिकारक है, समाज के चरित्र की दुर्बलता का दिव्य चिह्न है। .... इसके न होने से ही समाज का कल्याण है, इनके न होने से ही नव वयस्क मुग्ध मति युवाजनों का कल्याण है। इनके न होने से ही इनके बनाने और बेचने वालों का कल्याण है।"

स्पष्ट है, द्विवेदी जी को युग-निर्माण की जितनी चिन्ता रही, कला-साधना की नहीं। वह युग-निर्माण तो कर गये, साहित्य-निर्माण नहीं। द्विवेदी जी यथार्थ में आचार्य थे। आचार्य पथ-प्रदर्शन करता है, अन्यों को निर्माण-कार्य में लगाता है; स्वयं चाहे अधिक निर्माण न कर सके। इनके अधिकतर लेख निबन्ध की कोटि में नहीं आते। जानकारी की बातें उनमें मिलेंगी, निबन्धात्मकता नहीं। ऐसी रचनाओं को आचार्य शुक्ल ने 'बातों के संग्रह' कहा है। इनके अधिकतर लेख 'बातों के संग्रह'-

मात्र हैं। आचार्य द्विवेदी अनुवादक के रूप में 'बेकन-विचार-रचनावली' पुस्तक लेकर निबन्ध-क्षेत्र में आये। अंग्रेज़ी, मराठी, बंगाली लेखों के अनुवाद भी पाठकों के ज्ञानार्थ यह 'सरस्वती' में प्रकाशित किया करते थे। इनके अनेक लेख अन्य भाषाओं की रचनाओं पर आधारित हैं। युग के अनुसार अच्छे निबन्ध भी इन्होंने लिखे। 'कवि और कविता', 'प्रतिभा', 'कविता', 'साहित्य की महत्ता', 'प्रभात-सुषमा', 'लोभ', 'क्रोध' आदि 'रचनाएँ' स्थायी निबन्ध-कोटि में गिने जायँगे। 'हंस का नीर-क्षीर-विवेक', 'हज़ारों वर्ष पुराने खण्डहर', 'पेड़-पौधों में चेतना-शक्ति', 'रोग परीक्षा-यंत्र', 'जापान में पतंगबाज़ी', 'स्वयं वह यंत्र' जानकारी देने वाले 'बातों के संग्रह'-मात्र हैं।

विचारात्मक निबन्ध हां द्विवेदी जी ने अधिक लिखे। ऐसा नहीं; इन्होंने अन्य प्रकार के निबन्ध लिखे ही नहीं। 'प्रभात-सुषमा' वर्णनात्मक है, 'हंस-संदेश' और 'नैल का दुस्तर-दूत-कार्य' विवरणात्मक। जैसा कहा गया, इनमें भी निबन्ध-तत्व कम हैं, कथा-तत्व अधिक। इनके विचारात्मक निबन्ध भी न तो चिन्तन-शक्तियों को अधिक उत्तेजित करते हैं, न कोई नवीन विचार-प्रणाली ही देते हैं। यदि उनमें सूक्ष्मता, गहनता, गम्भीरता और नवोत्तेजना तलाश करने की चेष्टा की जाय, तो निराश होना पड़ेगा।

इनके निबन्धों में भाषा की शुद्धता, सार्थकता, एकरूपता, शब्दों की प्रयोग-पटुता और वाक्यों की सधी हुई प्रणाली तो मिलेगी; पर सूक्ष्म पर्यवेक्षण और विषद विश्लेषण नहीं। स्वाधीन चिन्तन, अनाभिभूत विचार, अछूती भावना जो निबन्ध की आन्तरिक स्वरूप-शक्तियाँ हैं, इनके निबन्धों में कम ही मिलती हैं। उनमें संग्रह-बोध की विविधता, जानकारी की बहुश्रुतता और पत्रकारिता की सूचना-सम्पन्नता ही अधिक है। लगता है, आचार्य शिष्य-मण्डल का समझा रहा है।

विचारों की वह गूढ़-गुम्फित परम्परा उनमें नहीं मिलती, जिससे पाठक की बुद्धि उत्तेजित होकर किसी नई विचार-पद्धति पर दौड़ पड़े।

—आचार्य शुक्ल (हि० सा० इ० ३०, पृष्ठ, ५०६)

नीचे दिये दो अवतरण देखिए—

"लोभ बहुत बुरा है। वह मनुष्य का जीवन दुखमय कर देता है; क्योंकि अधिक धनी होने से कोई सुखी नहीं होता। धन देने से सुख नहीं मोल मिलता। इसलिए जो मनुष्य सोने और चाँदी के ढेर ही को सब कुछ समझता है, वह मूर्ख है। मूर्ख नहीं तो अहंकारी अवश्य है। जो बहुत धनवान है, वह यदि बहुत बुद्धिमान और बहुत योग्य भी होता तो हम धन ही को सब कुछ समझते। परन्तु ऐसा नहीं है। धनी मनुष्य सबसे अधिक बुद्धिमान नहीं होते। इसलिए धन को विशेष आदर की दृष्टि से देखना भूल है; क्योंकि उससे सच्चा सुख नहीं मिलता।"

"सन्तोष नीरोगता का लक्षण है, लोभ बीमारी का लक्षण है।"

—'लोभ'

× × ×

"जब क्रोध रूपी आँधी आती है, तब दूसरे की बात सुनाई नहीं पड़ती। इसलिए ऐसी आँधी के समय बाहर से सहायता मिलना असम्भव है। यदि कुछ सहायता मिल सकती है तो भीतर से ही मिल सकती है। अतएव मनुष्य को उचित है कि वह पहले ही से विवेक, विचार और चिन्तन को अपने हृदय में इकट्ठा कर रखे। जिससे क्रोध रूपी आँधी के समय वह उनसे सहायता ले सके। जब कोई नगर किसी बलवान शत्रु से घेर लिया जाता है, तब उस नगर में बाहर से कोई वस्तु नहीं आ सकती, जो कुछ भीतर होता है, वही काम आता है। क्रोधांध होने पर भी बाहर से कोई वस्तु काम नहीं आती, इसलिए हृदय के भीतर सुविचार और चिन्तन की आवश्यकता है।

"याद रखिए क्रोध से और विवेक से शत्रुता है। क्रोध विवेक का पूरा शत्रु है। क्रोध एक प्रकार की प्रचण्ड आँधी है।.................................

क्रोध इतना बुरा विकार है कि वह सुविचार को जड़ से नाश करने की चेष्टा करता है। वह विषय है क्योंकि उसके नशे में भले बुरे का ज्ञान नहीं रहता। वह मूर्तिमान मत्सर है।.................................

क्रोध मनुष्य का शत्रु है, जिस के कारण मनुष्य का जीवन दुखमय हो जाता है .... क्रोध सरासर विचार पर पर्दा डाल देता है।"

—'क्रोध'

लोभ एक वृत्ति है और क्रोध एक भाव—स्थायी भावों पर इन दोनों ही निबन्धों में न क्रोध का स्वरूप खड़ा होता है, न समझ में आता है, वह है क्या ? इन्हीं विषयों पर 'चिन्तामणि' में भी आचार्य शुक्ल के निबन्ध संग्रहीत हैं—आकाश-पाताल का अन्तर ! ये निबन्ध आचार्य द्विवेदी जी के सर्वश्रेष्ठ निबन्धों में हैं। शैली में विवेचनात्मकता है—तर्क, युक्ति, कारण-कार्य-सम्बन्ध, परिणाम सभी कुछ। पर प्रधानता प्रसाद की ही है। 'लोभ' में धन का इतना तिरस्कार भी बेमाने है। उपमा-रूपक आदि के सहारे क्रोध से होने वाली हानियों का दिग्दर्शन कराया गया है, पर क्रोध का स्वरूप क्या है, पता नहीं चलता। 'क्रोध' में शैली की विवेचना तथ शक्ति-सम्पन्नता का अच्छा पता चलता है।

सरलतम भाषा में कठिनतम बात कहना, इनका आदर्श है। संक्षिप्त, सरल, सुबोध, सुसम्बद्ध वाक्य-विन्यास—लगता है। कोई ज्ञान वृद्ध वयोवृद्ध हितैषी गुरु बालकों या युवकों को समझा-बुझाकर अपनी बात मनवाना चाहता है, द्विवेदी जी की भाषा में न तो वक्रता है, न चमत्कार; चुटीला व्यंग्य तो खोजने पर मिल जायगा,

व्यंग्यात्मक अर्थ-विस्तार नहीं। कसाव भी कम है। पर भाषा अत्यन्त प्रभावशाली', स्वच्छ, गतिशील, चलती हुई, सार्थक और शक्ति-सम्पन्न है। अभिव्यंजना की स्वाभाविक शक्ति उसमें है। वह भावों का प्रकाशन प्रसन्न सरलता से करती है, बोझ मानकर नहीं। अर्थ का दुराव द्विवेदी जी की भाषा में तलाश करने पर भी नहीं मिलता। इनकी भाषा के राजपथ पर चलते हुए पाठक अर्थ फल का रस बराबर लेते चलता है। न वह ऊबड़खाबड़, न कठोर, न बुद्धि के पैर छीलने वाली—न दुर्गम।

द्विवेदी जी का स्वाभाविक झुकाव भाषा के सर्वसामान्य स्वीकृत रूप की ओर था। बोलचाल की भाषा का आदर्श नमूना इनकी रचनाओं में मिल जायगा। 'कबूला' 'मौजूद', 'बदौलत', 'बेखबर', 'खुशामद', 'सादगी', 'असलियत', 'कद्र' 'आखीर', 'दौरे-दौरा', 'बेकदरी'—ये शब्द तो मिलते ही हैं; 'इस्तेदाद', 'पस्तहिम्मती', 'काफ़िया', 'वज़न', 'नाहमवार', 'भाछां', 'हमादांनी'—ऐसे कठिन और अप्रचलित शब्द भी अलभ्य नहीं। एक-दो जगह तो 'हमचुनी दीगरेनेस्त', फारसी मुहावरे भी अपनी छटा दिखाते पाये जायँगे। अंग्रेज़ी के 'नैचरल', 'पोयट्री', 'सर्टीफिकेट', 'वर्स', 'इमैजीनेशन' भी साधिकार उपस्थित हैं।

विषय, वातावरण, परिस्थिति और मानसिक राग-विराग के अनुसार आपकी भाषा में यथोचित परिवर्तन भी मिलता है। स्वाभाविक उतार-चढ़ाव, प्रवाह में तीव्रता और मन्द गतिशीलता हास-परिहास और प्रौढ़ता, उछल-कूद और गम्भीर गमन, अवसरानुकूल होते हैं। पर भाषा-शैली के प्रतिनिधित्व का प्रश्न हो, तो वह करती है, सरल सामान्यजन-सुबोध उर्दू-शब्दों से सजी, साफ़-सुथरी सुसम्बद्ध भाषा। अधिकतर लेखों में प्रसाद-शैली ही उन्होंने अपनायी जब कभी वह मज़ाक या हास-परिहास लिखते हैं, वहाँ भी व्यंग्यात्मक नहीं, प्रसाद-शैली ही होती है। दो-चार विचारात्मक रचनाओं में ही विवेचनात्मक शैली अपनायी गई। उनकी गद्य-शैली के तीन नमूने मिलते हैं—मज़ाकिया व्यंग्यात्मक लेखों में चलती चुलबुली मनोरंजक भाषा-शैली, विरोधी को अभिभूत करने या समझाने के लिए तर्कयुक्त प्रसाद-शैली, गम्भीर विषयों की विवेचना के लिए गम्भीर शैली और प्रभाव डालने वाली भाषण-शैली।

"आँख उठाकर ज़रा और देशों तथा और जातियों की ओर तो देखिये। आप देखेंगे कि साहित्य ने वहाँ की सामाजिक और राजकीय स्थितियों में कैसे-कैसे परिवर्तन कर डाले हैं। साहित्य ने ही वहाँ समाज की दशा कुछ की कुछ कर दी है। शासन-प्रबन्ध में बड़े-बड़े उथल-पुथल कर डाले हैं; यहाँ तक कि अनुदार-धार्मिक भावों को भी जड़ से उखाड़ फेंका है। साहित्य में जो शक्ति छिपी रहती है वह तोप, तलवार और बम के गोलों में भी नहीं पाई जाती। योरुप में हानिकारक धार्मिक रूढ़ियों का

नाश साहित्य ही ने किया है, जातीय स्वातन्त्र्य के बीज उसी ने बोये हैं। व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य-भावों को भी उसी ने पाला-पोसा है। पतित देशों का पुनरुत्थान भी उसी ने किया है। फ्रांस में प्रजा की सत्ता का उत्पादन और उन्नयन किसने किया है पादाक्रान्त इटली का मस्तक किसने ऊँचा उठाया ? साहित्य ने ! साहित्य ने !! साहित्य ने !!! जिस साहित्य में इतनी शक्ति है, जो साहित्य मुर्दों को भी जीवित करने वाली संजीवनी औषधि का आगार है, जो साहित्य पतितों को उठाने वाला, और उत्थितों के मस्तक को उन्नत करने वाला है, उसके उत्पादन और संवर्द्धन की चेष्टा जो जाति नहीं करती, वह अन्धकार के गर्त में पड़ी रहकर किसी दिन अपना अस्तित्व ही खो बैठती है।"

—'साहित्य की महत्ता'

यह उद्धरण भाषण-शैली का अच्छा नमूना है। इसे हम आवेग-शैली के अन्तर्गत लेते हैं। प्रश्नों द्वारा विचारों की स्थापना, शैली का विशेषण है। "पादाक्रान्त इटली का मस्तक किसने ऊँचा किया ? साहित्य ने ! साहित्य ने ! साहित्य ने !"—इन वाक्यों में वह जोश झलकता है, जिसे प्रकट करने के लिए व्याख्यानदाता मेज़ पर हाथ मारता है।

"यदि कविता का प्रधान धर्म मनोरंजकता और प्रभावोत्पादकता उसमें न हो तो इसका होना निष्फल समझना चाहिए। पद्य के लिए काफ़िये वगैरह की जरूरत है, कविता के लिए नहीं। कविता के लिए तो ये बातें एक प्रकार से उल्टी हानिकारक हैं तुले हुए शब्दों में कविता करने और तुक, अनुप्रास आदि ढूँढ़ने से कवियों के विचार-स्वातन्त्र्य में बड़ी बाधा आती है। ·····कवि का काम है कि वह अपने मनोभावों को स्वाधीनतापूर्वक प्रकट करे। पर काफ़िया और वज़न उसकी स्वाधीनता में विघ्न डालते हैं। वे उसे अपने भावों को स्वतन्त्रतापूर्वक प्रकट नहीं करने देते। काफ़िये और वज़न को पहले ढूँढ़कर कवि को अपने मनोभाव तदनुकूल गढ़ने पड़ते हैं। इसका मतलब यह हुआ कि प्रधान बात अप्रधानता को प्राप्त हो जाती है और एक बहुत ही गौण बात प्रधानता के आसन पर आ बैठती है।"

'कविका और कविता' से उद्धृत यह अवतरण द्विवेदी जी के विचारात्मक निबन्ध की विवेचना शैली का उदाहरण है। इसमें भी विवेचना के अवयव—तर्क, युक्ति, कारण-कार्य-सम्बन्ध, परिणाम की पहुँच—कम हैं।

यह शैली भी प्रसादात्मक हो गई है, यही इनके अधिकतर निबन्धों में होता है। भाषा की गम्भीरता और सुबोधता दोनों का इसमें सानुपातिक सामंजस्य है।

भाषा-संकोच और गठन की दृष्टि से निम्न अवतरण श्रेष्ठ उदाहरण है—

"छायावादियों की रचना तो कभी-कभी समझ में भी नहीं आती। ये बहुधा बड़े ही विलक्षण छन्दों या वृत्तों का भी प्रयोग करते हैं। कोई चौपदे लिखते हैं, कोई

छ:पदे ! कोई ग्यारह पदे तो कोई तेरह पदे ! किसी की चार सतरें गज़-गज़ भर लम्बी तो दो सतरें दो ही अंगुल की ! फिर ये लोग बेतुकी पद्यावली भी लिखने की बहुधा कृपा करते हैं। इस दशा में इनकी रचना एक अजीब गोरखधन्धा हो जाती है। न ये शास्त्र की आज्ञा के क़ायल न ये पूर्ववर्ती कवियों की प्रणाली के अनुवर्ती, नये सत्सालोचकों के परामर्श की परवा करने वाले। इनका मूलमंत्र है—हम चुनी दीगरे नेस्त। इस हमादानी को दूर करने का क्या इलाज हो सकता है, कुछ समझ में नहीं आता।"

—'आजकल के छायावादी कवि और कविता'

छोटे वाक्य, क्रियापदों का प्रायः लोप एक क्रिया और कर्त्ता के साथ अनेक छोटे वाक्यांशों की माला सब मिलाकर शैली को अत्यन्त स्वस्थ, सशक्त, तीव्र और प्रभावशाली स्वरूप प्रदान करते हैं। इसमें व्यंग्य भा गम्भीर है, मज़ाक भी छिछला नहीं।

"कविता-कामिनी के कमनीय नगर में कालिदास का मेघदूत एक ऐसे भव्य-भवन के सदृश है, जिसमें पद्य रूपी अनमोल रत्न जड़े हुए हैं—ऐसे रत्न जिनका मोल ताजमहल में लगे हुए रत्नों से भी कहीं अधिक है। ईंट और पत्थर की इमारत पर जलवृष्टि का असर पड़ता है, आँधी-तूफ़ान से उसे हानि पहुँचती है, बिजली गिरने से वह नष्ट-भ्रष्ट हो सकता है। पर इस अलौकिक भवन पर इनमें से किसी का कुछ भी ज़ोर नहीं चलता।"

—'मेघदूत'

कभी-कभी काव्यमय भावात्मक गद्य भी द्विवेदी जी लिखते थे। अनुप्रास की छटा, कोमलकाँत शब्दावली की माला, रूपक-उपमा की बहार और शैली का मधुर प्रवाह इस प्रकार के गद्य की विशेषताएँ हैं। पर झुकाव उनका सर्व जन-सुबोध भाषा-शैली की ओर ही था। इस अवतरण में भी 'इमारत', 'असर', 'तूफ़ान', 'जोर', शब्द आ ही गए। साहित्य-सृजन के रूप में आचार्य द्विवेदी का कोई महान् देन भले ही न हों पर उन्होंने युग-निर्माण किया—रिक्त भण्डार को समृद्ध करने की स्वयं भी चेष्टा की और अनेक कलाकार उत्पन्न किये। शैली के रूप में भी उन्होंने कई प्रकार की शैली अपने युग को दीं।

३

माधवप्रसाद मिश्र

माधवप्रसाद मिश्र का व्यक्तित्व अपनी विशेष प्रकाशन-पद्धति, प्रौढ़ भाषा-शैली और विषय-विविधता के कारण अलग चमकता है। काशी से प्रकाशित 'सुदर्शन' का आपने दो वर्ष तक सफलता से सम्पादन किया। मिश्र जी भारतीय संस्कृति, साहित्य, दर्शन, कला, इतिहास के सच्चे उपासक थे। भारतीयता की रक्षा के लिए आपकी लेखनी ढाल ही नहीं, विरोधी पर आक्रमण करने के लिए तेज़ तलवार भी बन जाती। चाहे आचार्य द्विवेदी 'नैषध-चरित-चर्चा' में 'नैषध-चरित' के दोष दिखाये, चाहे वेबर साहब 'प्राचीन भारतीय साहित्य का इतिहास' में संस्कृत-साहित्य—रामायण, महाभारत, वेद-वेदांग—का गौरव घटाना चाहें, मिश्र जी की सतर्क, सक्रिय और सरोष लेखनी से वे बच नहीं सकते। 'वेबर का भ्रम' लेख में मिश्र जी ने जर्मन पुरातत्त्ववेत्ता प्रोफ़ेसर वेबर की बुरी तरह खबर ही नहीं ली, अपने पुरातत्त्व पाण्डित्य और इतिहास-ज्ञान का परिचय भी दिया। 'काव्यालोचना' में मिश्र जी ने आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी की तीखी, व्यंग्य-भरी और क्षोभपूर्ण आलोचना की। एक बार जब मालवीय जी ने विद्यार्थियों को राजनीति से अलग रहने का उपदेश दिया तो आपने उनके नाम एक खुली चिट्ठी लिखकर अपना विरोध प्रकट किया। इससे आपके राष्ट्र-प्रेम का पता चलता है।

मिश्र जी ने सभी प्रकार के निबन्ध अपनी सचेष्ट लेखनी से प्रसूत किये। इनके निबन्धों की विषय-विविधता उल्लेखनीय है। इनके निबन्धों में निबन्ध-तत्त्व की अपेक्षा, प्रबन्ध-तत्त्व अधिक मिलेगा। अनेक विषयों पर लिखे गये, इनके लेख, प्रबन्ध की कोटि में आयेंगे, निबन्ध की कोटि में नहीं। इनके निबन्धों में पूर्णसिंह के निबन्ध का स्वरूप-गठन खोजना कठिन है। प्रतापनारायण की मस्ती भी न मिलेगी, पर बालकृष्ण भट्ट की गम्भीरता और विद्वत्ता हर रचना में पाई जायगी। इनके अनेक निबन्ध आचार्य शुक्ल के भावों और वृत्तियों पर लिखे गये विचारात्मक निबन्धों के समकक्ष रखे जा सकते हैं। उनके पुरातत्व और इतिहास-सम्बन्धी निबन्ध—'वेवर का भ्रम' और 'श्री वैष्णव सम्प्रदाय'—गम्भीर अध्ययन के साक्षी हैं। राजनीति, पर्व-त्यौहार, साहित्य, यात्रा, तीर्थ-स्थान—सभी विषयों पर उन्होंने भावात्मक, विवरणात्मक, वर्णनात्मक और विचारात्मक निबन्ध लिखे। भारतेन्दु-युग की ऋतु, पर्व, मेलों, उत्सवों पर निबन्ध लिखने की परम्परा का अवसान माधव मिश्र के निबन्धों में हुआ।

भाषा के स्वरूप के सम्बन्ध में आपका आदर्श शुद्धवादी है। खोजने पर अन्य भाषाओं के शब्द मिलें, तो मिलें। यह भाषा को आदर्श की छालनी में छानकर रखते हैं। साफ़-सुथरी शुद्ध-संस्कृत भरी, भाषा का रूप आपने अपनी रचनाओं में खड़ा किया। पर कहीं भी आडम्बरपूर्ण दुरूह कृत्रिम बोझल नहीं। शुद्धवादी आदर्श का पालन करते हुए भी आपकी भाषा में प्रभावशाली ओज, शक्ति-प्रवाह, सार्थकता और प्रौढ़ता है। वह ऊबड़खाबड़ नहीं, शिथिल नहीं। मार्मिकता और ओजस्विता का अच्छा सामञ्जस्य आपकी भाषा में मिलेगा।

भावों और प्रसंगों के अनुरूप भाषा का रूप भी बदलता है। करुण स्थलों पर उसमें तरलता आती है, जोशीले और विवादास्पद अवसरों पर बल और पौरुष जागता है। जगह-जगह आप अपनी रचनाओं में संस्कृत और हिन्दी के श्लोक और वाक्यांश भी उद्धृत करते चलते हैं। उपयुक्त कहावतों का प्रयोग भी मिलेगा। भाषा में वयक्ति वैचित्र्य भी रहता है। नाटकीय गतिशीलता और चंचलता भी उसकी एक विशेषता है। एक बात की विविध रूपों में आपत्ति करने से वक्तृता या भाषण की-सी स्फूर्ति और शक्ति इनकी शैली में आ जाती है। लम्बे वाक्य प्रायः कम मिलेंगे—मिलेंगे भी तो वाक्यों के छोटे-छोटे टुकड़ों को एक साथ रखने के कारण; पर सरल और सुबोध।

'धृति' से उद्धृत एक अवतरण—

"इसलिए हमने कहा है कि सन्तोष धार्मिक की परिपक्व दशा में हो सकता है, आरम्भ में नहीं। क्योंकि वह धर्माचरण का फल है और इसलिए यह कहना भी कोई अनुचित नहीं कि इसके अधिकारी सब नहीं हो सकते, बिरले ही जिज्ञासु पुरुष हो सकते हैं। सुतरां, प्रस्तुत विषय में धृति का अर्थ धैर्य ही रहता है क्योंकि इस समान धर्म की सोपान भी धर्माचार्यों की अधिकार-प्रणाली के कौशल से खाली नहीं है।

"धृति वा धैर्य उस धारणा का नाम है, जो मनुष्य के अपने विचार दृढ़ बनाए रखे। अपनी बात से कदाचित भी न हटने दे। चाहे, कोई निन्दा करे वा स्तुति, चाहे लक्ष्मी की प्राप्ति हो वा विनाश, चाहे प्राण सदैव बने रहें वा आज ही निकल जायँ, इसकी कुछ चिन्ता नहीं; पर धीर पुरुष अपनी बात से नहीं हटता। वह अपने स्वीकृत-न्याय-मार्ग का परित्याग नहीं करता।"

'धृति' और 'क्षमा'—ऐसे निबन्ध स्थायी लोक-सामान्य विषयों पर भी मिश्र जी ने लिखे। ये निबन्ध-शैली विषय-प्रतिपादन और विश्लेषण की दृष्टि से 'चिन्तामणि' के विचारात्मक निबन्धों के वर्ग में आते हैं। यह अवतरण विचारात्मक निबन्ध की विवेचना-शैली का अच्छा नमूना है। तर्क के सहारे परिणाम पर पहुँचना

अपनी बात के प्रमाण देना, कारण-कार्य का सम्बन्ध खोज 'सत्य' तक पहुँचना—इसमें स्पष्ट है। 'धृति' की परिभाषा भी देने का प्रयत्न इसमें है—अन्य वृत्तियों से उसका सूक्ष्म अन्तर भी समझाया गया है। यही पद्धति 'चिन्तामणि' के निबन्धों में स्वीकृत है। आचार्य शुक्ल जैसी बारीकी, संक्षिप्तता, सूक्ष्मता भले ही न आ पाई—आ भी नहीं सकती।

मिश्र जी के निबन्धों में अपेक्षाकृत रागात्मक तत्त्व अधिक हैं। इसके बाद बुद्धि और सबसे पीछे कल्पना। चाहे वर्णन-प्रधान निबन्ध हो, या विवरण-प्रधान; उसमें मिश्र जी की भावात्मकता बह निकलेगी और समस्त निबन्ध-तल को तरल बना देगी। इनके निबन्धों के विषय प्रायः धार्मिक, सांस्कृतिक या ऐतिहासिक हैं। भारतीयता के प्रति अगाध ममता होने के कारण इनकी भावुकता उमड़ पड़ती है। भावात्मक निबन्धों में इनकी भाषा बड़ी स्निग्ध, मधुर, कोमल और काव्यमयी हो जाती है। शैली आवेग का रूप धारण करती है। भावधारा तेज़ी से उमड़ चलती है। उसमें कर्ण-सुखद गतिशीलता आ जाती है।

'सब मिट्टी हो गया' से एक अवतरण—

"देखें मां! इस कुरुक्षेत्र में कितनी कठोर मृत्तिका हो गई है! भीष्मदेव का पतन-क्षेत्र किन पाषाणों में परिणत हो गया। कपिल, गौतम की शेष शैय्या का कितना ऊँचा आकार हो रहा है! उज्जयिनी की विजयिनी भूमि में कैसी मधुमयी धारा चल रही है। अहा! अहा! तुम्हारे अंग में किस प्रकार पादस्पर्श करें? मां! तुम्हारे प्रत्येक परमाणु में जो रत्नकण हैं, वे अमूल्य हैं क्षय-रहित हैं और अतुल हैं।......फिर पैर कहाँ रखा जाय? वृन्दावन में अभी भी तो वंशी बज रही है। मां! किस सहृदय के, किस सचेतन के कान में वह बंशी नहीं बजती? अब तक यमुना का कृष्ण जल है मां! वियोगिनी ब्रजबालाओं की कज्जलाल अश्रुधारा का यह महात्म्य है। गृहत्यागिनी प्रेमोन्मादिनी राधिका की अनन्त प्रेम-धारा ही मानो यमुना के कलकल शब्द के ब्याज से 'हा कृष्ण, हा कृष्ण' पुकारकर इस धारा को सजीव कर रही है। अभागिनी जनकतनया की दण्डकारण्य-विदारी हाहाकार-ध्वनि यह देखकर भवभूति के भवनपार्श्व-वाहिनी गोदावरी के गद्गद् नाद में अच्छी तरह सुन पड़ती है।"

'काव्यालोचना' से उद्धृत यह अवतरण नई शैली का आभास देता है।

'गुनवन्त हेमन्त' यह भी पाठक जी की एक कविता है, जिसमें हेमन्त ऋतु का वर्णन है। छन्द की विचित्रता और 'मूली-मटर मलूक' आदि पदार्थों की शुष्क भरती के अतिरिक्त अन्य गुण हमने कुछ भी नहीं पाया। पाठक जी इसमें अन्तरंग रहस्यमय 'दम्पति प्रनय और सुरति-सुख' तक का वर्णन कर गये हैं, किन्तु सड़कों और

बाज़ारों में दुर्भिक्ष-दलित, वस्त्र-हीन, दीन-दुःखितों को बिलकुल ही भूल गये। 'गुनवन्त हेमन्त' में इन बेचारों की क्या दशा हुई, यह कुछ न जाना।

यदि हम पण्डित महावीरप्रसाद जी के समान समीचीन समालोचक और कवि होते तो इस 'गुनवन्त हेमन्त' को देखकर अवश्य ही एक 'श्रीधर सप्तक' वा 'श्रीधराष्टक' स्तोत्र बना डालते। और उसमें वर्णन करते—"प्रभो, कवीन्द्र चूड़ामणे! आपकी महिमा अपरम्पार है। हेमन्त का वर्णन तो बड़े-बड़े कालिदासादि महाकवियों ने भी किया था, पर एक क्षुद्र पद्य में उसका कुछ अल्प ही वर्णन कर उसे 'गुनवन्त' बना देना—यह किस की सामर्थ्य थी? दिव्यलोचन प्राचीन अंध कवि लोग जैसा जिस समय देखते हैं, वैसा ही वर्णन करते हैं, परन्तु धन्य है आपको, जिस समय भारतवर्ष में शुष्क के अतिरिक्त सरस तरित पत्र भी नहीं दिखाई देता था, आपको उस समय भी दिव्य दृष्टि से सब हरे-भरे सरस खेत दिखाई दिये। यहीं तक नहीं, श्रीमान की दिव्य दृष्टि ने और भी कमाल किया है। सड़कों पर और बाज़ारों में फिरे हुए दुर्भिक्ष दलित पुरुष तो दृष्टिगोचर नहीं हुए, पर अन्तरंग रहस्यमय 'सुरति सुख' को देखने में दूर्बीन को भी मात कर गये। सुना था कि बड़े आदमियों को साधारण लोग दिखाई नहीं दिया करते, परन्तु आपने उसे प्रत्यक्ष दिखा अपने 'श्रीधर' नाम को सार्थक कर दिया। धन्य! विचित्र कवि धन्य!"

ऊपर के अवतरण में श्रीधर पाठक की रचना 'गुनवन्त हेमन्त' की आलोचना की गई है। यह 'सरस्वती' में निकली थी। इसमें मिश्र जी की व्यंग्यात्मक परिहास-पूर्ण शैली का अच्छा आभास मिलता है। आलोचना की हैसियत से नहीं, शैली की हैसियत से इसका महत्त्व है। आचार्य द्विवेदी की भी खिल्ली उड़ाई गई है। द्विवेदी-युग में इस प्रकार की छेड़छाड़ ने कई लेखकों की शैली को निखार दिया था। विचारों की दृष्टि से मिश्र जी कितने प्रगतिशील हैं, काव्य में जीवन—वर्तमान यथार्थ जीवन-तलाश करने की बारीकी उनमें है। संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित प्राचीनता के परम उपासक होते हुए भी जीवन की माँग से विमुख नहीं, मिश्र जा की रचनाओं में तर्क, भावुकता और ओज का विलक्षण मिश्रण है।

४

गोविन्दनारायण मिश्र

हिन्दी में बाण और दण्डी की छटा दिखाने वाले पण्डित गोविन्दनारायण मिश्र ने गद्य का विलक्षण रूप खड़ा किया। इन पर न तो भारतेन्दु-युग के गद्य की शैशव-सरलता का ही प्रभाव पड़ा, न द्विवेदी-युग की परिमार्जित प्रौढ़ता का। गद्य का यह शब्दाडम्बर-प्रधान रूप इनके निबन्धों में ही जन्मा और उनकी गोद में ही भर गया। इनके निबन्ध तात्कालिक पत्रों—'सार सुधानिधि', 'उचित वक्ता', 'धर्म दिवाकर'—में प्रकाशित हुआ करते थे। इनकी रचनाएँ 'गोविन्दनारायण-ग्रन्थावली' के नाम से संग्रहीत हो चुकी हैं। इनके 'कवि और चित्रकार', 'प्राकृत विचार', 'विभक्ति विचार' विचारात्मक और 'षट्ऋतुवर्णन' वर्णनात्मक हैं। 'आत्माराम की टें टें', में मिश्र जी ने द्विवेदी जी के भाषा-सिद्धान्त की वकालत की और आत्माराम (बालमुकुन्द गुप्त) द्वारा द्विवेदी जी की भाषा पर किये गये आक्षेपों का उत्तर दिया है। व्यंग्य इसमें काफ़ी तीखा है—विद्वत्ता का आतंक और पाण्डित्य का बोझ अधिक है, गुदगुदी नहीं।

मिश्र जी की भाषा में न स्वाभाविकता है, न सार्थकता, न युग का स्वरूप, न प्रौढ़ता और परिमार्जन। हाँ, शैली में व्यक्तित्व के नाम पर विचित्रता अवश्य है। समासों की भरमार, क्लिष्ट शब्द-संधियाँ, अनावश्यक अनुप्रास, सरल व्यावहारिक शब्दों के स्थान पर वाणी-व्यायाम-प्रधान शब्दों का प्रयोग आपकी शैली का स्वरूप है। लम्बे-लम्बे वाक्य पाठक के लिए ख़ासा सिरदर्द पैदा करते हैं। शब्दों की भीड़ में अर्थ की खोज भारी दुराशा है। शब्दों में व्यर्थ प्रत्यय लगाने का, आपको शौक नहीं; रोग है। 'सुप्रतिष्ठित', प्रपीड़ित', 'सुप्रसिद्ध', 'समुच्चरित', 'समुत्पन्न', ही नहीं; 'सुकठिन' तक लिखने के लिए आप विवश हैं। 'प्रायः', 'प्रकाशित', 'यथार्थता', 'मृदुता', 'कुटिलता', 'समीपता' के स्थान पर आप 'प्रायशः', 'प्रकाश्य', 'यथार्थत्व', 'मार्दव', 'कौटिल्य', 'सामीप्य' लिखेंगे। मिश्र जी द्वारा प्रस्तुत साहित्य की परिभाषा देखिए—

"मुक्ताहारी नीर-क्षीर-विचार-सुचतुर-कवि-कोविद-राज-हिय-सिंहासन-निवासिनी, मंदहासिनी, त्रिलोक-प्रकाशिनी सरस्वती माता के अति दुलारे, प्राणों से प्यारे पुत्रों की अनुपम, अनोखी, अतुलवाली परम प्रभाववाली, सुजन-मनमोहिनी नवरसभरी सरस सुखद विचित्र वचन-रचना का नाम ही साहित्य ।"

साहित्य की यह लच्छेदार, शब्द-सघन और अर्थशून्य परिभाषा पढ़कर साहित्य का स्वरूप क्या है, यह जानना टेढ़ी खीर है। प्रसाद-युग के समान, भले ही सूक्ष्म विवेचन द्विवेदी-युग में स्वरूप न पा सका हो; पर स्थूल से सूक्ष्म और बाह्य से अन्तर की ओर समीक्षा की गति अवश्य थी। पर मिश्र जी शब्द-कानन में भटकते रहे—रास्ता कैसे मिलता ! निम्न अवतरण भी ज़रा देखें—

"सहज सुन्दर मनोहर सुभाव छवि सुभाव प्रभाव से सबका चितचोर सुचारु-सजीव, चित्र-रचना-चतुर-चितेरा, और जब देखो तब हीं अति नव सब नवरस-रसीली, नित नवनवभाव व सरसीली अनूप रूप सरूप गरवीली, सुजन-मन-मोहन-मंत्र की कीली, गमक-जमकादि-सहज-सुहाते-चमचमाते अनेक अलंकार-सिंगार-साज-सजीली, छबीली कविता-कल्पना-कुशल कवि, इन दोनों का काम ही उस अग-जग-मोहिनी कला की, सबला-सुभाव सुन्दरी अति सुकोमला अबला की. नवेली अलबेली, अनोखी; पर परम चोखा भी प्रेमपोखी समधक सुहावनी, नयन-मन लुभावनी भोलीरूप छवि को आँखों के आगे परतच्छ खड़ी-सी दरसाकर मर्मज्ञ सुरसिक जनों के मनों को लुभाना-तरसाना-हरसाना और रिझाना ही है।"

× × ×

"इसलिए ही बंधमोक्ष भुक्तिमुक्ति के विधाता परम चंचल चूड़ामन मन के अति सूक्ष्म विमल विशद विस्तृत विचित्र कोमल से कोमल अछूते अदृश्य, अनन्त आधार-फलक पर ही अनेक वर्ण-विन्यास से सुहाती जब विचारो उचारो तब ही सब नवनवनित अगनित अभिनव अनूठे भाव रसरंग संग-संग दरशाती, रंगराती, चुहचुहाती, फबते अलंकारों से नखसिख सुहाती, सुधा से सरस रस रसीली, साज सुन्दर सुभाव सजीली, एक से एक अधिक रंगीली, रूप गर्वीली अनुपम सलोनी उस माधुरी रूप-छवि को कवि, सुरसिक प्रवीनविज्ञ रसज्ञों के विशेष रसज्ञ मर्मज्ञ मन से संयोग होते ही बात की बात वा आनन-फानन में अकथनीय कमनीयता-चातुरी, अलौकिहस्त-लघुता निपुणता और अप्रतिभ प्रतिभा से सदा अमिट चित्रविचित्र वर्ण-विन्यास रंगीले चटकीले स्थायी रूप से सांगोपांग सर्वांग सुन्दर चित्रित कर दिया करते हैं।"

—'कवि और चित्रकार'

दो अवतरण दो वाक्यों में—दोनों वाक्यों में ९०-९० शब्द। पक्के राग भी अनेक बार सुने, गद्य में पक्के राग मिश्र जी ने ही उपस्थित किये ! एक ही वाक्य पढ़ने में बड़े-बड़े प्राणायामियों के साँसों के पैर लड़खड़ा जायँ।

लेखक न पाठक को कुछ बनाना चाहता है, न उसके पास कोई विचार ही देने के लिए है; शब्दों का ढेर उसने लगा दिया। इस शब्दाडम्बरपूर्ण, बोझल, दुरूह

और कसरती शैली को, आश्चर्य तो यह, शुक्ल जी ने काव्यात्मक कह दिया ! काव्य में ध्वन्यर्थ और रस प्रधान है, इसमें दोनों में से किसी का आभास तक नहीं। 'सहज सुन्दर सुभाव प्रभाव रसरसीली सरसीली गर्वीली मंत्र की कीली साज सजीली' लिख देने से तो कोई रचना काव्य नहीं बन जाती। यह न गद्य काव्य है, न गद्य वाक्य।

संस्कृत की अनुप्रास-समास-शब्दावली के साथ ब्रजभाषा के शब्दों का उदार प्रयोग भी मिश्र जी की रचना में है। पर वह भी समास और अनुप्रास की सजावट के लिए; भाषा को चलता रूप देने के लिए नहीं। 'सुभाव', 'परतच्छ', 'मनहरन', 'सुजस', 'परबस', 'दरसन', 'अचरज', 'गुन', 'निपुनई', 'अनगिनत', 'सरन', 'कारिख' भी सम्मान सहित बैठे मिलते हैं। साधारण विषयों का निरूपण करते समय आप अपनी रचनाओं में बोलचाल के व्यावहारिक विदेशी शब्द भी प्रयोग कर लेते हैं। 'अकसर', 'किला', 'ख़ास', 'कैद', 'राहज़नी', 'चारा', 'नेकनीयत', 'बला', 'गज़ब', 'शिकार', 'मसल', 'क़लम', 'ताक', 'बादशाह', 'बेइज्ज़त' तालाश करने में कठिनाई न होगी। 'कलम-कुल्हाड़ा चलाना', 'टट्टी की ओट शिकार करना', 'तूती बोलना', 'दिन फिरना', 'लीक पीटना', 'मैदान साफ़ करना', 'कोल्हू का बैल' 'स्पेशल ट्रेन पर सवार होना', 'कमर कसना', 'आँख में धूल झोंकना', 'लीक पीटना', 'हाथ पर हाथ रखकर बैठना'—ये मुहावरे भी मिश्र जी की सामान्य विषय-सम्बन्धी रचनाओं में मिल जायँगे। 'आत्माराम की टें टें' में इनकी भाषा-शैली का रूप अधिक स्वाभाविक और प्रगतिशील है।

"सारांश यह कि अत्यन्त सुविशाल शब्दारण्य के अनेकों विभाग वर्तमान हैं, उसमें एक विषय की योग्यता का पाण्डित्य के लाभ करने से ही कभी कोई व्यक्ति सब विषयों में अभिज्ञ नहीं हो सकता है। परन्तु अभागी हिन्दी के भाग्य में इस विषय का विचार ही मानों विधाता ने नहीं लिखा है। जिन महाशयों ने समाचार-पत्रों में स्वनामांकित लेखों का मुद्रित कराना कर्तव्य समझा और जिनके बहुत-से लेख प्रकाशित हो चुके हैं, सर्वसाधारण में इस समय वे सब के सब हिन्दी के भाग्यविधाता और सब विषयों के ही सुपण्डित माने जाते हैं। मैं इस भेड़ियाधसान को हिन्दी की उन्नति के विषय में सबसे बढ़कर बाधक और भविष्य में विशेष अनिष्ठोत्पादक समझता हूँ। अनधिकार चर्चा करने वाले से बात-बात में भ्रम-प्रमाद संघटित होते हैं। नामी लेखकों के भ्रम से अशिक्षित समुदाय की ज्ञानोन्नति की राह में विशेष प्रतिबाधक पड़ जाते हैं। यह ही कारण है कि तत्वदर्शीविज्ञ पुरुष अपने भ्रम का परिज्ञान होते ही उसे प्रकाशित कर सर्वसाधारण का परोपकार करने में क्षणमात्र भी विलम्ब नहीं करते, बल्कि विलम्ब करने को महापाप समझते हैं।"

× × ×

"जब तक इस श्रेणी के मनुष्य मौनावलम्बनपूर्वक शान्तचित्त से विशेषज्ञों को विचार में प्रवृत्त होने का कृपापूर्वक अवसर न दें अथवा जब तक उपयुक्त चिकित्सा से इनका मुख-स्तम्भन न किया जाय तब तक परिणाम अच्छा नहीं दीखता है । यथार्थ अधिकारी, अभिज्ञ, मर्मज्ञ और हिन्दी के विशेषज्ञ ही हिन्दी-व्याकरण का विचार करने में समर्थ हैं । हिन्दी भाषा का संरक्षकपद और व्याकरणादि की त्रुटि का विचार सर्वथा उनके अधिकार में ही छोड़ देना उचित है । अवश्य इस ओर उनके चित्ताकर्षण करने का अधिकार सबको समभाव से है ।"

—'आत्माराम की टें टें'

साहित्य और शैली के लिए मिश्र जी की कोई देन हो या नहीं, कम से कम, अपनी विलक्षण अभिव्यंजना और विचित्र भाषा-शैली के लिए वह याद तो किये जाते हैं ।

५

श्यामसुन्दर दास

प्रसार और सर्जन—दोनों ही क्षेत्रों में बाबू श्यामसुन्दर दास ने हिन्दी-साहित्य की प्रशंसनीय सेवा की। अन्य भाषाओं से साहित्य-शास्त्र और सिद्धान्तों का अध्ययन कर उन्हें हिन्दी में उपस्थित किया। आने वाली पीढ़ियों के लिए मौलिक साहित्य-सृजन की प्रेरणा आपकी रचनाओं से मिली। सिद्धान्त और समीक्षा-सम्बन्धी अनेक निबन्ध भी आपने लिखे—यहाँ आपके निबन्धकार से ही हमें प्रयोजन है। 'समाज और साहित्य', 'भारतीय साहित्य की विशेषताएँ', 'कर्तव्य और सत्यता', 'तुलसीदास', 'सूरदास', 'हमारी भाषा,' 'हिन्दी गद्य के आदि आचार्य' इनके प्रसिद्ध निबन्ध हैं। 'तुलसीदास', 'सूरदास' और 'कबीरदास' में जीवनी और साहित्य-समीक्षा का सुन्दर मेल हुआ है।

अपेक्षाकृत बाबू जी आलोचक हैं। आलोचक उनके निबन्धकार को दबाए रहता है। पर उनके सजग निबन्धकार ने 'भारतीय साहित्य की विशेषताएँ', 'समाज और साहित्य', 'हमारे साहित्योदय की प्राचीन कथा', 'कर्तव्य और सत्यता' में अपने अधिकार की पूरी-पूरी रक्षा की। इनके निबन्धों में भी, आचार्य द्विवेदी के निबन्धों के समान, अपना आकुल मस्तिष्क कम बोलता है—और भावुकता तो कहीं गलती से भी नहीं झाँकती। अध्ययन और संकलन ही आधिकारिक रूप से इनमें मिलेगा।

भाषा के सम्बन्ध में आपका निश्चित मत है। उर्दू के शब्द और मुहावरे खोजने पर भी इनकी भाषा में न मिलेंगे। शत प्रतिशत संस्कृत तत्सम शब्दों का प्रयोग ही यह करते हैं। बोलचाल के शब्द भी कभी-कभी मिल जाते हैं। इस रूप में वह द्विवेदी जी से बिलकुल दूसरे छोर पर हैं। उर्दू-फ़ारसी के वे ही एक-दो शब्द प्रयोग में लाते हैं; जिन्होंने अपना विदेशी रूप खो दिया है। वे शब्द संस्कृत-शब्दों के सघन कानन में ऐसे खो जाते हैं कि तलाश करना सुगम नहीं। विदेशी शब्द-प्रयोग के बारे में वह लिखते हैं—"जब हम विदेशी भावों के साथ विदेशी शब्दों को ग्रहण करें तो उन्हें ऐसा बना लें कि उनमें से विदेशीपन निकल जाय और वे अपने हमारे होकर हमारे व्याकरण के नियमों से अनुशासित हों।"

बाबू जी प्रायः बड़े वाक्य लिखना पसन्द नहीं करते। प्रयत्न यही रहता है, बात सरलता से समझ में आ जाय। भाषा की कठिनाई या भावों की उलझन न हो। दुरूहता न आने पावे। इस सिद्धान्त को निभाने की चेष्टा भी उन्होंने की। सामान्य

विषय के लिए भले ही बड़े-बड़े वाक्यों की योजना वह करें, पर जटिल और कठिन विषय के लिए सरल, छोटे, अमिश्र और सुसम्बद्ध वाक्य ही लिखते हैं। इस विषय में उनका मत है, 'जो विषय जटिल अथवा दुर्बोध हों, उनके लिए छोटे-छोटे वाक्यों का प्रयोग वांछनीय है।' और 'सरल और सुबोध विषयों के लिए यदि वाक्य अपेक्षाकृत कुछ बड़े भी हों तो उनसे उतनी हानि नहीं होती।'

भाषा संस्कृत से प्रभावित होते हुए भी अव्यावहारिक, दुर्बोध, उलझी हुई नहीं होने पाती। समझाने के लिए अपने विषय को बाबू जी बार-बार दुहराते हैं। समानार्थक वाक्यों में उसे रखते हैं। उदाहरण और रूपक भी उपस्थित करते हैं,— "जैसे शरीर की स्थिति और बुद्धि के अनुकूल आहार की अपेक्षा होती है, उसी प्रकार मस्तिष्क के विकास के लिए साहित्य का प्रयोजन होता है।" 'सारांश यह है कि···', 'अर्थात', 'अतः', 'अतएव', 'अस्तु', 'इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है', इनसे स्पष्ट है कि लेखक अपनी भाषा की प्रकाशन-शक्ति और पाठक की समझ पर पूरा भरोसा नहीं रखता। वह अधिक से अधिक व्यापक और स्पष्ट रूप में अपनी बात पाठक के गले उतारना चाहता है। बाबू साहब की भाषा-शैली में समझाने के अध्यापकीय ढंग की झलक मिलती है।

"प्राकृतिक स्थिति के अनुकूल जिसकी जिस विषय की ओर विशेष प्रवृत्ति रही उस पर उसी की उत्तेजना का अधिक प्रभाव पड़ा। अन्त में प्रकृति देवी ने जैसा कार्य देखा, वैसा ही फल दिया। जिसने जिस अवयव से कार्य लिया, उसके उसी अवयव की पुष्टि और वृद्धि हुई। सारांश यह है कि आवश्यकतानुसार उनके रहन-सहन, भाव-विचार सब में परिवर्तन हो चला। जो सामाजिक जीवन पहले था, वह अब न रहा। अब उसका रूप ही बदल गया। अब नये विधान आ उपस्थित हुए। नई आवश्यकताओं ने नई चीज़ों के बनाने के उपाय निकाले। जब किसी चीज़ की आवश्यकता आ उपस्थित होती है तब मस्तिष्क को उस कठिनता को हल करने के लिए कष्ट देना पड़ता है।

"इस प्रकार सामाजिक जीवन में परिवर्तन के साथ ही साथ मस्तिष्क-शक्ति का विकास होने लगा। सामाजिक जीवन के परिवर्तन का दूसरा नाम अभ्यासावस्था से सभ्यावस्था को प्राप्त होना है। अर्थात ज्यों-ज्यों सामाजिक जीवन का विकास, विस्तार और उसकी संकुलता होती गई त्यों-त्यों सभ्यता देवी का साम्राज्य स्थापित होता गया। सभ्यावस्था सामाजिक जीवन में उस स्थिति का नाम है जब मनुष्य को अपने सुख और चैन के साथ-साथ दूसरे के स्वत्वों और अधिकारों का भी ज्ञान हो जाता है। यह भाव जिस जाति में जितना ही अधिक पाया जाता है उतनी ही अधिक वह जाति सभ्य समझी जाती है। इस अवस्था की प्राप्ति बिना मस्तिष्क के विकास के

नहीं होती अथवा यों कहना चाहिए कि सभ्यता की उन्नति साथ ही साथ होती है। एक-दूसरे का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। एक का दूसरे के बिना आगे बढ़ जाना या पीछे पड़ जाना असम्भव है। मस्तिष्क के विकास से साहित्य का स्थान बड़े महत्व का है।"

—'समाज और साहित्य'

ऊपर के अवतरण में बाबू जी की शैली का रूप स्पष्ट हो जाता है। खोजने पर भी उर्दू का शब्द न मिलेगा। सामासिक शब्दों का भी पर्याप्त प्रयोग है। वाक्य बड़े-बड़े नहीं हैं। 'सारांश यह है', 'अर्थात' बात को स्पष्ट करने के लिए पड़ाव हैं। 'एक-दूसरे का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध ह।'—को 'एक का दूसरे के बिना आगे बढ़ जाना या पीछे पड़ जाना असम्भव है।'—के द्वारा दुहराया और स्पष्ट किया गया है। बीच-बीच में व्याख्या भी करते जाते हैं। 'सभ्यावस्था' की व्याख्या करने के लिए ही 'सामाजिक जीवन में उस स्थिति का नाम है जब मनुष्य को अपने सुख और चैन के साथ-साथ दूसरे के स्वत्वों और अधिकारों का भी ज्ञान हो जाता है।' वाक्य की आवश्यकता पड़ी।

बाबू जी की शैली में बहाव तो है। सरसता, तरलता या आत्मीयता नहीं। बहाव भी तीव्र नहीं, रेंगता-सा। रूखापन उसमें एक सर्वमान्य शिकायत है। बोझल इतनी अधिक तो नहीं कि उसमें अरुचिकर दुरूहता आ जाय, पढ़ते हुए मन उकतावे या बचकर भागने की सोचे; पर स्फूर्ति और सक्रियता का अभाव उसमें खटकता है। साथ ही उसमें अर्थ-विस्तार और शब्द-संकोच की बेहद कमी है। अल्पतम शब्दों में अधिकतम बात कहने की शक्ति इनकी शैली में नहीं। शब्दों का बहुत अधिक फैलाव है बार-बार दुहराने की प्रवृत्ति ने इसे और भी ढीला और बिखरा हुआ बना दिया। सघनता, सूक्ष्मता और कसाव इसमें नहीं। 'हम सब लोगों के मन में एक ऐसी शक्ति है जो हम सभी को बुरे कामों के करने से रोकती और अच्छे कामों की ओर हमारी प्रवृत्ति को झुकाती है।' इस वाक्य में शैली की विरलता स्पष्ट है। 'हम सबके मन में एक ऐसी शक्ति है, जो हमें बुरे काम करने से रोकती और अच्छे कामों की ओर प्रवृत्त करती है।' ऐसे लिखा जाता तो शैली अधिक गठित और सघन होती।

अनेक छोटे-छोटे वाक्यों का 'और' से जोड़ने की भी विचित्रता इनकी शैली में मिलेगी,—"मनुष्य के कर्त्तव्य-मार्ग में एक ओर तो आत्मा के भले और बुरे कामों का ज्ञान और दूसरी ओर आलस्य और स्वार्थपरता रहती है। बस, मनुष्य इन दोनों के बीच में पड़ा रहता है, और अन्त में यदि उसका मन पक्का हुआ तो वह आत्मा की आज्ञा मानकर अपने धर्म का पालन करता है और यदि उसका मन कुछ काल तक द्विविधा में पड़ा रहा तो स्वार्थपरता निश्चय उसे आ घेरेगी और उसका चरित्र घृणा के

योग्य हो जायगा।" इस अवतरण में छः 'और'-जी सुशोभित हैं। इस 'और' ने शैली की प्राण-शक्ति पी ली, शोभा चाट ली, उसमें कुरूपता की पुताई कर दी।

इन खटकने वाले दोषों के साथ ही कहीं-कहीं शैली में सरसता और मधुरता भी है। सन्तुलित वाक्यों में अनुप्रास की छटा और नाद झंकार भी मिलेगी—"भारत की शस्य-श्यामला भूमि में जो निसर्ग-सिद्ध सुषमा है, उससे भारतीय कवियों का चिर-काल से अनुराग रहा है।'—यह अवतरण, लगता है, किसी कवि का भावोच्छवास है, अनुभूति की साँस है। यही शैली यदि कहीं, प्रधान रूप में श्यामसुन्दर दास की रचना में और विकसित होती, तो वह शैली में प्रथक व्यक्तित्व प्रतिष्ठित कर सकते।

नीचे के उद्धरण में बाबू जी की विवेचन-पद्धति का आदर्श मिलेगा—

"प्रकृति के रम्य रूपों से तल्लीनता की जो अनुभूति होती है, उसका उपयोग कविगण कभी-कभी रहस्यवादी भावनाओं के संचार में भी करते हैं। यह अखण्ड भूमण्डल तथा असंख्य ग्रह-उपग्रह, रवि-शशि अथवा जल, वायु, अग्नि, आकाश कितने रहस्यमय तथा अज्ञेय हैं, इनकी सृष्टि, संचालन आदि के सम्बन्ध में दार्शनिकों अथवा वैज्ञानिकों ने जिन तत्त्वों का निरूपण किया है, वे ज्ञान-गम्य तथा बुद्धि-गम्य होने के कारण नीरस तथा शुष्क हैं। काव्य-जगत में इतनी शुष्कता तथा नीरसता से काम नहीं चल सकता, अतः कविगण बुद्धिवाद के चक्कर में न पड़कर व्यक्त प्रकृति के नाना रूपों में एक अव्यक्त किन्तु सजीव सत्ता का साक्षात्कार तथा उससे भाव-मग्न होते हैं। इसे हम प्रकृति-सम्बन्धी रहस्यवाद कह सकते हैं, और व्यापक रहस्यवाद का एक अंग मान सकते हैं। प्रकृति के विविध रूपों में विविध भावनाओं के उद्रेक की क्षमता होती है; परन्तु रहस्यवादी कवियों को अधिकतर उसके मधुर स्वरूप से प्रयोजन होता है, क्योंकि भावावेश के लिए प्रकृति के मनोहर रूपों की जितनी उपयोगिता है, उतनी दूसरे रूपों की नहीं होती।

—'भारतीय साहित्य की विशेषताएँ'

बाबू श्यामसुन्दर दास ने विषय की विविधता की दृष्टि से बहुत ही कम निबन्ध लिखे। सभी निबन्ध विचारात्मक हैं। उनकी शैली को हम विवेचना-शैली में रखेंगे। यही प्रायः विचारात्मक निबन्धों में अपनायी जाती है। कहीं-कहीं प्रसाद-शैली भी है।

६

पद्मसिंह शर्मा

तुलनात्मक समालोचना के जनक हैं द्विवेदी-युग के समालोचक-शिरोमणि साहित्याचार्य पंडित पद्मसिंह शर्मा। उस युग में शर्मा के समान साहित्य-पारखी और विद्वान दूसरा न हुआ। शर्मा जी ने निबन्ध भी लिखे—'पद्मपराग' और 'प्रबन्ध मंजरी' दो संग्रह भी इनके प्रकाशित हुए। शर्मा जी द्वारा लिखे गये निबन्ध भाषा-शैली ही नहीं; भाव और विचार की दृष्टि से भी हिन्दी की श्रेष्ठ रचनाओं में हैं; पर निबन्धकार के रूप में शर्मा जी आलोचक के समान ऊँचा आसन न पा सके।

संक्षिप्त जीवन-चित्र, साहित्य-समीक्षा, सुझाव-निर्देश, संस्मरण-श्रद्धांजलि—सभी आपके निबन्धों के विषय बन। पुराने साहित्य की रक्षा के आप सशक्त समर्थक रहे, नवीन साहित्य-निर्माण के प्रबल प्रोत्साहक। हिन्दी-उर्दू, संस्कृत-फ़ारसी, पाली-प्राकृत के अतिरिक्त भारतीय प्रान्तीय भाषाओं के भी आप उत्कट विद्वान थे। विविध भाषा-साहित्य-ज्ञान ने आपकी शैली को प्रशंसनीय समन्वय प्रदान किया। शैली और प्रकार दोनों ही रूप में आपके निबन्धों में भावात्मकता प्रधान है—विचारात्मक निबन्धों में भी यह अपने अधिकार का उपभोग करती है। भाषा की दृष्टि से इनकी शैली के दो स्वरूप सामने आते हैं—एक तो, चलती व्यावहारिक उर्दू-फ़ारसी मिश्रित और दूसरा, शुद्धतावादी संस्कृत प्रधान रूप में हास्य-व्यंग की छटा भी रहती है और संस्कृत प्रधान रूप में गम्भीरता और भावों तथा विचारों की प्रौढ़ता। तीसरा, एक सरल प्रसादात्मक रूप भी इनकी रचनाओं में मिलता है।

"हा, पण्डित गणपति शर्मा जी हमको व्याकुल छोड़ गये। हाय-हाय क्या हो गया! यह वज्रपात, यह विपत्ति का पहाड़ अचानक कैसे टूट पड़ा! यह किसकी वियोगाशनि से हृदय छिन्न-भिन्न हो गया, यह किसके वियोग-बाण ने कलेजे को बींध दिया, यह किसके शोकानल की ज्वालाएँ प्राण-पखेरू के पंख जलाए डालती हैं। हा! निर्दय काल-यवन के एक ही निष्ठुर प्रहार ने किस भव्य मूर्ति को तोड़कर हृदय-मन्दिर सूना कर दिया। हा हन्त, अपने यश-सौरभ और पाण्डित्य- परिमल से सज्जन-मधुकरों को तृप्ति करने वाले किस अपूर्व पुरुष की जीवन-नलिनी को मृत्यु-मत्त-मातग ने उखाड़कर अपनी दुरन्त-पूरा उदर-दरी में धर लिया! हा! दुर्दैव-निदाध. तूने इस मूर्ख-बहुल मरुभूमि के एकमात्र वित्सरोवर को सहसा सुखाकर कितने अनन्य गति के जिज्ञासु मीनों को जीवन हीन बना दिया! हा! दूर दृष्टि प्रचण्ड पवन,

तेरे एक ही प्रलयकारी झोंके ने उपेदामृत-वर्षी-पण्डित-पर्जन्य को पिपासाकुल शुश्रूषु चातकों की आशाभरी दृष्टि से दूर करके यह क्या किया। श्रम-संतापहारी-सुस्निग्ध-च्छाप वेदान्त तरु को उच्छिन्न करके क्या लिया ?"

पण्डित गणपति शर्मा को अर्पित श्रद्धांजलि से यह अवतरण लिया गया है। भावात्मक निबन्ध के वर्ग में ही यह आयगा। पूरे अवतरण में एक भी शब्द बाहरी भाषा का नहीं—आदि से अन्त तक संस्कृत-शैली। भाषा की कलात्मकता का जितना निर्वाह इसमें है, भावों की तीव्रता और गहनता का उतना नहीं। शोक से आकुल हृदय से वेदना-विह्वल क्षणों में रूपकों की बौछार क्या सम्भव है ? स्पष्ट है, भाषा-शैली की प्राचीन परिपाटी का स्वरूप ही इसमें आ सका—शैली का आवेग नहीं। भाषा पर अधिकार तो स्वीकार करना ही चाहिए।

भावात्मक निबन्धों में भाषा का मिश्रित स्वरूप अत्यन्त स्वस्थ रूप में शर्मा जी ने प्रतिष्ठित किया। यह शैली अधिक प्राणवान, प्रौढ़, प्रभावशाली और सशक्त है। वास्तव में शर्मा जी का व्यक्तित्व इसी मिश्रित स्वरूप में निखरा। इसमें गतिशीलता भी है और व्यावहारिकता भी। पहले अवतरण में रूपकों की छटा के कारण जो स्वाभाविक आवेग नहीं—भावों की बाढ़ नहीं, वह आवेग, वह सक्रियता और अभिव्यंजना प्रशंसनीय रूप में इस मिश्रित शैली में मिलेंगी।

"जो मुद्दत से छिपे पड़े थे, अब छपकर बाहर निकल रहे हैं, बहुत छिपाया, पर ग्राहकों ने ज़बरदस्ती छीन ही लिया—काग़ज़ों के कोने से खींचकर नुमायश के बाज़ार में ले ही आये। बरसों का साथ छूट रहा है, छोड़ने को जी नहीं चाहता, ममता लिपट रही है, बेबसी खड़ी रो रही है, भविष्य की चिन्ता बेचैन कर रही है, कि देखिए बाहर निकलने पर इन गरीबों के साथ क्या सलूक हो, आदर पायें या दुत्कारे जायँ। दुनिया है, शहर के लोग है, दुर्गम मार्ग है, चारों ओर पग-पग पर काँटे बिछे हैं। कहीं दलबन्दी की दलदल है, कहीं पक्षपात का जाल है, मत्सर की बालू के ऊँचे-ऊँचे टीले हैं, ईर्षा की गहरी खाड़ी हैं, न मालूम क्या पेश आवे। अच्छा था, एक कोने में फटे-पुराने चिथड़ों में छिपे पड़े थे, नज़र बद से बचे हुए थे, इसी में कुशल थी, चमकने का—नुमायाँ होकर निकलने का चाव—सौ आफ़तों में फँसाता है। क्या पड़ा था जो यों प्रकाश में—प्रकाशित होकर निकल पड़े। मेरे थे, मेरे पास पड़े रहते। मैंने बहुत छिपाया, बहुत बचाया, पर न बच सके, कई 'आई' टालीं, पर अब की न टल सकीं।"

—'पद्मपराग की जीवनी'

छोटे-छोटे संक्षिप्त वाक्य—भावों की लहरें करवटें लेती हैं। कहने के ढंग में

भी निरालापन और बाँकपन है। 'कागजों के कोने', 'नुमायश के 'बाजार', 'छिपे पड़े थे', 'छपकर निकल रहे हैं',—में अभिव्यंजना का निरालापन है।"

प्रसादात्मक शैली का एक नमूना—

"साहित्य के नवीन-मन्दिरों का निर्माण तो हो ही रहा है, होता ही रहेगा, होना भी चाहिए, पर साहित्य के प्राचीन प्रासाद, जो जहाँ-तहाँ ध्वस्त-विध्वस्त दशा में दबे पड़े हैं, उनका उद्धार इससे भी बड़े महत्त्व का काम है। इन खण्डहरों में बड़े-बड़े अमूल्य रत्न और कीमती खजाने मिट्टी में मिले हैं, उन्हें भी ढूँढ़कर बाहर निकलना चाहिए। पूर्वजों की कीर्ति-रक्षा बड़े पुण्य का काम है, ऋषि-ऋण से उऋण होना है। प्राचीनता की दृष्टि से ही नहीं; उपयोगिता की दृष्टि से भी यह कार्य कुछ कम महत्त्व का नहीं है। हमारे प्रमाद और उपेक्षा से साहित्य के अनेक रत्न नष्ट हो गये, जो बचे हैं, वे भी भ्रष्ट होते जा रहे हैं। साहित्य के नाम पर रसभाव-विहीन बेतुकी तुकबन्दियों और अन्य भाषा के उपन्यासों के अनुवादों का ढेर पर ढेर लगता जा रहा है, और हम हैं कि हिन्दी-साहित्य की इस वृद्धि पर फूले नहीं समाते, बड़े गर्व के साथ घोषणा करते नहीं थकते कि हमारी भाषा का साहित्य दिन दूनी, रात चौगुनी उन्नति कर रहा है।"

—'पद्मपराग', पृष्ठ ३८२

भाषा के सम्बन्ध में शर्मा जी के अपने निजी विचार थे। उन्हीं के अनुसार उन्होंने अपनी भाषा-शैली का निर्माण किया। उर्दू-फ़ारसी के शब्द ही नहीं अंग्रेज़ी के शब्द भी वे स्वतन्त्रता-पूर्वक प्रयोग करते थे। 'स्कीम', रिक्वैस्ट', 'रिस्पैक्ट', 'लीडर', 'फण्ड', 'पार्टी-स्प्रिट', 'रिफ़ार्म', 'फ़ुल बेंच', 'हिन्दुइज़्म' आदि परिचित शब्द सामान्यतः आपकी भाषा में मिल जायँगे। मुहावरों का उपयुक्त प्रयोग भी है। शब्द और मुहावरों को नगीने की तहर जड़ना आपकी कला की सबसे बड़ी विशेषता है। आवेग, विवेचना, प्रसाद—तीन शैलियाँ आपकी रचनाओं में मिलती हैं।

७

अध्यापक पूर्णसिंह

शैली, स्वरूप, प्रकार और अभिव्यञ्जना की दृष्टि से अध्यापक पूर्णसिंह निबन्ध का नवीन रूप लेकर आये। भारतेन्दु और द्विवेदी-युग में निबन्ध का इतना शुद्ध, यथार्थ और टैकनीक में पूर्ण रूप मिलता ही नहीं। स्वाधीन चिन्तन, अनाभिभूत विचार-प्रकाशन, प्रभावशाली व्यक्तित्व, निश्छल-निर्मल अनुभूति, आकर्षक आत्मीयता और सबल मधुर अनुरोध—सभी इनके निबन्धों में मिलेगा। पश्चिमी समीक्षा-सिद्धान्तों के अनुसार निबन्ध का जो स्वरूप संगठित हुआ, जो व्यक्तित्व निखरा, प्राण-बल संचित हुआ, वही सब हमें अध्यापक जी के निबन्धों में मिलता है। जीवन में चार-पाँच निबन्ध लिखकर अमर शैलीकार और निबन्धकार के रूप में समीक्षों का सम्मान और प्रशंसा का उपयोग करना, साधारण बात तो नहीं। 'सच्ची वीरता', 'मज़दूरी और प्रेम', 'आचरण की सभ्यता' और 'ब्रह्मक्रान्ति' ये चार निबन्ध हमारे देखने में आये हैं। इन्हीं की कसौटी पर हम इनको द्विवेदी-युग का सर्वश्रेष्ठ निबन्धकार कहते हैं।

'ब्रह्मक्रान्ति' के अतिरिक्त शेष तीनों निबन्ध विषयानुसार विचारात्मक हैं। इनमें न तो प्रसाद और न विवेचन-शैली अपनाई गई। विचारात्मक होने पर भी ये निबन्ध भावात्मक बन गये हैं। शैली, रसानुभूति, भावावेग, आत्मीय मधुर अनुरोध, के कारण इनमें भावात्मक निबन्ध का रस मिलता है। हर निबन्ध में पूर्णसिंह जी का प्राणवान व्यक्तित्व उछला पड़ता है। उनके हृदय का स्पन्दन बजता है। उनकी भावानुभूति बेताबी से छलकती है। शैली के रूप में व्यक्तित्व का प्रकाशन बड़ी बात नहीं, यह अनेक निबन्धकारों में हो सकता है। व्यक्तित्व उभरता है, प्रथक निर्मल भावाभिव्यक्ति, स्वाधीन विचार-प्रकाशन और सानुरोध ममता में यही व्यक्तित्व अध्यापक जी के निबन्धो में मिलेगा। यही व्यक्तित्व हमें प्रतापनारायण के निबन्धों में भी मिलता है। इनके निबन्धों में भावात्मकता का प्राधान्य है, पर विचारात्मकता की कमी नहीं। 'सच्ची वीरता' और 'मज़दूरी और प्रेम' में तो यह बड़ी सबल, प्रभावशाली और सतर्क होकर आई। हाँ, शैली विवेचनात्मक है नहीं।

स्वाधीन चिन्तन, निर्भय विचार-प्रकाशन प्राचीन सूत्रों की बाल की खाल निकालने में नहीं, समाज, समय और परिस्थिति की माँग का उत्तर देने में है। प्रगतिशील विचारों से किसी व्यक्ति के मानसिक चिन्तन और विचार-स्वातन्त्र्य का पता चलता है।

अध्यापक जी अपने समय के सबसे अधिक प्रगतिशील विचारक हैं। पश्चिम के नवीन समाज-विधान, आर्थिक साम्य, जीवन-संघर्ष के आदर्श का सबसे प्रथम स्वागत हम अध्यापक पूर्णसिंह के निबन्धों में पाते हैं। नवीनता की नकल के नशे में डूब यह पश्चिमी विचारों का स्वागत नहीं करते; उन्हें अनुभव, चिन्तन, विज्ञान और मानव-हित-कामना की कसौटी पर कसकर करते हैं।

'मज़दूरी और प्रेम' से एक उद्धरण लीजिए—

"निकम्मे बैठे हुए चिन्तन करते रहना, अथवा बिना काम किये शुद्ध विचार का दावा करना, मानो सोते-सोते खर्राटे मारना है। जब तक जीवन के आरण्य में पादड़ी, मौलवी, पण्डित और साधु-संन्यासी हल, कुदाल और खुरपा लकर मज़दूरी न करेंगे, तब तक उनका आलस्य जाने का नहीं। तब तक उनका मन और उनकी बुद्धि, अनन्त काल बीत जाने तक मलिन मानसिक जुआ खेलती ही रहेंगी। उनका चिन्तन बासी, उनका ध्यान बासी, उनकी पुस्तकें बासी, उनके खेल बासी, उनका विश्वास बासी और उनका खुदा भी बासी हो गया है—इस उद्धरण में व्यक्त किये गये विचार आज भी नवीन हैं। आज भी ये प्रगतिशीलता के आदर्श हैं। विचारों के पीछे जो मानसिक बल और फोर्स है, आज भी वह निकम्मे, विलासी, निष्क्रिय धर्म-पुरोहितों के लिए चुनौती है।"

पाठक से सीधी बातचीत—हृदय का हृदय से निष्कपट, अवगुण्ठनहीन मिलन—निबन्ध की बहुत बड़ी आवश्यक विशेषता है। दुराव तो निबन्ध की नैतिकता में अपराध है। अध्यापक जी अपने पाठक से जी खोलकर बातें करते हैं। उनकी बातचीत में ममता भी है और प्रभावशाली आदेश भी। दोनों ही रूपों में वह सजते हैं, भाते हैं, सर्वप्रिय और सर्वादरित होते हैं।

'मज़दूरी और प्रेम' से लिया गया उद्धरण इसका प्रमाण है—

"गेरूए वस्त्रों की पूजा क्यों करते हो? गिरजे की घण्टी क्यों सुनते हो? रविवार क्यों मनाते हो? पाँच वक्त की नमाज क्यों पढ़ते हो? त्रिकाल सन्ध्या क्यों करते हो? मज़दूर के अनाथ नयन, अनाथ आत्मा और अनाश्रित जीवन की बोली सीखो। फिर देखोगे कि तुम्हारा यही साधारण जीवन ईश्वरीय भजन हो गया।"

अभूतपूर्व लाक्षणिकता और प्राणवान व्यंग्य का आरम्भ एक प्रकार से पूर्णसिंह जी के निबन्धों के द्वारा हुआ। इनके निबन्धों में अर्थव्यापकता गौरवशाली मात्रा में है। अर्थ-विस्तार का साधन हैं—शब्द की लक्षणा और व्यंजना-शक्ति का उपयोग। इन दोनों शक्तियों से सम्पन्न इनके निबन्ध हैं। कहीं-कहीं जो प्रतीकात्मकता प्रकट होती है, उससे इनकी शैली में विलक्षण चमत्कार आ गया है, "एक नई शक्ति और नई ज़बान पैदा हुई।" "दुनिया के ये छोटे 'जार्ज' बड़े कायर

होते हैं।" 'बादल गरज-गरजकर ऐसे ही चले जाते हैं; परन्तु बरसने वाले बादल ज़रा-सी देर में बारह इंच तक बरस जाते हैं', 'वाद करता हुआ भी मौन', 'तारागण के कटाक्षपूर्ण मौन व्याख्यान का।' वाक्य-खण्डों से इनकी लाक्षणिक शैली का अच्छा आभास मिलता है। रहस्यमय भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए इन्होंने प्रतीक-पद्धति अपनायी, यह भी इससे स्पष्ट है।

'ब्रह्मक्रान्ति' नामक निबन्ध इसी लाक्षणिक शैली में लिखा गया है। 'आचरण की सभ्यता' भी इससे प्रभावित है।

"ब्रह्मक्रान्ति के आकर्षण ने दसवाँ द्वार फोड़कर प्राणों को अपनी ही गति फिर दे दी। मारे परमानन्द के हृदय बह गया। यहाँ गिर गया, वहाँ गिर गया। अत्यन्त ज्योति के चमत्कार से साधारण आँखें फूट गईं। प्रेम के तूफ़ान ने सिर उड़ा दिया। हवन-कुण्ड से स्याह, नीले रंग का ब्रह्म कमलों से जड़ा हुआ ब्रह्म, मोतियों से सजा हुआ, किसी ने कंधों पर रख दिया। ब्रह्म-यज्ञ हो चुका।

मनुष्य-जन्म सफल हुआ। जय ! जय ! जय ! भक्त की जिह्वा बन्द हो गई। बाहु पसार जा मिला। कुछ न बोल सका। कुछ न बोला, ब्रह्मक्रान्ति में लीन हो गया। उसके सितार के तार टूट गये। नारद की वीणा चुप हो गई। कृष्ण की बाँसुरी थम गई। ध्रुव का शंख गिर पड़ा। शिव का डमरू बन्द हो गया।"

'ब्रह्मक्रान्ति' से उद्धृत यह खण्ड रहस्यवादी गद्य का श्रेष्ठ उदाहरण है। उच्चकोटि के भावात्मक हिन्दी-निबन्धों में इसे सम्मिलित किया जा सकता है। भावात्वक आवेग-शैली का यह सफल रूप है। छोटे-छोटे वाक्य जल-स्रोत के समान उबले पड़ते हैं। एक वाक्य में दूसरा शृंखला की कड़ियों के समान जुड़ा है। कहीं-कहीं कर्त्ता का लोप इस शैली में और भी सक्रियता, आवेग और बेताबी भर देता है। 'यहाँ गिर गया, वहाँ गिर गया' और 'बाहु पसार जा मिला। कुछ न बोल सका। कुछ न बोला। ब्रह्मक्रान्ति में मिल गया।' वाक्यों से कथन की पुष्टि होती है। ब्रह्मक्रान्ति का भावात्मक जादू-भरा प्रभाव दिखाने के लिए भाषा गज़ब का वातावरण उपस्थित करती है। पाठक का हृदय और मस्तिष्क बँध-से जाते हैं। एक बात को परिणामों के द्वारा प्रकट किया गया है। यह शैली बहुत सफल, प्रभावप्रद और प्रवाहमय होती है।

संक्षिप्त, सरल, सुबोध और शृंखलाबद्ध वाक्यों का उपयोग अध्यापकजी भावात्मक, वर्णनात्मक या विवरणात्मक चित्र उतारने में भी करते हैं। कहीं यह चित्र शुद्ध स्कैच के रूप में होता है, कभी रूपक बनकर आता है। इसमें कल्पना-तत्व भी उल्लेखनीय मात्रा में रहता है। किसान द्वारा किये गये यज्ञ का सम्पन्न सफल चित्र देखिये—

"हल चलाने वाले अपने शरीर का हवन किया करते हैं। खेत उनकी हवनशाला है। उनके हवनकुण्ड की ज्वाला की किरणें चावल के लम्बे और सफ़ेद दानों के रूप में निकलती है। गेहूँ के लाल-लाल दाने इस अग्नि की चिनगारियों की डालियाँ-सी हैं। मैं जब कभी अनार के फूल और फल देखता हूँ तब मुझे बाग के माली का रुधिर याद आ जाता है।······किसान मुझे अन्न में, फूल में, फल में आहुति हुआ-सा दिखाई देता है।"

—'मज़दूरी और प्रेम'

पूर्णसिंहजी बीच-बीच में व्यंग्य की जो बौछार अपने निबन्धों में करते हैं, वह निबन्ध के 'अन्तर' और 'बाह्य' को और भी प्राणवान बना देती है। व्यंग्य में अर्थ की गहनता और विस्तार भी रहता है और चुटीलापन भी। व्यंग्य में चुटीलेपन का अनुपात कुछ अधिक है।

"पुस्तकों या अखबारों के पढ़ने से या विद्वानों के व्याख्यानों को सुनने से तो बस ड्राइंग-हाल के वीर पैदा होते हैं।"

"आजकल भारतवर्ष में परोपकार का बुखार फैल रहा है।"

"आजकल भारतवर्ष में अखबारों की टकसाल में गढ़े हुए वीर दर्जनों मिलते हैं।"

"पुस्तकों के लिखे नुसखों से तो और भी बदहज़मी हो जाती है।"

इस प्रकार के व्यंग्यात्मक वाक्यों से इनकी भाषा में चुस्ती और वक्रता आ गयी है।

भाषा पर पूर्णसिंह का मैत्रीपूर्ण असाधारण अधिकार है। लगता है, शब्दों के नगीनों की मुट्ठी भरी, बिखरा दी। वे स्वयं अपने स्थान पर जा सजे। कभी काव्यमय कोमल मधुर-स्निग्ध भावुकता-भरी धारा उमड़ चलती है, कभी जोश और आवेग की तीव्र धारा बह निकलती है। विषय, अवसर, वातावरण—सबके अनुसार भाषा में स्वाभाविक विविधरूपता आ जाती है। भाषा के सम्बन्ध में इनका एक आदर्श मालूम होता है—सशक्त, सार्थक, स्वाभाविक और उपयुक्त वह हो; उर्दू, बोलचाल, अंग्रेज़ी, संस्कृत—कैसे भी शब्द प्रयोग में आ जायँ। इनकी भाषा में प्रतापनारायण की लापरवाही या जल्दबाज़ी नहीं, उनकी मस्ती अवश्य है।

इनकी रचनाओं में 'बर्फ़ानी', 'दीदार', 'सुफ़ेद', 'इत्तिफ़ाक', 'मयस्सर', 'बे सरो-सामान', 'शिकस्त', 'तरोताज़ा', 'तिजारत', 'क़ुदरत', 'मर्कज़', 'कलाम', 'गुस्ताख़ी', 'आला दर्जा', 'दरख़्त', 'पर्दानशीन', 'बुज़दिली', 'इलहाम', 'शहनशाह हक़ीक़ी', 'अनहलक़' शब्दों का स्वाधीन प्रयोग है। 'मार्च', 'पालिसी', 'क्रूसेड्स' भी अपनी जगह ऐसे जमकर बैठे हैं, इन्हें हटाया नहीं जा सकता। कहीं-कहीं तो जोश में

वाक्य के वाक्य ही उर्दू में बिखर पड़े हैं। "अपनी ज़िन्दगी किसी और के हवाले करो ताकि ज़िन्दगी के बचाने की कोशिशों में कुछ भी वक्त ज़ाया न हो।" (सच्ची वीरता) "क़ुदरत का वह मर्कज़ हिल नहीं सकता।" (सच्ची वीरता)

यह मिश्रित भाषा अधिकतर 'सच्ची वीरता' में ही अधिक मिलती है। 'मज़दूरी और प्रेम', 'आचरण की सभ्यता' और 'ब्रह्मक्रान्ति' में यह लोप होती चली गई। इनकी भाषा का झुकाव विशुद्धता की ओर ही अधिक है। एक उद्धरण में इसकी सत्यता देखें—

"सत्वगुण के समुद्र में जिनका अन्तःकरण निमग्न हो गया, वे ही महात्मा, साधु और वीर हैं। वे लोग अपने क्षुद्र जीवन को परित्याग कर ऐसा ईश्वरीय जीवन पाते हैं कि उनके लिए संसार के सब अगम्य मार्ग साफ़ हो जाते हैं। आकाश उनके ऊपर बादलों के छाते लगाता है। प्रकृति उनके मनोहर माथे पर राजतिलक लगाती है। हमारे असली और सच्चे राजा ये ही साधु पुरुष हैं। हीरे और लाल से जड़े हुए, सोने और चाँदी से ज़र्क-बर्क सिंहासन पर बैठने वाले दुनिया के राजाओं को तो, जो गरीब किसानों की कमाई हुई दौलत पर पिण्डोपजीवी होते हैं, लोगों ने अपनी मूर्खता से वीर बना रखा है। ये ज़री, मखमल और जेवरों से लदे हुए माँस के पुतले तो हर दम काँपते रहते हैं।"

—'सच्ची वीरता'

८

चन्द्रधर शर्मा गुल्लेरी

गुल्लेरीजी ने निबन्ध लिखे तो कम; पर अध्यापक पूर्णसिंह के समान कम ही रचनाओं के सहारे इन्होंने बहुत ऊँचा स्थान बना लिया। इनके निबन्धों में अनोखी लेखन-शैली का विकास हुआ। जो गम्भीर और पाण्डित्यपूर्ण विनोद इनके निबन्धों में आया, वह द्विवेदी-युग में देखने को न मिला। विनोद के मधुर, छोटे, ऐतिहासिक, पौराणिक और जनपरिचित कथा-प्रसंगों की निराली बहार इनकी रचनाओं में मिलेगी। इनकी रचनाओं में विज्ञ और पठित पाठक ही आनन्द ले सकते हैं। एक सबल और आकर्षक व्यक्तित्व इनकी रचनाओं में स्पष्ट दीखता है। उस व्यक्तित्व में गाम्भीर्य के साथ विनोद, पाण्डित्य के साथ चुलबुलापन, प्राचीन के साथ नवीन, सांस्कृतिकता के साथ प्रगतिशीलता एकाकार हो गये हैं। द्विवेदी-युग के यह अत्यन्त प्रगतिशील विचारक हैं। यह विष्णु से देवत्व छीन, उसे मानव का व्यक्तित्व प्रदान करते हैं। "वज्र की मार से पिछली गाड़ी भी आधी टूट गई; पर तीन लम्बे डग भरने वाले विष्णु ने पीछे फिरकर नहीं देखा और न जमकर मैदान लिया", में इनकी मौलिक विचार-धारा का प्रमाण मिलता है। जिस विष्णु की हिन्दुओं में इतनी प्रतिष्ठा उसकी वीरता पर कितना व्यापक और गहरा व्यंग्य है। गुल्लेरीजी ने अलौकिक, पौराणिक कथाओं को इतिहास के चश्मे से पढ़ा और पाठक को भी वह चश्मा दिया। "कछुआ-धर्म", निबन्ध से लिया गया अवतरण देखें—

"पुराने से पुराने आर्यों की अपने भाई असुरों से अनबन हुई। असुर असुरिया में रहना चाहते थे; आर्य सप्त-सिन्धु को आर्यावर्त बनाना चाहते थे। आगे चल दिये। पीछे वे दबाते आये। विष्णु ने अग्नि, यज्ञपात्र और अरणि रखने के लिए तीन गाड़ियाँ बनाईं। उसकी पत्नी ने उनके पहियों की चूल को घी से आँज दिया। ऊखल, मूसल और सोम कूटने के पत्थरों तक को साथ लिये हुए यह कारवाँ हिन्दुकुश के एक मित्र दर्रे खैबर में होकर सिन्धु की एक घाटी में उतरा। पीछे से श्वान, भ्राज, अम्भारि, वंभारि, हस्त, सुतस्त, कृश्न, शब्द, मर्क मारते चले आते थे। वज्र की मार से पिछली गाड़ी भी आधी टूट गई, पर तीन लम्बे डग भरने वाले विष्णु ने पीछे नहीं फिरकर देखा और न जमकर मैदान लिथा। पितृभूमि अपने भ्रातृव्यों के पास छोड़ आये और यहाँ 'भ्रातृव्यस्य बधाय, (सजातानां मध्यमेष्ठाय) देवताओं को आहुति देने

लगे। जहाँ-जहाँ रास्ते में टिके थे, वहाँ-वहाँ यूप खड़े हो गये। यहाँ की सुजला, सुफला, शस्य-श्यामला भूमि में बुलबुलें चहकने लगीं।

पर ईरान के अंगूरों और गुलों का मूँजवत् पहाड़ की सोमलता का चस्का पड़ा हुआ था। लेने जाते तो वे पुराने गंधर्व मारने दौड़ते। हाँ, उनमें से कोई-कोई उस समय का चिलकोआ नकद नारायण लेकर बदले में सोमलता बेचने को राज़ी हो जाते थे। उस समय का सिक्का गौएँ थीं। जैसे आजकल लखपती करोड़पती कहलाते हैं, वैसे तब 'शतगु', 'सहस्रगु' कहलाते थे। ये दमड़ीमल के पोते करोड़ीचन्द अपने 'नवग्वा;' 'दशग्वा;' पितरों से शरमाते न थे, आदर से उन्हें याद करते थे। आजकल के मेवा बेचने वाले पेशावरियों की तरह कोई-कोई सरहदी यहाँ पर भी सोम बेचने वाले आते थे। कोई आर्य सीमांत पर जाकर भी ले आया करते थे। मोल ठहराने में बड़ी हुज्जत होती थी जैसी कि तरकारियों का भाव करने में कुँजड़ियों से हुआ करती है। ये कहते कि गौ की एक कला में सोम बेच दो। वह कहता, वाह! सोम राजा का दाम इससे कहीं बढ़कर है। इधर ये गौ के गुण बखानते। जैसे बुड्ढे चौबे जी ने अपने कन्धे पर चढ़ी बाल-बधु के लिए कहा था कि 'या ही में बेटा या ही में बेटी' वैसे ये भी कहते कि इस गौ से दूध होता है, मक्खन होता है, दही होता है, यह होता है, वह होता है। पर काबुली काहे को मानता। उसके पास सोम की 'मनोपली' थी और इनको बिना लिये सरता नहीं। अन्त में गौ का एक पाद-अर्ध होते-होते दाम तै हो जाते। भूरी आँखों वाली एक बरस की बछिया में सोम राजा खरीद लिये जाते। गाड़ी में रखकर शान से लाये जाते।

अच्छा, अब उसी पंचनद में 'वाहीक' आकर बसे। अश्वघोष की फड़कती उपमा के अनुसार धर्म भागा और दण्ड-कमण्डल लेकर ऋषि भी भागे। अब ब्रह्मावर्त, ब्रह्मर्षि देश और आर्यावर्त की महिमा हो गई; और वह पुराना देश—नतत्र दिवसंवसेत्। बहुत वर्ष पीछे की बात है। समुद्र पार के देशों में और धर्म पक्के हो चले। वे लूटते-मारते तो थे ही, बेधर्म भी कर देते थे। बस समुद्र-यात्रा बन्द। कहाँ तो राम के बनाये सेतु का दर्शन करके ब्रह्महत्या मिटती थी और कहाँ नाव में जाने वाले द्विज का प्रायश्चित कराकर भी संग्रह बन्द! वही कछुआ-धर्म! ढाल के अन्दर बैठे रहो।"

—'कछुआ-धर्म'

एक ही अवतरण से गुलेरीजी के निबन्धों का प्रतिनिधित्व हो जाता है। 'तीन लम्बे डग भरने वाले विष्णु ने पीछे फिरकर नहीं देखा और न जमकर मैदान लिया।' 'ईरान के अंगूरों और गुलों का मूँजवत् पहाड़ की सोमलता का चस्का पड़ा हुआ था', 'ये दमड़ीमल के पोते करोड़ीचन्द', 'मोल ठहराने में बड़ी हुज्जत होती थी, जैसी कि तरकारियों का भाव करने में कुँजड़ियों से हुआ करती है', 'या ही में बेटा

या ही में बेटी', 'धर्म भागा और दण्ड-कमण्डल लेकर ऋषि भी भागे', 'ढाल के अन्दर बैठे रहो'—ये वाक्य-खण्ड चुटीले और गुदगुदी भरे व्यंग्य के गवाह हैं। यह व्यंग्य सांस्कृतिक आस्था और भोली श्रद्धा की दीवार में दराड़ डाल देता है। इसकी शैली को व्यंग्य-प्रधान ही कहा जायगा, प्रसाद-प्रधान नहीं।

भाषा अत्यन्त सरल और सुबोध है। संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान होते हुए भी गुल्लेरीजी जन-साधारण की भाषा लिखना पसन्द करते थे। इतनी सरल और सामान्यजन-सुबोध भाषा में भी यह गजब की वक्रता भर देते हैं। 'अंगूरों और गुलों का चस्का', 'दमड़ीमल के पोते करोड़ीचन्द', 'गौ का एक पाद अर्घ होते-होते दाम तै हो जाते', में कथन की विलक्षण वक्रता है। इनके निबन्धों में भाषा का सर्वमान्य रूप स्वीकृत है। तत्सम शब्दों को कम से कम स्थान यह देते हैं। तद्भव, देशज और बोलचाल के उर्दू शब्दों से अधिक से अधिक काम लेते हैं। अवतरण में दिया गया विवरण प्रागैतिहासिक है। इसमें तत्सम संस्कृत शब्द आने अनिवार्य-से लगते हैं, तो भी उन शब्दों का वहिष्कार इसमें है। 'कारवाँ', 'दर्रे खैबर', 'न जमकर मैदान लिया', 'बुलबुले, 'गुल', 'शरमाते', 'सरहदी', 'हुज्जत' शब्द उर्दू भाषा के हैं। 'आँजना', 'चिलकौआ', 'या ही में बेटा, या ही में बेटी', 'सरता नहीं, 'बेधरम', ब्रज भाषा के हैं। अंग्रेजी शब्द 'मनोपली' भी बेधड़क बैठा है। स्थान-स्थान पर संस्कृत के वाक्य भी जमकर बैठ गये हैं। पर यह पाण्डित्य-प्रदर्शन नहीं, और न इससे रचना की सुबोधता में बाधा पड़ती है।

भाषा में चलतापन है, स्फूर्ति है, तीव्र प्रवाह है। बीच-बीच में नाटकीय संवादात्मकता उसमें और भी प्राण भर देती है। वाक्य सरल और सम्बद्ध हैं, मिश्र नहीं। चेष्टा छोटे-छोटे वाक्य लिखने की ओर है। शायद ही एक-दो वाक्य लम्बे हों—अरुचिकर लम्बाई का तो एक भी वाक्य नहीं मिलेगा। कहीं कर्ता, कहीं कर्म, कहीं क्रिया का लोप शैली को अत्यन्त सशक्त, गतिशील और प्रभावशाली बना देता है। 'आगे चल दिये', 'पीछे वे दबाते आये', 'और वह पुराना देश—न तत्र दिवसं वसेत्', 'लेने जाते तो वे पुराने गन्धर्व मारने दौड़ते', 'बस समुद्र-यात्रा बन्द', 'नाव में जाने वाले द्विज का प्रायश्चित कराकर भी संग्रह बन्द', 'वही कछुआ-धर्म', 'ढाल के अन्दर बैठे रहो', आदि वाक्य भाषा-शैली को संक्षिप्त और प्राणवान बनाते हैं। विवरण की प्रधानता होते हुए भी 'कछुआ-धर्म', विचारात्मक निबन्ध है।

वर्णनात्मक निबन्ध की प्रसाद-शैली का एक नमूना—

"यह प्रतिमा बहुत ही सुन्दर है तो भी इसका आगा जितना अच्छा बना है पीछा तथा बग़ल उतना रमणीय नहीं। नीचे के भाग पर धोती की तरह एक ही वस्त्र पहनाया गया है। उसे सामने घनी चुनावट में समेटकर एक लम्बी लाँग के

रूप में पैरों तक गिराया गया है। नितम्ब पर उसकी सलवट तथा जंघाओं पर उसकी मोड़ बहुत फबती है। बाएँ नितम्ब पर एक मोरी है जिसमें होकर वस्त्र का एक छोर पीठ पर से टेढ़ा जाकर दाहिनी कुहनी पर टिककर बल खाता हुआ नीचे की ओर गिरा है। ऊपर का भाग नंगा है। दाहिने हाथ में चँवर बड़ी धज से लिया हुआ है। भूषणों में एक पाँच लड़ की मेखला है। लड़ियाँ पीछे को छितरी हुई हैं किन्तु आगे एक ही जगह सिमट गई हैं और दो घण्टी के-से छल्लों में निकलकर लटकती लाँग के नीचे आ गई हैं।"

गुल्लेरीजी के निबन्धों में विचारों की मौलिकता, चिन्तन की स्वाधीनता भी मिलेगी; अर्थ की गम्भीरता और व्यापकता भी। शैली और स्वरूप की कसौटी पर तो अध्यापक पूर्णसिंह और गुल्लेरीजी ही द्विवेदी-युग में सबसे खरे उतरते हैं।

प्रसाद-युग

(संवत् १९८०-२००० विक्रमी)

१

युग-परिचय

२

गुलाबराय

३

रामचन्द्र शुक्ल

पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी

माखनलाल

६

वियोगीहरि

७

रायकृष्णदास

८

वासुदेवशरण अग्रवाल

९

शान्तिप्रिय द्विवेदी

१०

रघुवीर सिंह

१

युग-परिचय

प्रसाद-युग गद्य-विकास का स्वर्ण-काल है। कहानी, उपन्यास, नाटक, आलोचना ही इस युग में चरम विकास को नहीं पहुँचे, निबन्ध ने भी अत्यन्त स्वस्थ, सबल और सम्पन्न आकार पाया। इस युग का निबन्ध हिन्दी-गद्य के इतिहास में महान समृद्धि है। प्रौढ़ गम्भीर विचारकों, मुग्धमन स्निग्ध हृदय कलाकारों और साहित्य-मर्मज्ञ समीक्षकों ने अपनी रचनाओं से प्रसाद-युग का निबन्ध-भण्डार भरा। कसौटी पर इस युग के निबन्ध खरे उतरते हैं। द्विवेदी-युग की स्थूलतात्याग प्रसाद-युग में निबन्ध सूक्ष्मता की ओर बढ़ा ही नहीं, बहुत कुछ अन्तर्मुखी हो गया। इसलिए इस युग में वर्णन और विवरण-प्रधान निबन्ध नहीं के बराबर ही लिखे गये। भावात्मक और विचारात्मक प्रकार-क्षेत्र में इस युग की रचनाएँ अत्यन्त प्रौढ़ और आदर्श रूप उपस्थित करती हैं।

प्रसादजी की भावात्मक काव्यमय गद्य की एक नवीन शैली ही इस युग में खड़ी हो गई। प्रसाद जी के प्रभाव से भावात्मक निबन्ध पर्याप्त मात्रा में लिखे जाने लगे। इन छोटे-छोटे भावात्मक निबन्ध-खण्डों का एक स्वतन्त्र साहित्य ही रचा जाने लगा। कुछ समीक्षकों ने ऐसी रचनाओं को गद्य-काव्य की संज्ञा दी। इनको हम भाव-प्रधान-निबन्ध ही मानते हैं, इसका विवेचन 'आलोक' में किया जा चुका है। भावात्मक निबन्ध-क्षेत्र में वियोगीहरि, रायकृष्णदास, माखनलाल चतुर्वेदी का नाम पहली पंक्ति में लिया जा सकता है। इन्होंने भाषा को कोमलता, तरलता, रंगीनी और चित्रात्मकता देने में प्रशंसनीय कार्य किया। पर निबन्ध की परख को कसौटी मानें तो माखनलाल चतुर्वेदी और डाक्टर रघुवीर सिंह का नाम वियोगीहरि और रायकृष्ण दास से भी पहले लिया जायगा। पहले दोनों की रचनाओं में निबन्धात्मकता अधिक है और पिछले दोनों में कम। युग की रंगीनी का प्रभाव इतना व्यापक रहा कि शान्तिप्रिय द्विवेदी समीक्षा-क्षेत्र में भी इससे पल्ला न छुड़ा सके। परिणाम यह हुआ कि उनके विचारात्मक (समीक्षा-सम्बन्धी) निबन्ध भाषा की फुलझड़ियों में रास्ता भूल गये। भावात्मक निबन्धों में माखनलालजी की रचनाएँ सर्वश्रेष्ठ कही जा सकती हैं। विचार-प्रधान विषय को भी उन्होंने भावात्मक आत्मा और काव्यमय रंगीन तन दे डाला। कहीं कहीं अस्पष्टता उनमें है। यह अभिव्यंजना का दोष ही कहा जायगा। डाक्टर रघुवीर सिंह ने अपनी भावात्मक रचनाओं में इतिहास के खण्डहरों में रस

भरने का सफल प्रयास किया। उलझन उनमें नहीं, प्रसादात्मकता है। बाबू गुलाबराय की हास्य-रचनाएँ भी भावात्मक निबन्धों में ही गिनी जायँगी।

प्रसादजी की 'काव्य, कला तथा अन्य निबन्ध' युग के समीक्षात्मक निबन्ध-साहित्य में उल्लेखनीय स्थान रखती है। नाम से ही विषय का पता चल जाता है। पर प्रसादजी ने शुद्ध निबन्धकार के रूप में हिन्दी को कोई बड़ी देन नहीं दी।

विचारात्मक निबन्धकार के रूप में रामचन्द्र शुक्ल की रचनाएँ अमर हैं। 'चिन्तामणि' हिन्दी का ही नहीं; भारतीय गद्य-साहित्य का गौरव है। 'चिन्तामणि' के निबन्ध किसी भी देश के सर्वश्रेष्ठ विचारात्मक निबन्धों की पहली पंक्ति में पूरे आत्म-विश्वास और गौरव से बैठ सकते हैं। शुक्लजी के निबन्धों को किसी भी समीक्षक की चुनौती नहीं छूती। शुक्लजी का एक-एक निबन्ध हिन्दी-गद्य-शैली के विकास की शानदार मंजिल है, एक-एक पैरा प्रगति और प्रौढ़ता के पथ पर बढ़ता हुआ पग, एक-एक पंक्ति गम्भीर चिन्तन की साँस और एक-एक शब्द अभिव्यंजना का चित्र। भावों, वृत्तियों और विकारों का इतना सूक्ष्म विवेचन कहीं और नहीं मिलता। इतनी बारीक और गहरी लकीरें परिभाषात्मक सीमा की हमने इनके सिवा कहीं नहीं देखीं। बाबू गुलाबराय ने भी विचारात्मक निबन्ध लिखे। मनोवैज्ञानिक निबन्ध लिखने में तो सम्भवतः आप अकेले ही हैं। पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी और वासुदेव शरण अग्रवाल का नाम भी इस क्षेत्र में भुलाया नहीं जा सकता। अग्रवाल जी ने प्राचीन इतिहास, साहित्य, दर्शन आदि का अपने निबन्धों में रखा। भारतीय संस्कृति के उद्घाटन में आपके निबन्ध एक उज्ज्वल भेंट हैं।

शांतिप्रिय द्विवेदी के विचारात्मक निबन्ध नवीन विचार और समाज-सृजन की ओर नया पग हैं। समीक्षा सम्बन्धी उनके निबन्ध बहुत बड़ी सफलता नहीं, उन में काव्यमयता अनावश्यक रूप से पाई जाती है। निबन्ध-क्षेत्र में उनका नवीन कदम है—वैयक्तिक निबन्ध-रचना में, 'पथचिह्न' और 'परिव्राजक की प्रजा' हिन्दी में अपने ढंग की रचनाएँ हैं। यह इस सूने क्षेत्र को भरने का हिन्दी में पहला प्रयत्न है।

शैलियों की विविधता और विकास की दृष्टि से भी प्रसाद-युग अत्यन्त सम्पन्न और समृद्ध है। सभी शैलियाँ विकसित रूप में मिल जायँगी। इस युग में शब्द में नवीन रूप से शक्तियाँ भी आईं और उनके नवीन प्रयोग भी किये गये।

२

गुलाबराय

द्विवेदी और प्रसाद-युग की समस्त साहित्य-समृद्धि का उपभोग करते हुए प्रगति-युग के शैशव को गोद खिलाने वाले बाबू गुलाबराय को प्रसाद-युग में ही रखना पड़ेगा। प्रसाद-युग के यौवन-उल्लास पर यह मुग्ध हुए, प्रगतिवाद के प्रति भी यह आशावादी हैं; पर इनके साहित्य के रंग अधिकतर द्विवेदी-युग के ही रहे। न प्रसाद-युग से अपने साहित्य और शैली के लिए यह कुछ ले सके और न प्रगति-युग से। शैली और विषय-विवेचन की दृष्टि से न प्रसाद-युग की बारीकी इनमें आ पाई और न प्रगति-युग के सैद्धान्तिक आधारों पर ही यह अपनी रचनाओं का निर्माण कर सके। पर साहित्य-आस्था और मत तथा विषय-विविधता और समीक्षा-क्षेत्र में विस्तृत स्वीकृति इन्हें प्रसाद-युग में ला बैठाती है। बाबू गुलाबराय के साहित्यिक व्यक्तित्व ने पहले निबन्धकार के रूप में आकार पाया, पश्चात आलोचक के रूप में। 'सिद्धान्त और अध्ययन' और 'काव्य के रूप' साहित्य विवेचन-सम्बन्धी पुस्तकें हैं। समीक्षा-सिद्धान्त-सम्बन्धी रचनाओं में उनके निजी विचार कम, अध्ययन-प्राप्त सिद्धान्त-संकलन अधिक रहता है। आपकी शैली में प्रसाद-गुण अधिक है, इसलिए विद्यार्थियों के लिए वह बहुत सुबोध होती है। आपकी अनेक रचनाएँ हिन्दी के श्रेष्ठ निबन्धों में गिनी जा सकती हैं। आप दर्शन के विद्वान हैं। इसलिए मनोविज्ञान का पुट भी आपके निबन्धों में यत्र-तत्र मिलता है। 'फिर निराशा क्यों?' और 'मेरी असफलताएँ' आपके निबन्ध-संग्रह हैं। 'फिर निराशा क्यों?' में 'समाज और कर्तव्यपालन', 'कुरूपता', 'फिर निराशा क्यों?', 'कर्तव्य-सम्बन्धी रोग, निदान और चिकित्सा' बहुत अच्छे निबन्ध हैं। प्रायः इन सभी में मनोवैज्ञानिक विवेचन का स्पर्श है। 'मेरी असफलताएँ' में व्यंग्यात्मक आत्मपरक निबन्ध हैं। विचारात्मक और भावात्मक दोनों प्रकार के निबन्ध आपने लिखे हैं। 'फिर निराशा क्यों?' के सभी निबन्ध विचारात्मक हैं। साहित्य-समीक्षा और सिद्धान्त-विवेचन के सम्बन्ध में लिखे गये निबन्ध भी विचारात्मक वर्ग में ही आयेंगे। इनके विचारात्मक निबन्धों में विचारों की भीड़ या सघनता शायद न मिले—पैरों में ठूँस-ठूँसकर विचार आप न भी भर सकें; पर किसी भी विषय पर अपने स्वतन्त्र विचार सरल ढंग में आप उपस्थित कर देते हैं। विचारों की न तो उलझन ही मिलेगी और न मस्तिष्क के लिए चिन्तन-भार। अपनी बात सरल और स्वच्छ ढंग से कह देते हैं—

"सत्ता-सागर में दोनों की ही स्थिति है। दोनों ही एक तारतम्य में बँधे हुए हैं। दोनों ही एक-दूसरे में परिणत होते हैं। फिर कुरूपता घृणा का विषय क्यों? रूपहीन वस्तु से तभी तक घृणा है, जब तक हम अपनी आत्मा को संकुचित बनाए हुए बैठे हैं। सुन्दर वस्तु को भी हम इसी कारण सुन्दर कहते हैं कि उसमें हम अपने आदर्शों की झलक देखते हैं। आत्मा के सुविस्तृत और औदार्यपूर्ण हो जाने पर सुन्दर और असुन्दर दोनों ही समान प्रिय बन जाते हैं। कोई माता अपने पुत्र को कुरूपवान नहीं कहती। इसका यही कारण है कि वह अपने पुत्र में अपने आपको ही देखती है। जब हम सारे संसार में अपने आपको ही देखेंगे, तब हमको कुरूपवान भी रूपवान दिखाई देगा।"

—'कुरूपता'

भाषा की स्वच्छता, विचारों की स्पष्टता, वाक्य-विधान की सरलता और अभिव्यंजना की सुबोधता इनकी शैली के गुण हैं। तर्क, युक्ति, प्रमाण, परिणाम आदि इनकी शैली में कम ही आते हैं—वह सीधी स्वाभाविक आत्मीयता लिये हुए होती है। तत्समता का बोझ कहीं नहीं। वह भाषा का सौन्दर्य बनकर आती है। उर्दू शब्दों की आवश्यकता ही अनुभव नहीं होती। वाक्य भी छोटे-छोटे, मिश्रवाक्य बहुत कम, वाक्यों का पारस्परिक शृङ्खला-सम्बन्ध। पर भाषा में फोर्स (शक्ति) और कसाव कम है। निबन्ध के आकार में भाषा की जो शैली आलोचक देखना चाहता है, गद्य की कसौटी जिस गुण के कारण निबन्ध बनता है, वह इनकी भाषा-शैली में नहीं। भाषा विरल है। 'बँधे हुए हैं', 'बनाए हुए बैठे हैं,' में 'हुए' व्यर्थ है। इसी कार 'जब' के साथ 'तब' की अनिवार्यता भाषा को ढीला भी बनाती है। 'तब' का लोप भाषा को सुन्दर और संक्षिप्त बनाता है। ऐसे स्थान पर 'कोमा' से ही काम चल सकता है।

विषयानुसार भाषा के विभिन्न रूप आपकी रचनाओं में मिलते हैं। गम्भीर विषयों—साहित्य-समीक्षा, सिद्धान्त-विवेचन, समाज-शास्त्र, दर्शन-मनोविज्ञान—के लिए भाषा में गम्भीरता, तत्समता रहेगी। वाक्य भी कभी-कभी सूत्रात्मकता धारण कर लेंगे। व्यंग्य आदि के लिए भाषा बहुत ही चलता रूप ग्रहण करेगी। तत्समता का लोप ही एक प्रकार से मिलेगा। उर्दू के शब्द और मुहावरे भी यत्र-तत्र पूरे सम्मान से सुशोभित होंगे। देशज शब्दावली और लोकोक्तियाँ भी अपने अधिकार का उपभोग करेंगी। कभी-कभी आश्चर्य होता है, एक ही लेखनी भाषा के दो भिन्न रूप इतनी सफलता से उतार देती है—"बद अच्छा, बदनाम बुरा, कवि लेखक और दार्शनिक प्रायः इस बात के लिए बदनाम हैं कि वे कल्पना के आकाश में विहार करते हैं उनके पैर चाहे जमीन पर रहें, किन्तु निगाह आसमान की ओर रहती है और झोंपड़ियों में रहकर भी ख्वाब महलों का देखते रहते हैं।"

व्यंग्य-रचना का एक उदाहरण नीचे दिया जाता है—

"ख़ैर, आजकल उस (भैंस) का दूध कम हो जाने पर भी और अपने मित्रों को छाछ भी न पिला सकने की विवशता की झूँझल के होते हुए भी (सुरराज इन्द्र की तरह मुझे भी मठा दुर्लभ हो जाता है—तक्र शक्रस्य दुर्लभम्) उसके लिए भुस लाना अनिवार्य हो जाता है। कहाँ साधारणीकरण और अभिव्यंजनावाद का चर्चा और कहाँ भुस का भाव ! भुस खरीदकर मुझे भी गधे के पीछे ऐसे ही चलना पड़ता है, जैसे बहुत-से लोग अकल के पीछे लाठी लेकर चलते हैं। कभी-कभी गधे के साथ कदम मिलाए रखना कठिन हो जाता है। लेकिन मुझे गधे के पीछे चलने में उतना ही आनन्द आता है जितना कि पलायनवादी को जीवन से भागने में। बहुत-से लोग तो जीवन से छुट्टी पाने के लिए कला का अनुसरण करते हैं, किन्तु मैं कला से छुट्टी पाने के लिए जीवन का अनुसरण करता हूँ—कभी नाव लढ़ी पर, कभी लढ़ी पर नाव। ग्यारह बजे बाज़ार-हाट से भैंस के लिए भुस और अपने लिए शाक-भाजी लेकर लौटा, स्नान किया, भोजन किया और करीब-करीब १२।। बजे कालेज पहुँचा। लड़कों को पढ़ाया, लाइब्रेरी से कुछ पुस्तकें लीं और फिर 'साहित्य-सन्देश' के दफ़्तर आया। वहाँ जलपान किया, जल पीकर पान खाया। कभी-कभी रूढ़ि अर्थ में भी जलपान करता हूँ और शुद्ध अभिधार्थ में जल का पान करता हूँ। कम्पोजीटर की शिकायत सुनी। दीन शराबी की-सी तोबा की, अब नहीं घटाऊँगा-बढ़ाऊँगा। आपको कष्ट अवश्य होता है, उनकी अनुनय-विनय की 'अबलौं नसाई अब न नसैहौं' किन्तु क्या कहें, आदत से मजबूर हैं। बनियों की पाछिल बुद्धि होती है, लिखने के बाद कहीं प्रूफ़ पढ़ने पर ही शोधन सूझते हैं।"

—'मेरी दैनिकी का एक पृष्ठ'

'मेरी दैनिकी का पृष्ठ' से लेखक की व्यंग्यात्मक शैली का परिचय मिलता है। भाषा व्यावहारिक बोलचाल की चलती हुई है। मुहावरों का भी यथास्थान प्रयोग है। हिन्दी तथा संस्कृत के भी उद्धरण यत्र-तत्र सजाए गये हैं। अधिकतर ये किसी आवश्यकता की पूर्ति नहीं करते; केवल किसी बात को दुहरा भर देते हैं। 'तक्रे शक्रस्य दुर्लभ', 'मध्ये-मध्ये आचमनीयम्', 'भाग्यं फलति, नच विद्या, नच पौरुषं', 'काव्य-शास्त्र विनोदेन कालोगच्छति धीयताम्', 'क्षणे-क्षणे यन्नवमुपति तदेवरूपं रमणीय-तायाः' इस लेख में मिल जायँगे। 'अबलौ नसाई अब न नसैहौं', 'छछिया भर छाछ पै नाच' हिन्दी के उद्धरण भी मौजूद हैं। 'बद अच्छा बदनाम बुरा' और 'अकल के पीछे लट्ठ लेकर चलना' मुहावरे भी इसमें प्रयुक्त हुए हैं। आपके व्यंग्य में ऐसे अनेक संदर्भ-संकेत रहते हैं, जो पठित व्यक्ति ही समझ सकता है। इसी लेख में 'नैयायिकों', 'अकबर', 'शिखर', 'प्रसाद के नाटक', 'साधारणीकरण और अभिव्यंजनावाद',

'सुरसा के मुख की भाँति' अनेक प्रसंग-संकेत हैं। उससे व्यंग्य में सांस्कृतिकता और साहित्यिक गाम्भीर्यता तो आती है; पर सामान्य पाठक के लिए यह रस-बाधक है। एक सामान्य पाठक प्रसाद के नाटकों का अन्तर्द्वन्द्व क्या जाने, 'साधारणीकरण और अभिव्यंजनावाद' के विवाद को क्या समझे—अनेक ग्रेजुएटों के लिए भी ये पहेलियाँ हैं। हाँ, प्रशंसनीय यह है, कहीं भी व्यंग्य में छिछलापन नहीं। भाषा व्यंग्यात्मक लेखों में और भी प्रसादात्मक और शैली ढीली और शिथिल है।

बाबू गुलाबराय ने इधर मनोवैज्ञाननिक विषयों पर अनेक निबन्ध लिखे हैं 'हीनता-ग्रन्थियाँ', 'स्वप्न-संसार', 'भेड़ियाघसान', 'अँधेरी कोठरी', 'प्रभुत्व कामना', 'प्रदर्शन', 'अन्तर्द्वन्द्व' उनमें प्रमुख हैं। इन्हीं नवीनतम निबन्धों में से कुछ अवतरण दिये जाते हैं, जिससे लेखक की नवीनतम शैली के विकास को समझा जा सके।

"हमारे अन्तर्लोकवासी सचेतन कक्ष में प्रवेश वर्जित हो जाने पर भी अपना अस्तित्व बनाए रखते हैं। वे समूल विलीन या नष्ट नहीं हो जाते। उनका नाम अवचेतन रूपी चित्तगुप्त (चित्रगुप्त) महाराज की सुविशाल बही में अंकित हो जाता है, और कभी-कभी वे हमारे घर के भेड़िया की भाँति हमारे खिलाफ़ गवाही भी दे बैठते हैं। वे हमारा लेखा-जोखा एवं कच्चा चिट्ठा सामने रख देते हैं और उसको नीची निगाह करके स्वीकार करना पड़ता है। कभी-कभी जिस बात को हमने खोटे रूपये की भाँति घर में डाल लिया था, वह भूलवश मुँह से निकल जाती है और हमको चार आदमियों में लज्जित होना पड़ता है। जादू सर पर चढ़कर बोलने लगता है। घर के धुएँ की भाँति वह छिपाये नहीं छिपता। शिवजी ने विष पी तो लिया था, फिर भी वे अपने कण्ठ में उसकी नीलिमा न छिपा सके।"

—'अँधेरी कोठरी'

"वह दमन करने योग्य नहीं कही जा सकती है।"

"सब लोगों में प्रभुत्व-कामना चेतन मन में नहीं होती है।"

"प्राय: बहुत से व्यक्तियों को अपनी कामवासना की तृप्ति में आंशिक सफलता भी नहीं होती है।"

"बहुत से लोग यदि अपने मस्तिष्क से एक नया विचार नहीं निकाल सकते हैं तो ⋯ ।

"अभिव्यंजनावाद और साधारणीकरण से देश का कल्याण नहीं होता है।"

"वह मनुष्य नहीं है, मशीन है।"

"समाज का दोष तो होता ही है किन्तु जो लोग उसके साथ समझौता नहीं कर सकते हैं, उनको उसका कारण अपने में ही खोजना चाहिए। कहीं हीनताभाव तो काम नहीं कर रहा है। कारण का ज्ञान लेना भी एक प्रकार का इलाज है।"

'अँधेरी कोठरी' में शैली की स्वच्छता, सरलता और सुबोधता है। प्रसादात्मक शैली ही उसे कहा जायगा। अन्य अवतरों में शैली की शिथिलता स्पष्ट है। सभी वाक्यों में 'है' की व्यर्थता प्रकट है। ये सभी निबन्ध प्रसाद-युग के बाद की रचनायें हैं। प्रकट है, इनकी भाषा-शैली आदि पर नवीन युग का कोई प्रभाव नहीं। पर आप अपनी बात पाठक को बहुत ही सफलता से समझाते हैं, यह शैली का बड़ा भारी गुण भी है।

३

रामचन्द्र शुक्ल

विचारात्मक निबन्ध के आदर्श की माँग की जाय तो हम अडिग विश्वास से आचार्य शुक्ल के निबन्ध उपस्थित करें। आलोचक शुक्ल से प्रतियोगिता के लिए अनेक समीक्षक सम्भवतः अखाड़े में उतरें भी; निबन्धकार शुक्ल से प्रतियोगिता का प्रश्न ही कहाँ उठता है? विचारक निबन्धकार के रूप में शुक्ल जी अप्रतिम हैं—विशेषतः साहित्य-निबन्धों को लें तो उन तक किसी की चुनौती नहीं पहुँचती। हिन्दी निबन्ध को उन्होंने अत्यन्त स्वस्थ और प्राणवान रूप दिया। उसे गम्भीर चिन्तन-सम्पन्न और मन-मस्तिष्क का दर्पण बनाया। 'रामलीला' के मैदान में खेलना छोड़, 'मानस की धर्मभूमि' में वह विचरण करने लगा। 'हंस का नीर-क्षीर-विवेक' का परिचय न देकर, स्वयं हंस बना, उसने नीर-क्षीर-विश्लेषण किया। उसने 'वृद्ध', 'भौं' 'नाक', 'कान' को देख बालकों के समान उछलना-कूदना, तालियाँ बजाना त्याग, मानव के अन्तर में प्रवेश कर मनोविकारों का विवेचन किया। शुक्लजी के हाथों निबन्ध को जवानी और प्रौढ़ता मिली—वह प्रौढ़ता जिसे कभी जरा नहीं आती। शुक्लजी का एक-एक निबन्ध हिन्दी-गद्य-शैली के विकास की शानदार मंजिल है, एक-एक पैरा प्रगति और प्रौढ़ता के पथ पर बढ़ता हुआ पग, एक-एक पंक्ति गम्भीर-चिन्तन की साँस, और एक-एक शब्द अभिव्यंजना का चित्र।

शुक्लजी ने विचारात्मक निबन्ध ही लिखे। भावात्मकता की मधुरता और कोमलता बीच में है अवश्य। इनके निबन्धों को सुविधा के लिए, तीन वर्गों में बाँटा जा सकता है—मनोविकार, साहित्य-सिद्धान्त और साहित्य-समीक्षा सम्बन्धी। पहले वर्ग में आते हैं—'उत्साह', 'श्रद्धा-भक्ति', 'करूणा', 'घृणा', 'लज्जा और ग्लानि', 'लोम और प्रीति', 'ईष्या', 'भय', 'क्रोध'; दूसरे में—'साहित्य', 'कविता क्या है?', 'साधारणीकरण और व्यक्ति वैचित्र्य', 'रसात्मक बोध के विविध रूप'; और तीसरे में—'तुलसी का भक्ति मार्ग', 'मानस की धर्म-भूमि', 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र', 'काव्य में लोकमंगलेत की साधना-अवस्था'। 'मित्रता' और 'प्राचीन भारतीयों का पहरावा' जैसे व्यावाहरिक और परिचयात्मक निबन्ध भी आरम्भ में आपने लिखे। 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र' भी अधिक परिचयात्मक आलोचना ही उपस्थित करता है। चिन्तामणि' (भाग २) में 'काव्य में प्राकृतिक दृश्य', 'काव्य में रहस्यवाद', 'काव्य में अभिव्यंजनावाद'—ये तीन सिद्धान्त-समीक्षा-सम्बन्धी रचनाएँ हैं। इनको कुछ विद्वानों, शायद शुक्लजी ने भा,

निबन्ध माना है। ये निबन्ध तो कभी हो नहीं सकते। हाँ, साहित्य-विवेचन-सम्बन्धी प्रबन्ध इन्हें कह सकते हैं। 'काव्य में रहस्यवाद' तो स्वतन्त्र रूप से पुस्तक रूप में प्रकाशित भी हुआ था।

प्रथम वर्ग के निबन्धों—'उत्साह', 'करुणा', 'ईर्ष्या', 'घृणा', 'क्रोध'—को मनोवैज्ञानिक श्रेणी में रखा जाता है। पर शुद्ध मनोवैज्ञानिक निबन्ध कहला ही नहीं सकते। मनोविकारों, वेगों, वृत्तियों, प्रवृत्तियों, भावों आदि का जो विवेचन इनमें है, वह स्वरूप-सम्बन्धी अधिक है। उस विवेचन का आधार भी बहुत-कुछ रसप्रधान और साहित्य-मर्यादित है। कहीं-कहीं स्वरूप के निर्धारण, परिभाषा के स्पष्टीकरण, दो समान वृत्तियों के अन्तर का जो विश्लेषण हुआ है, वह शुक्लजी की कला और साहित्य-विषयक आस्थाओं और धारणाओं पर अधिक आधारित है, मनोवैज्ञानिक विवेचन पर बहुत कम—नहीं के बराबर। भाव या वृत्ति के स्पष्टीकरण के लिए जो चित्र या बिम्ब खड़े किये गये हैं, वे तो शुद्ध साहित्यिक हैं—रस-सिद्धान्त के अनुकूल, मनोविज्ञान से उनका सम्बन्ध नहीं। मनोविज्ञान में इन मनोविकारों और प्रवृत्तियों की हिमायत की जाती है, इनकी स्वाभाविकता या प्राकृतिकता बताई जाती है, वह इनमें कहीं नहीं, उसका तिरस्कार और बहिष्कार ही अधिक है। उन परिस्थितियों का विवेचन भी नहीं, जिनमें पड़ मनुष्य में इन विकारों का उदय होता है। ऐसी अवस्था में इन निबन्धों को हम तो कभी मनोवैज्ञानिक मानने के लिए तैयार नहीं।

इनके सभी प्रकार के निबन्धों—सिद्धान्त, समीक्षा, मनोविकार—में 'कला के लिए कला' का बहिष्कार है। 'लोकमंगल' और 'समाज-संग्रह' आपकी हर-एक रचना में है। आपके जीवन और साहित्यिक आदर्श का प्रेरक है तुलसीदास। चिन्तन स्वाधीन और विचार अनाभिभूत होते हुए भी, तुलसी के लोकमंगलकारी आदर्श को आपने अपने पथ का प्रकाश बनाया। भावों और वृत्तियों का वैज्ञानिक और विचार-सम्मत सूक्ष्म विवेचन करते हुए, मनोवैज्ञानिक के समान उनकी स्वाभाविकता का समर्थन आपने नहीं किया। लोक-मंगल की साधना में उनका उचित, हितकर और आवश्यक उपयोग बताया। "बहुत दूर तक और बहुत काल से पीड़ा पहुँचाते चले आते हुए किसी घोर अत्याचारी का बना रहना ही लोक की क्षमा की सीमा है। इसके आगे समान दिखाई देगी—नैराश्य, कायरता और शिथिलता की छाई दिखाई पड़ेगी। ऐसी गहरी उदासी की छाया के बीच आशा, उत्साह और तत्परता की प्रभा जिस क्रोधाग्नि के साथ फूटती दिखाई पड़ेगी, उसके सौन्दर्य का अनुभव सारा लोक करेगा। राम का कालाग्नि सदृश क्रोध ऐसा ही है। वह सात्विक तेज है तामसताप नहीं।"—उद्धरण से यह स्पष्ट है कि मनोविकार लोक-कल्याण-क्षेत्र में किस प्रकार

उपयोगी हो सकते हैं। 'चिन्तामणि' (प्रथम भाग) के निबन्ध-क्रम से भी कुछ ऐसा ही मालूम होता है।

'व्यक्तित्व निबन्ध की रीढ़ है, शैली शक्ति'—यह सच्चाई शुक्लजी के निबन्धों में है। 'शैली ही व्यक्तित्व है' को लेकर ही इनका व्यक्तित्व निबन्धों में सर्वव्यापी नहीं, इसी रूप में केवल नहीं उभरता; इससे भी अधिक विस्तृत, विशाल और गहन रूप में आता है। इनका प्राणवान व्यक्तित्व अनेक रूपों को समेट अपना स्वरूप संघटित करता है। कभी गहन गम्भीर स्वाधीन चिन्तन बन पाठक को प्रभावित करते हुए मिलता है, कभी सूक्ष्म विवेचन और पर्यवेक्षण के रूप में अभिभूत करते हुए। कहीं वह विचारों के सतर्क गुम्फित प्रकाशन में उभरता है, कहीं भावनाओं की भीड़ में मुग्ध और रोमांचित होते हुए चमकता है। कहीं वह अपने अनुभवों में जीवन और जगत के निचोड़ रखते हुए पाया जाता है, कहीं सिद्धान्त-निरूपण और विश्लेषण करते हुए। सिद्धान्त-प्रतिपादन और विश्लेषण ही कोरा नहीं; अडिग विश्वास, एकनिष्ठ आस्था, सबल तर्क, अभय मन और सन्तुलित मस्तिष्क—सब मिलकर महान व्यक्तित्व बनता है। वह अपनी रुचि और अरुचि, उपेक्षा और आदर, राग और विराग भी पाठकों को भेंट करता जाता है। उसमें भारतीयता बोलती है। सभी रचनाओं में भावना-विह्वल भारतीय हृदय और चेतना-सजग भारतीय मस्तिष्क सक्रिय है। मनोवेगों के विश्लेषण में भारतीय रस-सिद्धान्त ही आधार है। देश की कला-कारीगरी, साहित्य-संस्कृति, धरती-अम्बर, बाग-तड़ाग—सभी के प्रति लेखक की आकुल भावुकता अवसर पाते ही छलक-छलक जाती है।

"ऐसे प्रकृत निबन्ध, जिनमें विचार-प्रवाह के बीच लेखक के व्यक्तिगत वाग्वैचित्र्य तथा उसके हृदय के भावों की अच्छी झलक हो, अभी हिन्दी में कम देखने में आ रहे हैं।" आचार्य शुक्ल ने अपने इस कथन की माँग का अत्यन्त सबल, साकार और स्वस्थ उत्तर अपने निबन्धों में दिया। उनके निबन्ध पढ़ लेने पर इस अभाव की शिकायत नहीं रहती। सभी निबन्ध विचारों की गहनता, सघनता और व्यापकता से सम्पन्न हैं। विचारों की लड़ी-सी बन जाती है। उनमें इतना कसाव कि तीक्ष्ण दृष्टि और पैनी समझ ही प्रवेश पाती है। इसीलिए कुछ लोगों को उनके निबन्धों से सिर दुखने की शिकायत रहा करती थी; पर अब उन्हें पढ़ते समय कोई पेनबाम लेकर नहीं बैठता। निबन्ध के एक-एक पैराग्राफ़ में विचार ठूँस-ठूँसकर भरे रहते हैं। एक विचार नये विचार का जनक—और इसी प्रकार विचारों की एक माला बन जाती है। अधिकतर निबन्धों में भाषा और विचारों की इतनी सघनता कि एक वाक्य भी निकालना कठिन। एक शब्द भी हटा लें तो साफ़ दराड़ दीखने लगती है। मनोभावों का जो विचारात्मक, तर्कपूर्ण, मौलिक विवेचन शुक्लजी ने

किया, वह अन्यत्र कहाँ ? अंग्रेजी के विख्यात दार्शनिक निबन्धकार बेकन ने भी मनोविकारों का विवेचन किया; पर शुक्लजी के समान सूक्ष्मता, साकारता और स्पष्टता उसमें भी नहीं आ सकी ?

"दण्ड कोप का ही एक विधान है। राजदण्ड राजकोप है, राजकोप लोककोप और लोककोप धर्मकोप है। राजकोप धर्मकोप से जहाँ एकदम भिन्न दिखाई पड़े, वहाँ उसे राजकोप न समझकर कुछ विशेष मनुष्यों का कोप समझना चाहिए। ऐसा कोप राजकोप के महत्त्व और पवित्रता का अधिकारी नहीं हो सकता। उसका सम्मान जनता अपने लिए आवश्यक नहीं समझ सकती।" —'क्रोध'

इस अवतरण का प्रत्येक वाक्य नया विचार सामने लाता है। लगता है, कंधे-से-कंधा मिलाए सभी वाक्य हाथ में नवीन विचार की मशाल लिये पाठक के मस्तिष्क की आँखों को प्रकाश दिखाने की स्पर्धा कर रहे हैं। पहले वाक्य में कोप का क्रियात्मक स्वरूप है, दूसरे में धर्मसम्मत लोक को और लोक-सम्मत राज्य को चलने का आदेश। तीसरे में, धर्म-विरुद्ध राज्य सच्चा राज्य नहीं, यह बताया और अन्तिम दो वाक्यों में ऐसे स्वेच्छाचारी राज्य के विरुद्ध विद्रोह का संकेत। अल्पतम शब्दों में अधिकतम बात।

ऐसे तो अनेक वाक्य उद्धृत किये जा सकते हैं, जिनमें गम्भीर, गहन और विस्तृत चिन्तन भरा है। एक-एक वाक्य में भरे विचार की व्याख्या के लिए अनेक पैरे चाहिएँ। "वैर क्रोध का अचार या मुरब्बा है।" "हमीं हम' वाले 'तुम भी' नहीं सह सकते, 'तुम्हीं तुम' की क्या बात है।" "घृणा निवृत्ति का मार्ग दिखाती है और क्रोध प्रवृत्ति का।" "आँखों में किरकिरी पड़ना और बात है, सड़ी बिल्ली सामने आना और बात।" "यदि हम जान-पहचान करने में बुद्धिमानी से काम लेंगे, तो हमें बराबर अनजान बनना पड़ेगा।" "व्यर्थ की बातों से जानकर भी अनजान होना।" 'ये वाक्य विचार-सम्पन्नता के ही साक्षी नहीं, जीवन के विस्तृत अनुभव और गम्भीर अध्ययन के भी प्रमाण हैं। संक्षिप्त-से वाक्य में बड़ी-से-बड़ी बातें कहना, थोड़े शब्दों में व्यापक अर्थ भर देना, यही है। भाषा का चमत्कार और वक्रता भी देखी जा सकती है। वक्रता और चमत्कार दूसरे "हमीं हम···क्या बात है" और पाँचवाँ वाक्य "यदि हम···बनना पड़ेगा" में प्रशंसनीय रूप में हैं। व्यंजना-शक्ति का, ऐसी ही गठित कसी हुई, अर्थ-सम्पन्न और संक्षिप्त भाषा में पूर्ण विकास देखा जा सकता है।

शुक्लजी की भाषा में विषयानुकूल भाव-प्रकाशन की अलौकिक शक्ति है। इतनी सम्मत, परिष्कृत, प्रौढ़, विशुद्ध, और सुष्ठ भाषा कम ही मिलेगी। विवेचना की गम्भीरता के अनुपात से भाषा भी गम्भीर और प्रौढ़ रूप धारण करती हैं। मनोवेगों और साहित्य-सिद्धान्त-सम्बन्धी निबन्धों में भाषा का रूप अधिक गुम्फित, गम्भीर और

गहन है। कभी वाक्य बड़े-बड़े कभी परस्पर गुँथे छोटे-छोटे। पर भूलकर भी भाषा में उलझन, भारीपन या अस्पष्टता नहीं। वाक्य-विन्यास, भाव-अभिव्यंजना, विचार-प्रकाशन—किसी में भी दुरूहता नहीं। प्रवाह स्वाभाविक, गतिशील और भाषा का रूप व्यावहारिक तथा सार्थक भाषा का चलतापन भी बना रहता है। कसाव और गुम्फन इतना कि न वाक्य निकाला जा सकता है, न कोई शब्द। लगता है, एक-एक शब्द लेखक के मस्तिष्क में अपने अस्तित्व का चित्र बनाये है, एक-एक शब्द के महत्त्व का मूल्य, उपयोग की अनिवार्यता और प्रयोग की सार्थकता को मनन कर लेखक ने उसे जड़ा है। प्रकाशन-शैली को प्रभावशाली बनाने और सीधे पाठक के मन में बैठाने के लिए कभी-कभी कथन पर पैनी धार भी चढ़ा देते हैं।

"साहित्य के अन्तर्गत वह सारा वाङ्मय लिया जा सकता है, जिसमें अर्थ-बोध के अतिरिक्त भावोन्मेश अथवा चमत्कारपूर्ण अनुरंजन हो तथा जिसमें ऐसे वाङ्मय की विचारात्मक समीक्षा या व्याख्या हो। भावोन्मेश से मेरा अभिप्राय हृदय की किसी प्रकार की प्रवृत्ति से—रति, करुणा, क्रोध इत्यादि से लेकर रुचि-अरुचि तक से है और चमत्कार से मेरा अभिप्राय उक्ति-वैचित्र्य के क़ुतूहल से है। अर्थ से मेरा अभिप्राय वस्तु या विषय से है। अर्थ चार प्रकार के होते हैं—प्रत्यक्ष, अनुमित, आप्तोपलब्ध और कल्पित। प्रत्यक्ष की बात हम अभी छोड़ते हैं। भाव या चमत्कार से निःसंग विशुद्ध रूप में अनुमित अर्थ का क्षेत्र दर्शन-विज्ञान है, आप्तोपलब्ध का क्षेत्र इतिहास है। कल्पित अर्थ का प्रधान क्षेत्र काव्य है। पर भाव या चमत्कार से समन्वित होकर ये तीनों प्रकार के अर्थ काव्य के आधार हो सकते हैं और होते हैं। यह अवश्य है कि अनुमित और आप्तोपलब्ध अर्थ के साथ काव्य-भूमि में कल्पित अर्थ का अंश थोड़ा-बहुत रहता है, जैसे दार्शनिक कविताओं में, रामायण पद्मावत आदि ऐतिहासिक काव्यों में। गम्भीर-भाव-प्रेरित काव्यों में कल्पना प्रत्यक्ष और अनुमान के दिखाये मार्ग पर काम करती है और बहुत घना और बारीक काम करती है। कहने का तात्पर्य यह है कि साहित्य के भीतर पहले तो वे सब कृतियाँ आती हैं जिनमें भावव्यंजक या चमत्कार-विधायक अंश पर्याप्त होता है; फिर उन कृतियों की रमणीयता और मूल्य हृदयंगम करने वाली समीक्षाएँ या व्याख्याएँ। अर्थबोध कराना मात्र, किसी बात की जानकारी कराना मात्र, जिन कथन या प्रबन्ध का उद्देश्य होगा, वह साहित्य के भीतर न आयगा और चाहे जहाँ जाय।"

—'साहित्य का स्वरूप'

× × ×

"उक्ति की वहीं तक की वचन-भंगी या वक्रता के सम्बन्ध में हम से कुन्तल जी का 'वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्' मानते बनता है, जहाँ तक कि वह भावानुमोदित

हो या किसी मार्मिक अन्तर्वृत्ति से सम्बद्ध हो; उसके आगे नहीं। कुन्तलजी की वक्रता बहुत व्यापक है, जिसके अन्तर्गत वे वाक्य-वैचित्र्य की वक्रता और वस्तु वैचित्र्य की वक्रता के चमत्कार ही म वे काव्यत्व मानते हैं। योरुप में भी आजकल क्रोचे के प्रभाव से एक प्रकार का वक्रोक्तिवाद ज़ोर पर है। पश्चिमी वक्रोक्तिवाद लक्षणा-प्रधान है। लाक्षणिक चपलता और प्रगलभता में ही, उक्ति के अनूठे स्वरूप में ही, बहुत से लोग वहाँ कविता मानने लगे हैं। उक्ति ही काव्य होती है, यह तो सिद्ध बात है। हमारे यहाँ भी व्यंजक वाक्य ही काव्य माना जाता है। अब प्रश्न यह है कि कैसी उक्ति, किस प्रकार की व्यंजना करने वाला वाक्य उक्तिवादी कहेंगे कि ऐसी उक्ति जिसमें कुछ वैचित्र्य या चमत्कार हों, व्यंजना चाहे जिसकी हो, या किसी ठीक-ठीक बात की न भी हो। पर जैसा कि हम कह चुके हैं, मनोरंजन भाग काव्य का उद्देश्य न मानने वाले उनकी इस बात का समर्थन करने में असमर्थ होंगे। वे किसी लक्षणा में उसका प्रयोजन अवश्य ढूँढ़ेंगे।"

—'कविता क्या है ?'

ऊपर दिये गये दोनों अवतरणों में शुक्लजी की शैली की विवेचना-पद्धति का पता चलता है। ये दोनों अवतरण साहित्य-सिद्धान्त-सम्बन्धी विवेचन के नमूने हैं। स्वमत-प्रतिपादन और परमत-खण्डन में अत्यन्त गम्भीरता, तर्कशीलता और संयम की प्रौढ़ता आधिकारिक रूप में विद्यमान है। इनकी भाषा की अन्य विशेषताओं का भी इनसे पता चल सकता है।

पहले एक बात, विचार या भाव सूत्र रूप में रखते हैं—अत्यन्त संक्षिप्त, सूक्ष्म और संश्लिष्ट रूप में, आगे उसकी व्याख्या विस्तार से करते हैं। उस विस्तार में अन्य सम्बद्ध, और समान विचारों का विवेचन तो रहता ही है, विपक्षी या असमान विचारों की समीक्षा भी कर देते हैं। व्याख्या करते समय वाक्य-रचना सरल और विचार विरल। जब अनेक विचारों का प्रवाह-सा फूटता है, वाक्य अधिक गुम्फित, सघन और गहन अर्थ-सम्पन्न। किसी सिद्धान्त की समीक्षा या विचार की व्याख्या करते हुए तर्क-युक्ति, कारण-कार्य-सम्बन्ध, निष्कर्ष-प्राप्ति, निज मत-प्रकाशन आपकी शैली में क्रमशः रहता है। कहने का ढँग पाठक को अभिभूत करता है। विवेचन में चिन्तन, अध्ययन, मनन, निरूपण की सफाई, विषय की पकड़ और पाठक के मन में उसे प्रवेश कराने की शक्ति—फ़ोर्स—पूरी-पूरी मात्रा में रहते हैं।

"हमारे अन्तःकरण में प्रिय के आदर्श रूप का संघटन, उसके शरीर या व्यक्ति मात्र के आश्रय से हो सकता है, पर श्रद्धेय के आदर्श रूप का संघटन उसके फैलाए हुए कर्म-तन्तु के उपादान से होता है। प्रिय का चिन्तन हम आँख मूँदे हुए,

संसार को भुलाकर, करते हैं; पर श्रद्धेय का चिन्तन हम आँख खोले हुए, संसार का कुछ अंश सामने रखकर करते हैं । यदि प्रेम स्वप्न है तो श्रद्धा जागरण है । प्रेमी प्रिय को अपने लिए और अपने को प्रिय के लिए संसार से अलग करना चाहता है । प्रेम में केवल दो पक्ष होते हैं; श्रद्धा में तीन। प्रेम में कोई मध्यस्थ नहीं, पर श्रद्धा में मध्यस्थ अपेक्षित है । प्रेमी और प्रिय के बीच कोई और वस्तु अनिवार्य नहीं, पर श्रद्धालु और श्रद्धेय के बीच कोई वस्तु चाहिए । इस बात का स्मरण रखने से यह पहचानना उतना कठिन न रह जायगा कि किसी के प्रति किसी का आनन्दान्तर्गत भाव प्रेम है या श्रद्धा । यदि किसी कवि का काव्य बहुत अच्छा लगा, किसी चित्रकार का बनाया चित्र बहुत सुन्दर जँचा और हमारे चित्र में उस कवि या चित्रकार के प्रति एक सुहृद भाव उत्पन्न हुआ, तो वह श्रद्धा है; क्योंकि यह काव्य या चित्र-रूप मध्यस्थ द्वारा प्राप्त हुआ है ।"

—'श्रद्धा-भक्ति'

× × ×

"कल्पना में मूर्ति तो विशेष ही की होगी, पर वह मूर्ति ऐसी होगी, जो प्रस्तुत भाव का आलम्बन हो सके, जो उसी भाव को पाठक या श्रोता के मन में भी जगाए, जिसकी व्यंजना आश्रय अथवा कवि करता है । इससे सिद्ध हुआ कि साधारणीकरण आलम्बनत्व धर्म का होता है । व्यक्ति तो विशेष ही रहता है, पर उसमें प्रतिष्ठा ऐसे सामान्य धर्म की रहती है, जिसके साक्षात्कार से सब श्रोताओं या पाठकों के मन में एक ही भाव का उदय थोड़ा या बहुत होता है । तात्पर्य यह कि आलम्बन रूप में प्रतिष्ठित व्यक्ति, समान प्रभाव वाले कुछ धर्मों की प्रतिष्ठा के कारण सबके भावों का आलम्बन हो जाता है । विभावादि सामान्य रूप में प्रतीत होते हैं; इसका तात्पर्य यही है कि रसमग्न पाठक के मन में यह भेदभाव नहीं रहता कि यह आलम्बन मेरा है या दूसरे का । थोड़ी देर के लिए श्रोता या पाठक का हृदय लोक का सामान्य हृदय हो जाता है । उसका अपना अलग हृदय नहीं रहता ।"

—'साधारणीकरण और व्यक्ति वैचित्र्य'

ऊपर दिय गये अवतरणों से शुक्लजी की शैली की वे विशेषताएँ स्पष्ट हो जाती हैं, जिनका विवेचन हमने पहले किया है । व्याख्या या विवेचन की दुरूहता और अस्पष्टता दूर करने के लिए कभी-कभी अपनी बात को सरल और समान भाव वाले शब्दों में दुहराते भी हैं । 'सारांश यह कि···', 'तात्पर्य यह कि···', 'अब विचारना यह चाहिए कि···', 'अब रहा यह कि···' वाक्य-खण्डों के सहारे पहले कही हुई बात का संक्षेप भी देते हैं। कथन को सरस, व्यावहारिक और बोधगम्य बनाने के लिए बीच-बीच में कहावतों और मुहावरों का प्रयोग भी करते चलते हैं । पर अत्यन्त ही उपयुक्त और कम । 'बीती ताहि बिसार दे', 'गड़े मुर्दे उखाड़ना' आदि मुहावरे और कहावतें

तलाश करना कठिन नहीं। आप्त-वाक्य और काव्य-पंक्तियाँ भी जड़ते चलते हैं, जिनसे कथन को स्पष्टता और बात को समर्थन मिले। 'सुनत जनक आगमन सब हरखेउ अवध-समाज।' पर 'गरई गलानि कुटिल कैकेयी।' 'रामहि मिलत कैकेयी हृदय बहुत सकुचानि' पर 'जब लक्ष्मरण, कैकेयी कहँ पुनि-पुनि मिले,' तब तो वह लज्जा से धँस गई होंगी। 'नाते सबै राम के मनियत सुहृद सुसेव्य जहाँ लौं।'—शुक्लजी की भाषा का चोला पहनकर आते हैं। अवतरण या उद्धरण के स्वतन्त्र रूप भी इनकी रचनाओं में रहते हैं। दृष्टान्त, कथन की पुष्टि या सिद्धान्त-समीक्षा के अधीन ये उपस्थित होते हैं। तुलसी, सूर, रसखान, रहीम, ठाकुर, पद्माकर. देव, दास, घनानन्द और वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति के वाक्य या वाक्य-खण्ड जहाँ-तहाँ बिखरे मिलेंगे। संस्कृत-वाक्य-खण्ड, उक्तियाँ, सिद्धान्त-सूत्र भी समीक्षा और विवेचन में भाषा का रूप धारण करते आते हैं जैसे 'अज्ञात-कुल-शील'। ये वाक्य-खण्ड भाषा में नगीने की तरह जमकर बैठ जाते हैं। दुर्बोध नहीं होते। निम्नलिखित वाक्य-खण्ड इनकी रचनाओं में सामान्यतः मिलते हैं—'वज्रादपि कठोर', 'कुसुमादि मृदु', 'वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्', 'नीरस तरुरिह विलसति पुरतः', 'शुष्कोवृक्षस्तिष्ठत्यग्रे', 'स्वानूभूत्यैक मानाय', 'धर्मोरक्षति रक्षितः' 'स्वान्तःसुखाय', 'अलमर्थमलंकर्तुं', 'तदेजतितन्नैजति' इत्यादि। भाषा के अंग बनप्रयुक्त होने के अतिरिक्त स्वतन्त्र रूप में भी संस्कृत के अवतरणों का प्रयोग हुआ है।

वैसे तो शुक्लजी की भाषा में तत्समता की प्रधानता है, अस्सी प्रतिशत शब्द तत्सम शुद्ध रूप में। पर विशुद्धतावाद के नशे में वह कभी अवसरोपयुक्त, अर्थ-सम्पन्न, व्यंजनापूर्ण अन्य शब्दों का तिरस्कार नहीं करते। उद्देश्य तो है, भाषा की अभिव्यंजनाशक्ति बढ़े, अर्थ को गहनता और व्यापकता मिले। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये अवसर, स्थान, वातावरण, अभिव्यक्ति के अनुसार शब्दों का प्रयोग वह करते हैं—चाहे वे तत्सम, तद्भव या देशज हों चाहे शुद्ध विदेशी। 'भगति', 'सेंतमेंत', 'संगत', 'पता' (ज्ञान), 'धड़क', 'ढब', 'बेठिकाने', 'रूख', 'गड़बड़', 'ताकना' 'झाला', 'खोजखबरें', 'धड़ाधड़', 'मोल' 'लत', 'निकम्मा', 'बाँह', 'चैंट', 'बेडौल', 'घिन' आदि बोलचाल के देशज शब्दों का निर्भय प्रयोग भी है और 'कब्र', 'वक्फ़', 'ख़ारिज', 'क़वायद', 'हक़ीक़त', 'ग़नीमत', 'खुशामदखाना', 'महफ़िल', 'फ़हरिस्त', 'बयाबान', 'दास्तान', 'हासिल', 'अलबत्त', 'फ़रमाइश' उर्दू शब्दों का भी।

शुक्लजी ने हिन्दी में नवीन शब्दों का निर्माण भी किया। साहित्य-समीक्षा, सिद्धान्त-निरूपण और विवेचना के लिए पारिभाषिक शब्दों की बड़ी आवश्यकता पड़ती है। आपने इस आवश्यकता की पूर्ति भी की। अंग्रेज़ी-समीक्षा-सम्बन्धी शब्दों के पर्यायवाची शब्दों का निर्माण कर उनको अपने आलोचनात्मक लेखों में प्रयुक्त किया। अनेक शब्द देखे जा सकते हैं—

प्रेषणीयता (Communicability); युद्ध और प्रेम (Love and war); प्रतिवर्त्तन (Reaction); परम्परागुक्त (Conventional); चित्रों (Imagery); शक्तिकाव्य (Poetry as energy); कलाकाव्य (Poetry as an art); इस्लाम का विप्लव (The Revolt of Islam); शिक्षावाद (Didacticism); चेतना (Conscious); अन्तस्संज्ञा (Subconscious); स्थिर (Static); गत्यात्मक (Dynamic); बिम्ब (Images); विचार (Concept); नाटकीय या निरपेक्ष दृष्टि (Dramatic or absolute vision); स्वच्छन्दतावाद का आन्दोलन (Romantic movement); स्वयंप्रकाश ज्ञान (Intuition); अभिव्यंजनावाद (Expressionism); प्रभाववाद (Impressionism); सर्ववाद (Pantheism); इन्द्रियासक्ति (Sensualism); गद्यवत (Prosaic); काव्यानुभव (Poetic experience); घनत्व (Intensity); प्रसंग गर्भत्व (Allusiveness); मानसिक व्यापार (Mental exercise); भावों का व्यायाम (Exercise of emotions); इतिवृत्तात्मक (matter of fact) आदि।

कुछ समीक्षकों ने शुक्लजी की शैली को समास-प्रधान माना है। कथन की पुष्टि में उन्होंने 'वैर क्रोध का अचार या मुरब्बा है', 'दण्ड कोप का ही एक विधान है। राजदण्ड राज-कोप है, राज-कोप लोक-कोप और लोक-कोप धर्म-कोप है।' को उद्धृत किया। पर न तो इन वाक्यों से ही और न उनकी समस्त रचनाओं को पढ़कर ही हम इस कथन से सहमत हो सके। वाक्यों की संक्षिप्तता, सघनता और शृंखला-बद्धता और पारस्परिक कसाव का अर्थ समास कैसे? समास भाषा का अर्थगत स्वरूप कम है, विधानगत अधिक। क्रिया-कर्त्ता, विशेषण-विशेष्य आदि के समाहार में समास होता है। ऐसा हमें कहीं मिला नहीं। जिस विशेषता को समासात्मक गुण लोगों ने मान लिया, वह विकसित गद्य का सामान्य गुण है—निबन्ध में भाषा-संकोच और संक्षिप्तता ही तो ध्वनि और अर्थ की व्यापकता के आधार हैं। वास्तविक समासात्मक शैली तो पण्डित गोविन्द नारायण मिश्र में मिलती है। शुक्लजी की रचना-पद्धति में कई शैलियों का स्वाभाविक मिश्रण है। जब एक बात सूत्र रूप में कह, व्याख्या करते हैं, तो शैली प्रसाद या व्यास बन जाती है। व्यंग्य का निराला पुट व्यंग्यात्मक शैली का रूप सामने लाता है।

अनेक स्थलों पर शुक्लजी की भावुकता छलक पड़ती है। विवेचन विचारात्मक नहीं, प्रभावात्मक भावोच्छ्वास का रूप धारण करता है, 'अहा! मित्रों ने कितने मनुष्यों के जीवन को साधु और श्रेष्ठ बनाया है।' 'सहपाठी की मित्रता, इस उक्ति में हृदय के कितने भारी उथल-पुथल का भाव भरा है।' 'इस मिलन (राम और

भरत का) से संघटित उत्कर्ष की दिव्य-प्रभा देखने योग्य है। यह झाँकी अपूर्व है।' एक-आध जगह समास-शैली का आभास भी मिलता है। शुक्लजी की सम्पूर्ण रचनाओं में कठिनता से तीन-चार अवतरण ही समास-शैली के उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत किये जा सकते हैं।

एक अवतरण—

"जो केवल प्रफुल्ल-प्रसून-प्रसाद के सौरभ-संचार, मकरंद-लोलुप-मधुप-गुँजार, कोकिल-कूजित-निकुंज और शीतल सुख-स्पर्श-समीर इत्यादि की ही चर्चा किया करते हैं, वे विषयी या भोगलिप्सु हैं। इसी प्रकार जो केवल मुक्ताभास हिम-बिन्दु-मण्डित, मरकताभ-शाद्वल-जाल, अत्यन्त विशाल गिरि-शिखर से गिरते हुए जलप्रपात के गम्भीर गर्त से उठी हुई सीकर-नीहारिका के बीच विविध-वर्ण-स्फुरण की विशालता भव्यता और विचित्रता में ही अपने हृदय के लिए कुछ पाते हैं, वे तमाशबीन हैं, सच्चे भावुक या सहृदय नहीं।"

—'कविता क्या है ?'

इस अवतरण के अतिरिक्त कुछ शब्द भी समासात्मक प्रयुक्त हुए हैं— 'अनन्त शक्ति-सौन्दर्य-समन्वित'; 'संकल्प-विकल्प'; 'कल्याण-साधन'; 'सिद्धान्त-वाक्य'; 'परदुखकातरता'; 'विशद-रूप-विशिष्ट'; 'क्षात्र-धर्म-पालन'; 'अज्ञात-कुल-शील'; 'असंख्यलक्षक्रम'; 'कीर्ति-लोभ-वश'; 'कर्म-रुचि-शून्य'; 'कर्म-भावना-प्रसूत'; 'संवेदनात्मक'; 'मानापमान-समता'; 'अनुरंजनकारी'; 'सौंदर्य-साधन'; 'नाद-सौंदर्य'; शास्त्र-स्थिति-सम्पादन'; 'कालाग्नि-सदृश'; 'विभाव-विधायक'; बुद्धि-व्यवसाय-सिद्ध'; 'वस्तु-व्यापार-योजना'; ब्रह्मानन्द सहोदरत्व'; 'वंशानुक्रम'; 'अप्रस्तुत विद्यामिनी'; 'विशेष-रूप-व्यापार-सूचक' इन शब्दों के अतिरिक्त एक-दो वाक्य भी समास-शैला के मिल जाते हैं— 'व्यक्ति-सम्बन्धहीन-सिद्धान्त-मार्ग निश्चयात्मिका बुद्धि को चाहें व्यक्त हों, पर प्रवर्तक मन को अव्यक्त ही रहते हैं।'

इनके आधार पर भी इनकी शैली समास-प्रधान नहीं कहला सकती। दिये गये उदाहरणों में भी समासात्मक दुरूहता, अस्वाभाविकता, संक्षिप्त-सूत्रता, क्रिया-कर्त्ता-कर्म आदि की समाहारिता नहीं। समास की प्रधानता इनकी भाषा-शैली में नहीं। ये समासात्मक शब्द गिनती में बहुत ही कम हैं, शैली का निर्माण भी ये नहीं करते। ये तो भाषा का सौष्ठव, संकोच, फ़ोर्स और अर्थ गाम्भीर्य बढ़ाने के लिए आये हैं। विभक्तियों और कारक-चिन्हों का बचाव जहाँ तक हो, भला। इससे भाषा का गठन बढ़ेगा, ढीलापन कम होगा। ढीलापन कम होने और कसाव बढ़ने से भाषा में गति भी आयगी। यहाँ तक कि अनेक शैली-सजग साहित्य-निर्माता तो अनेक शब्दों का काम विराम-चिन्हों तक से ले लेते हैं। जैनेन्द्रजी की शैली इस कथन की

पुष्टि करेगी। शुक्लजी की शैली में भी इसकी झलक है। इसलिए न ये शब्द ही और न दो-चार काव्यमय भावात्मक गद्य-खण्ड ही इनकी शैली को समासात्मक सिद्ध करते हैं। शुक्लजी की शैली को हमने विवेचनात्मक माना है। इसका निरूपण 'आलोक' में देखें। 'मित्रता', 'प्राचीन भारतीयों का पहरावा', 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र' की शैली प्रसादात्मक है। इनके अतिरिक्त सभी निबन्ध विचारात्मक हैं, श्रेष्ठ विचार-प्रधान निबन्ध इसी विवेचनात्मक शैली में रचे जा सकते हैं, व्यास या प्रसाद में नहीं।

गम्भीर चिन्तन-प्रधान विवेचनात्मक शैली की सघनता और तीव्र-विश्रान्तिमय मात्रा में प्रभावात्मकता—अनुभूतिमय भावोच्छ्वास, भावुकता, काव्यमय स्निग्ध चित्रण और व्यंग्य, हृदय की चुटखी लेने वाली उक्तियाँ और गुदगुदाने वाले रिमार्क—जगह-जगह पड़ने वाले विश्राम-कुंज हैं। मन मस्तिष्क के लिए सहलाने वाला रिलीफ़ है, थकी घड़ियों में एक आसरा है। पर इस व्यंग्य में न हल्का विनोद-मिलेगा, न छिछला मज़ाक; अर्थ-गर्भित हास्य और चुटीला व्यंग्य ही अधिक है। कभी तो यह इतना चुटीला और तीक्ष्ण है कि एक तीर में शिकार की शक्ति की परख समाप्त।

"एक बेवकूफ़ी करने में लोग संकोच नहीं करते, और सब बातों में करते हैं।"

"पर जब इस व्यापार-युग में ज्ञान बिकता है, न्याय बिकता है, धर्म बिकता है, तब श्रद्धा-ऐसे भाव क्यों न बिकें ?"

"अपनी भीरुता या चापलूसी को हम 'श्रद्धा-श्रद्धा' कहकर गलियों और संवाद-पत्रों में क्यों न पुकारें।"

"जैसे कपियों का स्वभाव तुलसीदासजी ने 'रूख तोड़ना' बताया है, वैसे ही कवियों का स्वभाव शब्द तोड़ना-मरोड़ना हो गया था।"

"मोटे आदमियो ! तुम ज़रा से दुर्बल हो जाते, अपने अंदेशे से ही सही, तो जाने कितनी टटरियों पर माँस चढ़ जाता।"

"आजकल सार्वजनिक उद्योगों की बड़ी धूम रहा करती है और बहुत से लोग निराहार परोपकार-व्रत करते सुने गये हैं।"

"लोभियों का दमन योगियों के दमन से किसी प्रकार कम नहीं होता। लोभ के बल से वे काम और क्रोध को जीतते हैं, सुख की वासना का त्याग करते हैं, मान-अपमान में समान भाव रखते हैं। अब और चाहिये क्या ? जिससे वे कुछ पाने की आशा करते हैं, वह यदि उन्हें दस गालियाँ भी देता है, तो उनकी आकृति पर न रोष का कोई चिह्न प्रकट होता है, और न मन में ग्लानि होती है। न उन्हें मक्खी चूसने में घृणा होती है और न उन्हें रक्त चूसने में दया।······लोभियो ! तुम्हारा अक्रोध, तुम्हारा इन्द्रिय-निग्रह, तुम्हारी मानापमान समता, तुम्हारा तप अनुकरणीय है;

तुम्हारी निष्ठुरता, तुम्हारी निर्लज्जता तुम्हारा अविवेक, तुम्हारा अन्याय विर्गहणीय है। तुम धन्य हो ! तुम्हें धिक्कार है।" —'लोभ और प्रीति'

ऊपर दिये गये अवतरणों में चौथे के 'कवियों' और 'कपियों', पाँचवें के 'अपने अंदेशे से ही सही' और छठे के 'निराहार परोपकार-व्रत' ध्यान देने योग्य हैं। इन शब्दों में गज़ब का व्यंग्य है 'लोभ और प्रीति' नामक निबन्ध से उद्धृत अवतरण तो शुक्लजी की विनोदी और व्यंग्यपूर्ण शैली का आदर्श है।

शुक्लजी की गद्य-रचनाओं—विशेषकर मनोभाव और सिद्धान्त-निर्धारण सम्बन्धी निबन्धों—की सबसे बड़ी विशेषता है विज्ञान के समान यथार्थ परिभाषा, गणित के अंकों के समान सही मूल्य-मर्यादा और छाया-प्रकाश के समान अन्तर की स्पष्टता। परिभाषाएँ इतनी स्पष्ट, मर्यादित और सही कि कहीं भ्रम नहीं होता। किसी मनोभाव की परिभाषा देते या स्वरूप बताते समय आचार्य शुक्ल उसकी मर्यादा-सीमाएँ भी बाँधते चलते हैं, उसे कभी भूल से भी दूसरे मनोभाव की सीमा में प्रवेश नहीं करने देते। उसके विस्तार और गति के लिए क्षेत्र खुला रखते हैं, पर अपनी ही अधिकार-सीमाओं और क्रिया-क्षेत्र में वह स्वाधीनता से अपनी शक्ति का प्रदर्शन कर सकता है। जहाँ एक मनोभाव ज़रा वेश बदलकर आया, शुक्लजी तुरन्त उसे पहचान लेते हैं और पाठक को संकेत कर देते हैं कि यह तो वह नहीं, वह है। साथ-साथ रहने, मिलते-जुलते होने, परस्पर सहायता करने या पाठक के अवैज्ञानिक मूल्यांकन के कारण जिन दो मनोभावों में भेद करना कठिन है, शुक्लजी बहुत बारीक, साफ़ और गहरी लकीर खींचकर दोनों का अन्तर स्पष्ट कर देते हैं। ऐसे अवसरों पर उननी शैली विश्लेषणात्मक हो जाती है। हिन्दी के किसी निबन्धकार में इतनी वैज्ञानिक बारीकी और सूक्ष्म परख देखने में नहीं आई। अन्य लेखकों ने भी क्रोध, लोभ आदि पर कलम चलाई, पर वे निबन्ध शुक्लजी के निबन्धों के सामने हास्यास्पद प्रतीत होते हैं।

"दूसरों के चित्त में अपने विषय में बुरी या तुच्छ धारणा होने के निश्चय या आशंका मात्र से वृत्तियों का जो संकोच होता है—उनकी स्वच्छन्दता के विधान का जो अनुभव होता है—उसे लज्जा कहते हैं।"

"अपनी बुराई, मूर्खता, तुच्छता इत्यादि का एकान्त अनुभव करने से वृत्तियों में जो शैथिल्य आता है, उसे ग्लानि कहते हैं। इसे अधिकतर उन लोगों को भोगना पड़ता है, जिनका अन्तःकरण सत्वप्रधान होता है। जिनके संस्कार सात्विक होते हैं, जिनके भाव कोमल और उदार होते हैं।"

"संकल्प या प्रवृत्ति हो जाने पर बुराई से बचाने वाले तीन मनोविकार हैं—सात्विक वृत्ति वालों के लिए ग्लानि, राजसी वृत्ति वालों के लिए लज्जा और तामसी

वृत्ति वालों के लिए भय। जिन्हें अपने किये पर ग्लानि नहीं हो सकती, वे लोक-लज्जा से, जिनमें लोकलज्जा का लेश नहीं रहता वे भय से, बहुत से कामों को करते हुए हिचकते हैं।"

"लज्जा का एक हल्का रूप संकोच है, जो किसी काम को करने से पहले ही होता है। कर्म पूरा होने के साथ ही उसका अवसर निकल जाता है, फिर तो लज्जा ही लज्जा हाथ रह जाती है। ...... संकोच शील का एक प्रधान अंग, सदाचार का एक सहज साधक और शिष्टाचार का एक मात्र आधार है।"

—'लज्जा और ग्लानि'

ऊपर के अवतरणों में लज्जा, ग्लानि और संकोच का स्वरूप बताया गया है। तीनों मनोभाव समान ही मालूम होते हैं, फिर भी उनके बीच जो बारीक अन्तर की रेखा है, शुक्ल जी ने वह साफ़ खींच दी। ग्लानि, लज्जा और भय को सुधार का साधन बताया और भिन्न-भिन्न वृत्ति के मनुष्यों के लिए उनका निर्देश कर सबका अन्तर और भी स्पष्ट कर दिया। इसी प्रकार 'क्रोध', 'भय', 'श्रद्धा', 'भक्ति', 'लोभ' 'प्रीति', 'उत्साह', ईर्ष्या' आदि की परिभाषाएँ देकर उनका शुद्ध स्वरूप स्थापित किया गया है। एक वृत्ति अन्य का रूप किस प्रकार धारण करती है, यह भी बारीकी से समझाया गया है। घृणा-क्रोध, भय-लज्जा, उत्साह-भय, क्रोध-बैर, भय-घृणा, घृणा-उदासीनता, ईर्ष्या-स्पर्धा, ईर्ष्या-क्रोध, भय-भीरुता, भय-आशंका के सूक्ष्म अन्तर का विवेचन भी किया गया है।

"ईर्ष्या व्यक्तिगत होती है और स्पर्धा वस्तुगत।"

"भय जब स्वभावगत हो जाता है, तब क़ायरता या भीरुता कहलाता है।"

"दुख या आपत्ति का पूर्ण निश्चय न रहने पर उसकी सम्भावना मात्र के अनुमान से जो आवेग शून्य भय होता है, उसे आशंका कहते हैं।"

"जिस बात से हमें घृणा है हम चाहते क्या, आकुल रहते हैं कि वह बात न हो; पर जिस बात से हम उदासीन हैं, उसके विषय में हमें परवा नहीं रहती, वह चाहे हो, चाहे न हो।"

"ईर्ष्या एक संकर भाव है, जिसकी उत्पत्ति आलस्य, अभिमान और नैराश्य से होती है।"

"श्रद्धा और प्रेम के योग का नाम भक्ति है। जब पूज्य भाव की वृद्धि के साथ श्रद्धा भाजन के सामीप्य-लाभ की प्रवृत्ति हो, उसकी सत्ता के कई रूपों के साक्षात्कार की वासना हो, तब हृदय में भक्ति का प्रादुर्भाव समझना चाहिए।"

ऊपर दिये गये अवतरणों में शुक्ल जी की सूक्ष्म विश्लेषण-प्रवीण प्रतिभा के दर्शन होते हैं। यह तो रहा विभिन्न वृत्तियों का विश्लेषण; सामान्य

मनोभावों को—सम्पूर्णता की दृष्टि से—शुक्लजी ने दो वर्गों में बाँटा है। एक प्रेष्य और दूसरा अप्रेष्य। यह विश्लेषण बहुत ही स्वाभाविक है।

एक-दो बात और शैली के विषय में कही जा सकती हैं—समान रूपक और उपमा द्वारा समझाना और कभी-कभी पाठक से बातचीत करना।

तुलनात्मक ढँग से भी शुक्ल जी अपना कथन स्पष्ट करते—विवेचन बोधगम्य बनाते हैं।

"जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञान-दशा कहलाती है, उसी प्रकार हृदय की यह मुक्तावस्था रस-दशा कहलाती है। हृदय की उसी मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द-विधान करती आई है, उसे कविता कहते हैं। इस साधना को हम भावयोग कहते हैं और कर्मयोग और ज्ञानयोग का समकक्ष मानते हैं।"

"जैसे कपियों का स्वभाव रूख तोड़ना तुलसीदास जी ने बताया है, वैसे ही कवियों का स्वभाव शब्द-तोड़ना-मरोड़ना हो गया था।"

शुक्ल जी के निबन्ध, विचारात्मक होते हुए भी, मस्तिष्क और हृदय का सानुपातिक योग हैं। मस्तिष्क और हृदय के बीच जैसे जीवन का अनुभव और अध्ययन गलबहियाँ डाले क़दम से क़दम मिलाकर चल रहा है। इनके निबन्ध हिन्दी-गद्य साहित्य की समृद्धि है, शैली में विकास की भारी मंज़िल है, विचार-क्षेत्र में चिन्तन का अनुपम आदर्श है। ये बुद्धि को उतेजित कर नवीन विचार-परम्परा-पथ पर अग्रसर करते हैं। इनके निबन्धों की 'असाधारण शैली और गहन विचार-धारा पाठक को मानसिक श्रम-साध्य नूतन उपलब्धि' है।

४

पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी

बख्शीजी आलोचक भी हैं और निबन्धकार भी। 'सरस्वती' का काफी समय तक सम्पादन भी आपने किया। 'हिन्दी-कहानी-साहित्य', 'हिन्दी उपन्यास साहित्य', 'विश्व साहित्य', 'हिन्दी साहित्य विमर्श' आपकी आलोचना-पुस्तकें हैं। 'पंचपात्र' में आपके निबन्ध संकलित हैं, 'त्रिवेणी' में निबन्ध, आख्यायिका और नाटक। पर यहाँ तो हमें आपकी निबन्ध-रचना और शैली से ही प्रयोजन है। 'अतीत स्मृति', 'उत्सव', 'रामलाल पंडित'; 'श्रद्धांजलि के दो फूल'—भावात्मक और 'मेरा जीवन-क्रम', 'विज्ञान,' 'समाज-सेवा', 'नाम'—श्रेष्ठ विचारात्मक निबन्ध रचनाएँ हैं। इनमें बख्शीजी के चिन्तन और अनुभूति का प्रतिनिधित्व हो जाता है।

बख्शी जी का आदर्श है, अपनी भाषा ही सब विषयों के प्रतिपादन और विवेचन के योग्य बनानी चाहिए। बाहरी भाषा से शब्द न माँगने ही चाहिएँ और न गोद ही लेने। पूर्ण रूप से आपकी भाषा में यही आदर्श पाया जाता है। शुद्ध-वादियों की श्रेणी में आपका स्थान बहुत ऊँचा है। उर्दू के शब्द खोजने पर ही मिलते हैं—मिलते भी हैं, तो ऐसे, जो हिन्दी के बन चुके हैं। पारिभाषिक या स्थिति विशेष के लिए आप भले ही कोई तत्सम विदेशी शब्द 'अशरफ़ुल मखलूक़ात' प्रयोग कर लें; नहीं तो आपकी भाषा की धारा शुद्ध स्वच्छ, निर्मल, संस्कृत और संस्कृतिमय हिन्दी का स्वरूप लेकर सरलता से बहती है। अनुसन्धान का संकल्प लेकर ही कोई इनकी रचनाओं को पढ़े तो 'इशारा', 'आसानी', 'डाक्टर', 'नश्तर', 'दावा', 'ज़ैरूरत', 'सर्जरी', 'क़द्र', 'कायल', 'दिमाग़', 'ज़ोर', 'ज़रा', 'सुबह', 'ज़रूरत', 'ग़रीब', 'ख्याल', 'किताब', 'सिर्फ़' भले ही मिल जायँ। पर इनको भी क्या अब विदेशी कहा जा सकता है? और उधर 'संशयालु', 'निःसर्ग', 'अव्यर्थ', 'कृतकृत्यता', 'प्रकाश्य', 'अप्रकाश्य', 'निःसन्देह', निःदमनीय', शब्द बड़े निश्चिन्त होकर बैठे हैं।

बाबू श्यामसुन्दर दास और बख्शीजी के भाषा-सम्बन्धी समान आदर्श को समझने में भूल न की जाय। बाबूजी की भाषा में अपनापन नहीं आने पाया, संस्कृत से वह सज न पाई, आंतकित-सी लगती है। बोझल भी कहीं-कहीं हो गई है। उसमें रूखापन और पाण्डित्य है। बख्शीजी की भाषा में मिठास और तरलता है। इसका प्रवाह स्निग्ध और प्रभाव शीतल है। बाल-सुलभ सरलता और भोलापन बख्शी जी की भाषा में मिलेगा; वह हिन्दी में कम ही देखने को मिलता है।

लगता है, मन और मस्तिष्क पर भाषा की बदली भाव और आनन्द की हल्की-हल्की बूँदें बरसाती, अन्तर को तर करती आगे बढ़ रही है। भावात्मक गद्य में जिस भाषा-शैली का विकास हुआ, वही बख्शीजी की रचनाओं में, गद्य-शक्ति से सम्पन्न, हमें मिलती हैं। लगता है, कोई विद्वान, वय-ज्येष्ठ नहीं, हमारा ही कोई साथी हम से हमारी बोली में आत्मीयता और ममता के साथ बातें कर रहा है। सीधे-सादे और भोले-भाले ढँग में अपना हृदय खोलकर हमारे सामने रख रहा है।

शैली की दृष्टि से आपकी अधिकतर रचनाएँ सुरुचिपूर्ण, अर्थ-सम्पन्न, भाव-मयी, मधुर प्रसाद-शैली में आती हैं। कहीं-कहीं विचारात्मक निबन्धों में आपने विवेचन-शैली भी अपनायी है; पर वह भी आपकी भावात्मक काव्यमय शैली से दब गई है। इस तार्किक अभिभूतात्मक पद्धति का इनकी रचनाओं में लेश भी नहीं। इसमें भावुकता है, चिन्तन नहीं। आस्था है, तर्क नहीं। आप अपनी बात कहते-कहते व्यंग्य के छींटे भी उड़ाते चलते हैं। वह भोला, सुरुचिपूर्ण, निश्छल और निर्मल होता है। उसमें तीखापन नहीं, बहुत गहनता नहीं, अर्थगम्भीरता भी नहीं, हल्का और सस्ता भी वह नहीं। उसे पढ़कर मुस्कान ओठों पर दौड़ेगी, हँसी न आयगी। और न व्यंग्यार्थ की मछली के वास्ते जाल ही डालने पड़ेंगे।

बख्शीजी के निबन्धों में 'उत्सव', 'रामलाल पण्डित', और 'नाम', 'समाज-सेवा' और 'विज्ञान' हिन्दी के स्थायी निबन्ध-साहित्य में हैं। 'विज्ञान' तो हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ विचारात्मक निबन्धों में से है। इसकी भाषा-शैली, विचार-प्रकाशन, स्वाधीन चिन्तन, बाह्य और आन्तरिक स्वरूप, इसे एक श्रेष्ठ निबन्ध ठहराते हैं। इसी एक निबन्ध में बख्शीजी हमें विचारक लगे। भावुकता का इसमें तनिक भी रंग नहीं, शैली अत्यन्त स्वच्छ, प्रसादपूर्ण और प्रभावशाली। विचार-प्रणाली का एक सरस अनुरोध भी इसमें है।

"यह सर्वमान्य है कि संसार में जो कुछ सुन्दर और श्रेयस्कर दिखाई देता है, वह सब मनुष्य की आत्मा से तो प्रकट हुआ है। मनुष्य ने ही सभ्यता के प्रत्येक अंग—शासक और शासित, मन्दिर और मस्जिद, शिल्प और कला, पूँजी और मशीन, सभा और संगठन आदि—का निर्माण किया है। मनुष्यों ने ही भाषाएँ बनाई हैं। मनुष्यों ही ने पुराणों की रचना की है। मनुष्यों ने ही धर्म चलाये हैं। मनुष्यों ने ही स्वर्ग और नरक की सृष्टि की है। कुरान, बाइबिल और गीता भी उन्हीं की उपज हैं। ब्रह्मा, विष्णु से लेकर भूत-प्रेत तक सभी उसकी आत्मा से प्रकट हुए हैं।"

× × ×

"सबसे पहले विज्ञान ने मनुष्य को 'सत्य के लिए सत्य की खोज' करना सिखा दिया है। विज्ञान ने हमको यह पाठ पढ़ा दिया है कि एक ही नियम इस

अनन्त ब्रह्माण्ड में व्याप्त है। विज्ञान ने मनुष्य को उस ईश्वर के दर्शन और अनुभव करने की शक्ति दी है, जिसकी इच्छा और ब्रह्माण्ड की घटनाओं में सर्वथा एकता है। विज्ञान के कारण हमारे अन्तःकरण से उस ईश्वर की प्रतिष्ठा हटती जाती है, जो मनमाने खेल-तमाशे किया करता था, जो सांसारिक प्राणियों की तरह राग-द्वेष या हर्ष-शोक के झंझट में फँसा रहा करता था। विज्ञान ने मनुष्य के सामने ब्रह्माण्ड की अनन्तता खोलकर रख दी है। इस अनन्त ब्रह्माण्ड में उसकी और उसके झोंपड़े की क्या स्थिति है, इस पर विचार करते ही, उसका अज्ञान-जनित मिथ्या गर्व चकनाचूर हो जाता है। साथ ही विज्ञान ने यह बतलाकर मनुष्य के सच्चे आत्मविश्वास और आत्मसम्मान की नींव डाल दी है कि मनुष्य किस अवस्था से उन्नत होकर किस अवस्था को पहुँच गया है। वह पशु-कोटि से उठकर मनुष्य-कोटि में किस प्रकार पहुँचता है। विज्ञान ने अनेक प्रकार के दुखों का विश्लेषण किया है। उससे मनुष्य को विज्ञानातीत धार्मिक व्याख्याओं की अपेक्षा आशावादी बनने में अधिक सहायता मिलती है। किसी वैज्ञानिक ईश्वरवादी को वैसी घबराहट कदापि नहीं हो सकती, जैसी कूपर-सरीखे धर्मनिष्ठ विद्वान को स्वेच्छाचारी ईश्वर से हुआ करती थी।"

—'विज्ञान'

स्वाधीन विचार-प्रकाशन, निजी विश्वास और जीवन के प्रयोग—इसमें स्पष्ट हैं।

इस निबन्ध के लेखक को हम तो पूर्णसिंह के समकक्ष बड़े विश्वास के साथ रखते हैं। निबन्ध में विद्वत्ता, साहित्य-अध्ययन और ज्ञान-संग्रह का इतना महत्त्व नहीं, जितना सबल आत्मा, जागृत मस्तिष्क, निर्भय और निश्छल हृदय को पाठक के सामने रखने का। इसमें निबन्धकार बड़े उल्लसित आत्मविश्वास, संकल्प-बल और बौद्धिक फ़ोर्स के साथ अपनी बात कह रहा है। भाषा का अजस्र प्रवाह, विचारों का शृंखला-सम्बन्ध, और सिद्ध-ज्ञान का बल इसमें है। विज्ञान के आविष्कार नहीं गिनाए गये, जैसा अनधिकारी लेखक प्रायः करते हैं; पाठक को जीवन के प्रति वैज्ञानिक दृष्टिकोण दिया गया है।

"आधुनिक हिन्दी-साहित्य में तरुण दल के द्वारा जो नव साहित्य निर्मित होता जा रहा है, उसमें तारुण्य की स्फूर्ति है, कामना है और विद्रोह है। निश्चेष्टा के जिस महा दैत्य ने पराधीनता के पाश में समस्त देश को बद्ध कर शक्तिहीन बना दिया था, उसका संहार करने के लिए एक ऐसे ही साहित्य की आवश्यकता थी। इसीलिए तारुण्य का उन्माद उनमें स्फूर्ति लाने के लिए आवश्यक हो गया है। वही उन्माद हम नव प्रगतिशील साहित्य में पाते हैं। उसमें वासना का वह विस्फोट

हुआ है, जो किसी भी प्रकार के बन्धन को नष्ट कर सकता है। उसमें विध्वंस के गीत गाये गये, उसमें अति भयंकर समर का राग गाया गया है।"

—'दो बातें'

"संसार का काम कब रुकता है? काल की गति कब अवरुद्ध हुई है? प्रकृति की चाल कब बन्द हुई है? सभी कुछ ज्यों-का-त्यों बना रहता है, परन्तु कोई एक चुपचाप चला जाता है। एक विटप का एक फूल झड़ पड़ता है, उसकी सौरभ-विधि नष्ट हो जाती है। एक तड़ाग का कमल सूख जाता है, और उसकी शोभा लुप्त हो जाती है; परन्तु प्रकृति का व्यापार चलता ही रहता है। संसार के समर-क्षेत्रों में व्यस्त और अपने स्वार्थों में लिप्त लोगों को क्या पता है कि आज एक प्यार का दीपक बुझ गया, एक का सौभाग्य-सूर्य अस्त हो गया, एक की स्नेहनिधि खो गई।"

—'अतीत स्मृति'

ऊपर के दोनों अवतरणों में बख्शीजी की शैली के दो अन्य रूप भी देखे जा सकते हैं। 'दो बातें' में जबलपुर की साहित्यिक चर्चा है और इसी चर्चा में वह 'नवीन-साहित्य' की भावात्मक अलोचना भी कर गये। भाषा की मधुरता उल्लेखनीय है ही। एक-एक वाक्य में 'नवीन साहित्य' की विशेषताओं पर निर्णयात्मक वक्तव्य भी हैं। थोड़े में बहुत-कुछ कहने की सफलता बख्शीजी में है।

'अतीत स्मृति' कथात्मक पद्धति में लिखा गया भावात्मक निबन्ध है। छोटे-छोटे वाक्य सरल गुम्फन, प्रसाद-मधुर भाषा, करुणा का उमड़ता हुआ स्रोत—सब मिलकर निबन्ध की भावात्मकता का उदाहरण बन जाते हैं। प्रश्नों के द्वारा 'निषेध' प्रकट करना बहुत ही प्रभावशाली होता है, वही इसमें हैं। निबन्ध के वाह्य स्वरूप-गठन के विषय में जान लेना भी आवश्यक है। बख्शीजी अपना निबन्ध प्रायः भूमिका से आरम्भ करते हैं। पर वह बहुत छोटी उपयुक्त और निबन्ध की शोभा होती है। वह पार्श्व-पट का भी काम देती है, यह भूमिका दो प्रकार की होती है—एक तो कोई छोटी-मोटी घटना, कथांश या संवाद के रूप में और दूसरी किसी विश्वजनीन सत्य या तथ्य के रूप में है। कभी-कभी अन्त भी किसी घटना पर करते हैं। पहली पद्धति 'समाज सेवा' में मिलेगी। अन्त भी एक संवाद-खण्ड से हुआ है। दूसरी 'मेरा जीवन-क्रम' में मिलेगी। इसके सिवा, कथात्मकता का इनके निबन्धों में प्राधान्य है; पर विवरणात्मक वे नहीं हैं, विचारात्मक या भावात्मक ही हैं। कथात्मकता शैली में गति, सजीवता और चित्रात्मकता लाने के लिए है—उन्हें अधिक हृदयाकर्षक बनाने के लिए। निबन्ध की प्रमुख विशेषता—निजात्मकता—इनके निबन्धों में खूब मिलती है। अपने विषय में बख्शीजी बड़ी आत्मीयता, निष्कपटता और निश्छलता से

कहने लगते हैं। इससे इनके निबन्ध बड़े प्यारे लगते हैं। अधिकतर निबन्धों में संस्मरण-गुण विद्यमान रहता है। सभी निबन्ध आकार में छोटे होते हैं। स्कैच या शब्द-चित्र भी कहीं-कहीं रहते हैं। शैली में गठन, संक्षिप्तता, ध्वनि और वक्रता की कमी इनके निबन्धों में है। मस्तिष्क के चिन्तन-तारों में झंकार भी ये कम ही उत्पन्न कर पाते हैं। पर सरलता, बोधगम्यता, मधुरता इनकी रचनाओं में व्यक्तित्व प्रदान करती है। इनके निबन्ध खूब मनोमुग्धकारी हैं।

५

माखनलाल चतुर्वेदी

शैली ही यदि व्यक्तित्व का बल है, तो यह व्यक्तित्व का बल चतुर्वेदीजी में खूब मिलता है। कवि के रूप में आप बलिदान की जवानी और सूफ़ी-मिश्रित वैष्णव प्रेम की पीर लेकर आये, पत्रकार के रूप में विदेशी आतंक-शासन को चुनौती लेकर और निबन्धकार के रूप में भावात्मक निबन्धों में रंगीन शैली और छायावादी अभिव्यंजना लेकर। बोलने और लिखने की भाषा आपकी दो नहीं। बोलते हैं तो वाणी में भावों की बाढ़ उमड़ती है—आवेगमयी धारा को जैसे भीतर से कोई धकेलता हो। लेखनी से अनुभूति, भावुकता, गीत और संगीत के स्वर बिखरते हैं। भाषा और भाव हाथ में हाथ डाले जैसे लिपि-लकीरों की भीड़ में दौड़े जा रहे हैं। न कहीं शिथिलता, न विराम; न विरलता, न झिझक। देश-प्रेम आपके साहित्य की प्रेरणा है और साहित्य आपके जीवन का पाथेय। अतीत उनकी आस्थाओं का आधार है, भविष्य विश्वासों के प्राणों की कसौटी, और वर्तमान दोनों को जोड़ने वाली कड़ी। 'वर्तमान की बर्फीली शिला को संगमरमर' समझ उस पर नहीं बैठते। वर्तमान को अतीत और भविष्य की कसौटी पर ही परखकर स्वीकार करते हैं।

"बर्फ़ की चट्टान (वर्तमान) को संगमरमर की चट्टान समझकर हम बैठ गये हैं; न हमने उसे भूतकाल के हथौड़े से परखा, न भविष्य की सूर्य-किरणों से उसकी जाँच की।"

जिन विषयों पर विचारात्मक विवेचन का ही एक मात्र अधिकार साहित्य-समीक्षक समझते हैं, उन विषयों पर भी श्रेष्ठ भावात्मक निबन्ध प्रस्तुत करके, चतुर्वेदी जी ने उनका भ्रम दूर कर दिया। हमारी सम्मति में तो आपके निबन्ध भाव-प्रधान रचनाओं में सर्वश्रेष्ठ हैं। अन्य लेखकों के कम निबन्ध ही, जिनकी समीक्षा हमने भाव-प्रधान-रचनाओं के अन्तर्गत की है, शुद्ध निबन्ध-कोटि में आते हैं।

वियोगीहरि, रायकृष्ण दास, चतुरसेन शास्त्री आदि की रचनाओं में, (जिनको हिन्दी में गद्यगीत या गद्यकाव्य का नाम दिया गया है) निबन्ध-तत्व कम हैं। निबन्ध का स्वरूप उनमें उभरता ही नहीं। भावोच्छ्वास के वे तो छोटे-छोटे पत्रक हैं। चतुर्वेदीजी के निबन्ध भाव-नद हैं, उनकी रचनाएँ भाव-तरंगें। चतुर्वेदी जी ने जिन विषयों—'युग और कला', 'साहित्य-देवता' 'रंगों की बोली', 'व्यक्तित्व' आदि—पर निबन्ध लिखे, उन पर हिन्दी में विचारात्मक निबन्ध लिखे गये। भावात्मक मनोमुग्धकारी

शैली में चतुर्वेदीजी वह सब-कुछ कह गये हैं, जो अन्य विचारक कहते। प्रकट है, किसी भी विषय के लिए कोई भी प्रकार या पद्धति अपनायी जा सकती है। कोरी भावुकता और काव्यात्मकता तो निबन्ध की शक्ति नहीं—इसमें गहन चिन्तन, सूक्ष्म अध्ययन और विस्तृत अनुभव होना चाहिए, काफ़ी मात्रा में इनमें यह मिलेगा। कला, जीवन, साहित्य—सभी को इन्होंने अच्छी तरह समझा है यथार्थ की कसौटी पर परखा भी है। इसीलिए चलती व्यावहारिक भाषा में—छोटे से वाक्य में बड़ी बात कह जाते हैं।

कला को आप कुल, व्यक्ति या वैभव की दासी बनने देना नहीं चाहते। कला का क्षेत्र मानव-जीवन है—कला का प्रयोजन विशाल विश्व के समस्त प्राणियों को गोद में ले गौरव का तिलक लगाना है। धनी-निर्धन, भिखारी-भगवान, हिममंडित-शिखर और रोहन अतनांतगर्त—सभी कला की कर्म-सीमा में बँधे हैं। आप कहते हैं—"कृष्ण के विरह में रोती हुई राधा, अशोक-वाटिका में शोकमयी सीता और कलकत्ते के दंगे में बृटिश गोलियों से घायल हुई धोबिन; चित्रकार को विश्व गौरव के बाज़ार में, ये तीनों विभूतियाँ कला के सुकोमल कलश पर एक साथ, एक रूप में, एक मूल्य पर दीख पड़ती हैं।" कला को उच्च कुल-गोत्र के दाम पर बेचने वाले कलाकारों के लिए यह पथ-निर्देश है।

इनकी भाषा में, न संस्कृत की तत्समता का आतंक, न उर्दू का अवलम्ब। वाक्य प्रायः छोटे और सरल। भावावेश की तेज़ी में कभी-कभी वे बहुत ही छोटे हो जाते हैं, या एक वाक्य अनेक छोटे-छोटे खण्डों का हार-सा बन जाता है। उर्दू-हिन्दी का मोहक मिश्रण और प्रान्तीय बोलियों के उपयुक्त सारवर्द्धक शब्दों का उपयोग भी जहाँ-तहाँ मिलेगा। 'हरगिज़', 'ज़बान', 'पैग़ाम', 'ज़ंजीर', हस्तियाँ', 'खानदान', 'गुबार', 'सिपहसालार', 'ईमान', 'ज़रूरतमंद', 'बाक़ायदा', 'नज़दीक', 'मर्ज़ी', 'शहज़ादे', 'ज़माना', 'बदतर', 'बेअख्तियार', 'क़ीमत' आदि शब्दों का बेधड़क प्रयोग है। 'लालटैन', 'टेलीग्राफ़', 'एजेण्ट', 'अटैची केस', 'अलबम', 'ऐडवरटाइज़िंग एजेंसी'—ऐसे शब्द भी मिलते हैं। ब्रजभाषा के उपयुक्त शब्द भी आप बेखटके प्रयोग करते हैं। कभी 'वर्तमानत्व की शराब'—ऐसे शब्दों के सिक्के भी चला डालते हैं। संस्कृत, ब्रजभाषा, अवधी के अवतरण भी सजाते चलते हैं। अनुप्रास की ओर भी झुकाव है—"शोध में भारतीय चित्रकला के रसदान, अभिमान और विशालता के वितान का गुणगान हुआ।" और "तब मेरा प्रयत्न चातुर्य का अर्ध विराम, अल्हड़ता का अभिराम, धवलता का गर्व गिराने वाला केवल श्याम-मात्र होगा।"

ऐसे प्रयोगों को अनुप्रास का पागलपन ही समझना चाहिए, अभिव्यंजना को बल इनसे नहीं मिलता।

इनके निबन्धकार में कवि ही क्रियाशील रहता है—कवि ही निबन्धकार का चोला पहनकर आता है। आपकी अभिव्यंजना में विलक्षण, दुर्लभ और मुग्धकारी व्यंजना है। जो सांकेतिकता और लाक्षणिकता आपकी भाषा में पाई जाती है, हिन्दी के अन्य भावात्मक निबन्धों में कम है। कथन में बाँकपन है। अभिधात्मक अर्थ का झीना स्तर आपके निबन्ध-मानस पर हिम-चादर के समान फैला है, इसे तोड़कर ही विभिन्न भावों की उज्ज्वल आवेग-तरंगें देखी जा सकती हैं, अर्थ की गहनता में उतारा जा सकता है, और 'कला और युग' और 'साहित्य-देवता' को सही रूप में समझा जा सकता है। छायावादी कला की विशेषता है—प्रतीकों और अन्योक्तियों का प्रयोग। चतुर्वेदीजी की शैली भी प्रतीकात्मक है। बात सीधे न कहकर अन्योक्ति के द्वारा कहते हैं। इस प्रतीकात्मकता और लाक्षणिकता ने शैली को कहीं-कहीं दुरूह बना दिया है। भावुकता की बाढ़ में अर्थ भटक गया है। शब्दों की रंगीनी बढ़ गई है, अर्थसार क्षीण पड़ गया है। भाषा की बाजीगरी-सी मालूम होने लगी है। युग की रहस्यमयता का आतंक भी बढ़ गया है। लाक्षणिकता और कथन का निरापन देखें—

"अज्ञान की उद्दण्डता प्रकाश की पीढ़ियों को किसी भी मूल्य पर स्वीकृत न हो सकेगी।"

"आखिर पश्चिमी प्रवाह में हमने चश्मोंवाली आँखें पाईं।"

"जापान के उगते हुए सूर्य के प्रकाश ने कुछ ज़ोर बाँधा था, सो अब वह भी कठघरे का बन्दर हो गया।"

"मानो हस्तियाँ किंवदन्तियों के चरणों पर न्योछावर हो गई हैं।"

"ज़हर की खैरात पीढ़ियों को बाँटते आने वाले हम।"

इनके 'युग और कला', 'साहित्य-देवता' और 'रंगों की बोली' से अवतरण दिये जाते हैं। अन्तिम दो निबन्धों के शीर्षकों से ही इनकी भावात्मकता प्रकट है। ये सभी सिद्धान्त-सम्बन्धी हैं, पर कलाकार ने उनको भाव गद्गद आवेग-विह्वल और काव्य-मधुर रूप दे दिया है। प्रचार प्रधान रचनाओं में भावुकता और शैली की खिलवाड़ एक तमाशा बन गई है।

"विचार आया, राग भागा, अनुराग आन्दोलित हुआ, आदर्श गुदगुदाया और लोक-जीवन पर उतरने के लिए, मानों जीवित रहने के लिए, ये सब के सब चल पड़े कला का माध्यम ढूंढ़ने; चल पड़े ये किसी की कलम, कण्ठ या कूँची के मुहताज होने। सूझ कला का बल है, माध्यम और अभ्यास उसके पंख हैं, जिनके बिना वह उड़ नहीं सकती। आत्मा से कृति तक और अपरिपक्व आवेगों से ईश्वरीय समझे ज़ाने वाले संकेतों तक, कला के जो डोरे हिल रहे हैं और उन पर रसभीगा, किन्तु

पथ खोजता मानव-विश्वास बैठ-बैठकर उड़ता और उड़-उड़कर बैठता-सा जो दिखाई दे रहा है, वहाँ कला का जो संग्रह इतिहास बन रहा है, शोध के सुकोमल क्षणों तक में हज़ार-हज़ार बार की दुहराहटों के अभ्यास के बाद ही कला के कौशल को जीवित रहने का वरदान मिलता है।"

—'युग और कला'

"कौन-सा आकार दूँ ? तुम मानव-हृदय के मुग्ध संस्कार हो ! चित्र खींचने की सुध कहाँ से लाऊँ ? तुम अनन्त 'जाग्रत' आत्माओं के ऊँचे, पर गहरे स्वप्न जो हो ! मेरी काली कलम का बल समेटे नहीं सिमटता ! तुम, कल्पनाओं के मन्दिर में बिजली की व्यापक चकाचौंध जो हो ! मानव-सुख के फूलों के और लड़ाके सिपाही के रक्त-बिन्दुओं के संग्रह, तुम्हारी तस्वीर खींचूँ मैं ? तुम तो वाणी के सरोवर में अन्तरात्मा के निवासी की जगमगाहट हो। लहरों से परे, पर लहरों से खेलते हुए। रजत के बोझ और तपन से खाली, पर पंछियों, वृक्ष-राजियों और लताओं तक का अपने रूपहलेपन में नहलाये हुए !

× × ×

"हाँ, तो अब मैं तुम्हारी तस्वीर खींचना चाहता हूँ। पशुओं को कच्चा खा जाने वाली ज़बान और लज्जा ढकने के लिए लपेटी जाने वाली वृक्षों की छालें—वे इतिहास भी परे खड़े हुए हैं; और यह देखो, श्रेणीबद्ध अनाज के अंकुर और शहज़ादे कपास के वृक्ष, बाक़ायदा, अपने ऐश्वर्य को मस्तक पर रखकर, भूपाल बनने के लिए वायु के साथ होड़ बद रहे हैं। उन दोनों ज़मानों के बीच की ज़ंजीर—तुम्हीं तो हो। विचारों के उत्थान और पतन तथा सीधे और टेढ़ेपन को मार्गदर्शक बना, तुम्हीं न, कपास के तन्तुओं से भी झीने तार खींचकर आचार ही की तरह विचार के जगत में, पंचाली की लाज बचाने आये हो।"

—'साहित्य-देवता'

"तेरे चित्रों से आने वाले जीवन को—जो केवल जीवन के संकटों को, 'वर्तमानत्व की शराब' से बेहोश होकर और कल बीते और कल आने वाले युगों का बोझ न सँभालने वाली बुद्धि रखकर, अपनाते हैं—वे कैसे पहचाने कलाकार ? बाज़ार में बिकते हुए रंग और तेरी कला में प्राण पाते हुए रंग के बीच की लम्बी यात्रा को वे पहचानें जो मंदभागी साँसों की रेलगाड़ी में केवल समय का पाद-प्रहार पाकर गिर पड़े हैं और आती-जाती वायुभरी लाश का बोझ ढोते चले जा रहे हैं ? अजन्ता, अलोरा और ऐसी गुफ़ाओं में एकान्त चट्टानों पर शताब्दियों से बोलते हुए चित्रित रंगों और मुद्रित आकारों को देखते हुए भी पश्चिम की रंगहीनता बोली, 'भारत में चित्र की कला नहीं थी' भारतीय कलाकार का अपराध यही था कि उसने

पत्थर पर लकीरें खींचीं और कबीर की इस वाणी के विश्वास को शताब्दियों पहले दुहराया कि 'यह संसार कागज की-सी पुड़िया बूँद पड़े गल जाना है' । इसलिए उसने अपनी कोमल कलम पत्थर पर चलाई ।"

—'रंगों की बोली'

तीनों में आवेग-शैली की झलक है । कला के महत्त्व या बल का विवेचन करके चित्र-सा उपस्थित कर दिया गया है, उससे उसका महत्त्व प्रकट हो जाता है । 'साहित्य-देवता' और 'रंगों की बोली' में सम्बोधन, आत्मनिवेदन, साहित्य और चित्रकार का महत्त्व इस प्रकार प्रकट किया है, जैसे भक्त अपने इष्ट का करता है। पूरे निबन्ध न पढ़े जायँ, बीच के अवतरण ही सामने रहें, तो लगता है कोई भावुक प्रेमी अपने प्रिय से आत्मनिवेदन कर रहा है । भाव-प्रधान ढंग में विषय-विवेचन भी सफलता से इन निबन्धों में मिलेगा, ये इसीलिए शुद्ध निबन्ध-कोटि में आते हैं ।

६

वियोगीहरि

'प्रसाद' जी ने अपनी रचनाओं, विशेषकर कहानियों द्वारा गद्य के एक सर्वथा नवीन स्वरूप की प्रतिष्ठा की। गद्य का यह स्वरूप जीवन की भावात्मक, आवेगमय, आकुल और उल्लसित स्थितियों के चित्रण में अत्यन्त सफल हुआ। इसमें भावोच्छ्वासों की कम्पन, काव्य की मधुरता, कल्पना की रंगीनी, आत्मीयता का अनुरोध खूब आता है। गद्य का यह रूप हिन्दी में गद्यकाव्य के नाम से प्रचलित हुआ। हम इसे स्वतन्त्र विधा नहीं, निबन्ध के अन्तर्गत गिनते हैं। यह भावात्मक निबन्ध का ही एक रूप है, 'आलोक' में इसका विवेचन कर दिया गया है। वियोगीहरि के दो भावात्मक निबन्ध-संग्रह—'भावना' और 'अन्तर्नाद'—प्रकाशित हुए। इनसे हिन्दी के अनेक लेखक प्रभावित हुए। कुछ दिन तक इनकी नकल का दौर भी रहा। ऐसी अनेक रचनाएँ तो अनुभूतिहीन अभिनय और हास्यास्पद प्रलाप के अतिरिक्त कुछ और न बन सकीं।

'प्रेम और विरह', 'दीनों पर दया', 'आँख और हिन्दी कवि', 'साहित्यिक चन्द्रमा' भी इसी प्रकार के भावात्मक लेख हैं। इनमें निबन्ध का व्यक्तित्व तो विकसित न हो पाया; पर ये हैं हृदयरंजक, भाव-विह्वल, रसाप्लावित और मनोमोहक। इनमें गद्य-पद्य का निराला मिश्रण है। हिन्दी-उर्दू कवियों की भावानुकूल काव्यात्मक उक्तियों को उद्धृत कर विषय का प्रतिपादन अत्यन्त भावुक शैली में किया गया है। इससे भाव-प्रकाशन में सरलता और मधुरता तो आई ही; विषदता और प्रभाव-सम्पन्नता भी आ गई। विचारात्मक निबन्ध में जो तर्क और युक्तियों का स्थान है, भावात्मक प्रबन्ध में इन उक्तियों का। ऐसे भावात्मक निबन्धों में व्यक्तित्व निजी अनुभूति लेकर इतना नहीं आता, जितना सहानुभति लेकर। श्रेष्ठ निबन्ध ये नहीं कहला सकते।

प्रेम, वियोगीहरिजी के जीवन का सम्बल है—उनकी यात्रा का पाथेय है। प्रेम की विह्वलता उर-कम्पन में सँभाले, गद्गद् अनुरोध उपालम्भ-वाणी कण्ठ में लिये, आत्मसमर्पण की आकुलता और प्यास की कातरता प्राणों में भरे जैसे इनका साधक विरह-मिलन की धूप-छाँह में अथक यात्रा कर रहा है। प्रेम की उमड़ती मचलती पावन सरिता आध्यात्म और देश-भक्ति के दो कूलों को चूमती जीवन-धारा को सींचती परोक्ष-प्रियतम की ओर बढ़ती है। इनका आध्यात्म गोपियों के भावयोग या

सूफ़ियों की प्रेम-साधना का रूप धारण करता है। इसमें निराली वेदना है, उल्लास और उमंग भी। देश-भक्ति में राष्ट्रीयता की उमंग है, स्वाधीनता की माँग है, समानता की पुकार है—कहीं-कहीं सामाजिक पाखण्ड और कुलीनता के दुरभिमान पर करारा व्यंग्य भी है।

जहाँ सूफ़ी ढँग का प्रेम आया है, वहाँ गज़ब की मस्ती बिखर पड़ी है। जहाँ गोपियों का आत्म-निवेदन और विरह-वर्णन आया है, बेचैनी और तरलता छलक पड़ी है। कहीं-कहीं आत्मव्यंजना में गम्भीरता और मार्दव दोनों ही हैं। प्रीतम के प्रति सांकेतिक संदेश भेजे गये हैं। अनेक स्थलों पर 'प्रस्तुत' का आधार न लेकर 'अप्रस्तुत' को आधार बनाया गया है। ऐसे स्थलों पर प्रतीकवादी पद्धति स्पष्ट है। 'आत्मीयता' इनके निबन्धों में कई रूप लेकर आई है। कहीं प्रेम-भरा उपालम्भ, कहीं जागरण-चेतावनी, कहीं सीधे पाठक से ममतालु वार्तालाप। यह ममता बहुधा सम्बोधन, सहमति या मत-प्राप्ति के रूप में होती है। 'भला देखो तो, बूढ़े ब्रह्मा से कितनी भारी भूल हुई है ? आँख को धर गिनाया है इन्द्रियों में।' 'हाँ भाई, सच तो कहते हैं।' 'देख, बाग मोड़ ले।' 'तू कैसा भारतीय सैनिक है, उठ आँख खोल।' उसी आत्मीयता के उदाहरण हैं। आत्मीयता पाठक और लेखक को अत्यन्त निकट लाती है—दोनों में संकोच, पाण्डित्य, समय, स्थान की दूरी नहीं रहती। इनके निबन्ध अत्यन्त छोटे होते हैं—अन्त तक पाठक का रंजन करते हैं।

आपकी रचनाओं में भाषा के दो रूप मिलते हैं—एक तो संस्कृत-शब्द-गुम्फित-माला-सा समासात्मक और दूसरा सरल वाक्य-विन्यासपूर्ण प्रसादात्मक। प्रसादात्मक भाषा वाले रूप में, कहीं उर्दू-शब्दों का बचाव है, कहीं दोनों का मिश्रण। समास-प्रधान भाषा दुरूह, अस्वाभाविक, बनावटी है। इसमें भाव गौण स्थान पाता है, भाषा उसे दबा लेती है। न रस की सघनता, न भावों का भोलापन, न पाठक के प्रति आत्मीय अनुरोध और न मानस की तली को छूने वाली तरलता। न तो इसमें कथन की सरलता और व्यावहारिकता ही आती है और न विशदता। इसमें गूढ़, गहन, सघन भाव आ नहीं पाते, केवल भाषा का बाह्य कलेवर ही सज पाता है।

"प्यारे, तू नित्य ही मेरे द्वार पर सघन-घन-तमाच्छन्न-कृष्ण-वसन-लसित-निशि-समय, सुजन-मन-मोहिनी, रसिक-रस-रोहिनी वेणु बजाता है; माध्वी-मल्लिका-मकरंद-लोलुप-मिलिन्द-गुंजार-समुल्लसित, नव-रस-पूरित, सुप्रम-प्रतिभा-मुदित कवि-हृदय-द्वारा स्वच्छन्द आनन्दकन्द संदेश भेजता है, और कभी-कभी विरह-दग्ध-उर-निस्सरित-प्रेमाश्रु-वर्षण वा संयोग-गत-प्रगाढ़ालिंगन रोमघर्षण में अपनी सुप्रीतिमय झलक दिखा जाता है।"

—'तरंगिणी'

नहीं लगता, यह हिन्दी है। भाषा की कृत्रिमता स्पष्ट है। कौन कह सकता है, लेखक के हृदय से प्रेम की आकुलता उमड़ी पड़ रही है। जिस विह्वल प्रेमी के हृदय में भावों का तूफ़ान होगा, वह तो भाषा की परवा कर ही कहाँ पायगा, सीधे-सादे मुहावरे-पूर्ण ढंग में व्याकुल वाक्यों और अस्फुट शब्दों में अनुभव कर हृदय को अवगुण्ठन-हीन कर देगा। अवतरण से साफ़ है, लेखक छेनी-हथौड़ी लेकर बैठा है, मज़े-मज़े में सोच-सोचकर शब्दों के नगीने रचना-आभूषण में जड़ रहा है। 'नन्ददास जड़िया' का पद पाने की ज़्यादा फ़िक्र है, अपने प्रीतम को रिझाने की नहीं। या यह भी हो सकता है, प्रीतम जी ने अपने आने का समय पहले ही दे दिया है, आने में अभी दो-चार दिन हैं, क्यों न बढ़िया-सी भाषा में मजमून लिख लिया जाय। जब प्रीतम आयँगे, प्रेमीजी 'वैलकम-एड्रेस' पढ़ देंगे।

पर इस बनावटी, अस्वाभाविक, अर्थहीन भाषा की निस्सारता को वियोगी हरि ने अच्छी तरह समझ लिया। यह साधक की भाव-साधना नहीं, सुनार की सफलता है। कुछ ही रचनाओं में इस प्रकार की भाषा का प्राधान्य रहा। स्वाभाविक, सरल, प्रसाद-गुणपूर्ण भाषा को ही भाव-प्रकाशन का साधन उन्होंने बनाया। भाषा में घरूपन लाने का प्रयत्न उन्होंने किया। व्रजभाषा के सरस-मधुर शब्दों का प्रयोग भी इनकी रचनाओं में हुआ। 'पैनी', 'चोखी' 'कारिख', 'पीव', 'जीव', 'डहडही', 'डहडहापन', 'बालना' अपने स्थानों पर सजे बैठे हैं। उर्दू-हिन्दी का मधुर मिलन भी इनकी भाषा में हुआ। 'दीदार', 'मुश्किल', 'मालिक', 'दर्द', 'दास्ता', 'दिलदार', 'जोशेजुनूँ', 'जुदाई', 'बेखुदी', 'हसरते दीदार', 'अजीब', 'बख्शना', 'अर्श', 'नाउम्मीदी', 'खुदाई नूर, 'दामन', 'आफ़त', 'बरदाश्त', 'दौलत', 'ग़रीब', 'मुश्किल' इनकी रचनाओं में आसानी से मिल जायँगे।

इनकी प्रसादपूर्ण भाषा-शैली बड़ी ललित लावण्यमयी है। प्रवाह अपनी स्वाभाविक तीव्रता से बहता है। और इस शैली का उर्दू से अछूता रूप तो अत्यन्त मधुर मुग्धकारी और अनुप्रासपूर्ण है। समासान्त वाक्यावली में जहाँ अनुप्रास एक बोझ, उलझन और बनावट मालूम होता है, इसमें स्वाभाविक सौंदर्य और श्रुतिमधुर संगीत-स्वर बन जाता है।

'इस अभागे आँगन को हमने चन्द्रज्योत्स्ना की धवल धारा से धोकर स्फटिक-सा शुभ्र बना दिया था।' 'यह विप्लव वेला है।' 'वज्रोपम वक्षस्थल पर विप्लव की रेखाएँ खचित हो गई हैं।'—में अनुप्रास एक शोभा बन गया है। नहीं लगता, इसे बलात जमाया या बैठाया गया है। जहाँ उर्दू के शब्दों का भी स्वागत हुआ है, वहाँ भाषा और भी सादी, भोली और सरल हो गई है। वाक्य भी अत्यन्त छोटे हैं। उर्दू का स्वागत अधिकतर सूफ़ी ढँग के प्रेम-प्रकाशन की स्थिति में या

प्रसंगवश किसी उर्दू या फ़ारसी की काव्योक्ति उद्धृत करने में ही हुआ है। ऐसे अवसरों पर भाषा में चपलता, संक्षिप्तता, बारीकी और संवादात्मकता आ गई है।

"इस अभागे आँगन को हमने, चन्द्र-ज्योत्सना की धवल धारा से धोकर, स्फटिक-सा शुभ्र बना दिया था। यहाँ हम कभी-कभी नवविकसित कुसुम-कलियों की मालाएँ गूँथ-गूँथकर पहनते थे, कभी ओस की तरल बूँदों को कमल-तंतुओं में पिरो-पिरोकर अपनी उलझी हुई अलकों पर लटका देते थे, कभी स्मित चन्द्र-बिंब की गेंद बनाकर उछालते थे; कभी प्रभात-समीर के हल्के हिंडोले पर झूला करते थे और कभी अन्तर्वीणा के मधुर स्वर में मुक्त गीत गाते थे। उस समय हमारी वज्र भुजाओं में अखण्ड पराक्रम भरा था। विकसित मुख-कमल पर अक्षत पराग छलकता था। सरस हृदय से सद्भावों का स्रोत उमड़ता था और बड़े-बड़े नेत्रों में अग्नि-शिखा प्रज्वलित रहती थी। हम ऐसे खिलाड़ी थे कि हमने इस अनन्त विश्व को ही एक खिलवाड़-सा समझ रक्खा था। पर कौन जानता था कि यह आकस्मिक प्रवेश हमारे इस आँगन को अपवित्र और कलुषित कर देगा; तुम हमारा खेल देखने आये थे। अच्छा खेल देखा। आज न यहाँ वह प्राकृतिक छटा है न कल्लोल की वह वह स्वाभाविक स्वच्छन्दता !······ इतने पर तुम यह घोषणा करते फिरते हो कि तुम्हें स्वावलम्बन और स्वतन्त्रता का पाठ पढ़ाने आये हैं।"

—'कैसे आ गये'

"तू कैसा महाभारतीय सैनिक है ! पड़े-पड़े कैसे काम चलेगा ? उठ, आँख खोल, देख, युद्धारम्भ होने ही वाला है। यह विप्लव-वेला है। क्रान्ति की काली-काली घटाएँ घिरने लगी हैं। कैसा विकराल वातावरण है। दनुज-दल-मर्दिनी रणचण्डी समर-भूमि पर ताण्डव-नृत्य करने जा रही है। क्या तुझे उसके लोक-प्रकंपक नूपुरों का छमछम शब्द सुनाई नहीं देता ? उद्भ्रान्त दिशाएँ थरथर काँप रही हैं। ब्रह्माण्ड विक्षिप्त हो उठा है। समस्त जीव-जन्तु त्रस्त हो रहे हैं। प्रशान्त नभोमण्डल के वज्रोपम वक्षस्थल पर विप्लव की रेखाएँ खचित हो गई हैं। थोड़ी ही देर में तेरे आस-पास नंगी तलवारें बिजली की तरह चमकने लगेंगी। सुना है, उन तलवारों पर पददलित दुर्बलों के गर्म आँसुओं का विषाक्त पानी चढ़ाया गया है। ओह ! कितनी भीषण तोपें गम्भीर गर्जना कर धधकते हुए गोले उगलेंगी, उनका ब्रह्माण्डभेदी शब्द असहाय दीनों के आर्तनाद का रूपान्तर होगा। तेरे देखते ही देखते अग्नि-गर्भ पर्वतों का निर्माण प्राणावशेष पीड़ित अस्थिकंकालों को धुआँधार आहों से हुआ है, कुसुम कलिका से वज्रोत्पत्ति होगी।" —'आँख खोल'

दोनों अवतरण वियोगीहरिजी की अछूती और स्वच्छ भाषा के नमूने उपस्थित करते हैं। पहले अवतरण में भावुकतापूर्ण स्थिति होने से काव्यात्मकता

अधिक—शैली में रंगीनी और चमक है। शैली को आवेग में नहीं ले सकते, प्रसाद ही इसे माना जायगा। भावों की विषदता और अनुभूति की गहनता भी पर्याप्त मात्रा में इसमें मिलती है। अर्थव्याप्ति और विस्तार भी है। दोनों अवतरणों से स्पष्ट है, विषयानुसार उपयुक्त, प्रभावशाली, सार्थक सशक्त भाषा यह लिख सकते हैं। 'कैसे आगये ?' में देश की ममता अधिक है, भाषा काव्यमय ममतापूर्ण और कोमल है। 'आँख खोल' में देश की स्वाधीनता का शंखनाद है—देश की जवानी को जगाया जा रहा है। भाषा में पौरुष-गुण आ ही जायगा। इसमें स्वर भी बदल गया है। 'दनुज-दल-मर्दिनी रणचण्डी समर-भूमि पर ताण्डव-नृत्य करने जा रही है।' 'प्रशान्त नभोमण्डल के वज्रोपम वक्षस्थल पर विप्लव की रेखाएँ खचित हो गई हैं।'—में रौद्र रस की अभिव्यक्ति है।

मिश्रित भाषा का एक उदाहरण—

"वह प्यारे राम की विरहिणी है। उस प्यारे के दीदार की ही उसे चाह है। वह एक प्यासा पपीहा है। वह दरद-रँगीली दीवानी है व्यथा कैसे कहे, गला भर आया है, आँखों से झरने झरते हैं। दिन-रात बेचारी तड़पती ही रहती है, अरे, वह तो पगली है, पगली ! ऐसी पगली कि उसके पागलपन का भेद ही आज तक किसी को नहीं मिला। उस दीवानी के दिल में एक आग बल रही है, जिगर जल रहा है, कलेजे के अन्दर छेद ही छेद हो गये हैं, जाप करती है, तो प्यारे का और ध्यान धरती है, तो प्यारे का। उस विरहिणी का जीव आज उसका प्रियतम हो रहा है, और उसका प्रियतम हो गया है उसका जीव। उस पर प्यारे की छाया पड़ रही है और प्यारे पर जीव की झाँई झलक रही है। 'जीव और पीव' में कैसा ग़जब का तादात्म्य हुआ है।"

—'प्रेम और विरह'

'प्रेम और विरह' से उद्धृत अवतरण में भाषा की स्वच्छता और भावों का भोलापन है। वाक्य भी सरल, छोटे और सम्बद्ध। शैली में 'प्रलाप' का प्रभाव है— इसे पूर्ण रूप से प्रलाप-शैली के भीतर नहीं लिया जा सकता। यह प्रसाद-शैली है, पर गति इसमें है प्रलाप की।

इनकी रचनाओं में शैली-सम्बन्धी और भी विशेषताएँ हैं। सशक्त, गति-शील, प्राणवान, अपनी-सी परिचित बनाने के लिए यह उसमें कहीं-कहीं तो आरम्भ में ही पाठक से बातचीत आरम्भ कर देते हैं; कहीं नाटकीय कथोपकथन की चपलता, चुस्ती और संक्षिप्तता भर देते हैं। इससे रोचकता और रमणीयता बढ़ जाती है। वाक्य-विन्यास में भी उलट-फेर कर देते हैं—व्याकरण के आदेश की पूर्ण उपेक्षा। कहीं क्रिया पहले तो कर्त्ता और कर्म बाद में, कहीं कर्म पहले तो कर्त्ता बाद में। इससे

भाषा में चमत्कार आ जाता है। 'आँखों को घर गिनाया है इन्द्रियों में।' 'खूब बहला सकता है इन खिलौनों से वह पागल, अपना मचला हुआ दिल।' 'चाहता क्या है ?' 'उसके पास आज वे मन बहलाने की चीज़ें हैं कहाँ ?'—इस प्रकार के उलट-फेर से भाषा-सौन्दर्य बढ़ा ही है।

इनकी रचनाओं में प्रसाद, समास, आवेग—तीनों शैलियाँ मिलती हैं। भाषा भी दो प्रकार की, समासात्मक संस्कृत-गुम्फित और सरल सुबोध प्रसादपूर्ण। पर दूसरी भाषा ही इनका प्रतिनिधित्व करती है। इनकी रचनाओं में अध्यात्म की प्रधानता है, पर वह जीवन और समाज की उपेक्षा नहीं करते। उनकी भक्ति उनको वास्तविकता के प्रति उदासीन या अनजान नहीं बना पाती। पाखण्डपूर्ण अध्यात्म और निष्क्रिय भक्ति के प्रति उनकी वाणी में करारा व्यंग्य बोलता है।

७

राय कृष्णदास

'प्रसाद' से प्रभावित भाव-प्रधान गद्य-रचना-क्षेत्र में राय कृष्णदास भी प्रमुख हैं। इन्होंने 'साधना' और 'प्रवाल' में एक निराली गद्य-शैली का रूप उपस्थित किया। वियोगीहरि के समान इनकी रचनाएँ भी भावात्मक निबन्ध की संज्ञा पाती हैं। शुद्ध निबन्ध-कोटि में इनकी रचनाएँ भी कम हैं, तो भी इनकी समीक्षा निबन्ध के अन्तर्गत ही होनी ठीक है। इनके अनेक गद्य-गीत भावात्मक निबन्ध के बहुत-कुछ निकट पहुँचते हैं। इन निबन्धों में परोक्ष सत्ता के प्रति भावुक हृदय की सुकुमार रागात्मक अनुभूति प्रकट की गई है। 'साधना' में प्रेम और श्रद्धा के मनोहर चित्र हैं—इसमें भक्ति की विह्वल मंदाकिनी बहती है। 'प्रवाल' में शिशु-भावना की विस्मय-उल्लास और आश्चर्य-जिज्ञासा की प्रधानता है—वात्सल्य के मधुर और प्यारे चित्र इसमें मिलेंगे।

एक-एक गद्य-खण्ड मानस में बताब होते भाव-सागर में करवटें लेने वाली रसानुभूति की चंचल लहर है। सूझ के पंखों पर कल्पना उड़ती है, और वह अनजाने लोक को गीतों में बाँधने की चेष्टा करती है। ऐसे भावात्मक गद्य-खण्डों में कल्पना ही आधार-शिला होती है, जिस पर भावना का भव्य और सुकुमार प्रासाद अनुभूतियों की रगीनियों में नहाता हुआ मुस्कराता है।

परोक्ष प्रियतम के प्रति आत्मनिवेदन, अनुरोध, समर्पण, अनुग्रह-याचना या रस-भावना प्रकट करने के लिए प्रतीकों का आश्रय लेना पड़ता है। गुह्य या रहस्य के प्रति उल्लास-उत्कण्ठा, वेदना-विह्वलता, उपालम्भ-कृतज्ञता के प्रकाशन में इसलिए कभी-कभी दुरूहता, अस्पष्टता या अपूर्णता भी आ जाती है। प्रतीकात्मक सांकेतिकता इनकी रचनाओं में भी है; पर अस्पष्टता और दुरूहता से राय महोदय सफलता-पूर्वक बचे हैं। भावनाएँ अत्यन्त भोली और कहने का ढँग भी बहुत सरल। अनुभूतियों की ईमानदारी आपकी रचनाओं में है—यही सबसे बड़ा अवलम्ब है। इसी के सहारे वह अपना हृदय स्वाभाविकता, सरलता, स्पष्टता से खोलकर रख सके हैं। भाषा-भाव, अभिव्यंजना—सभी में वह कृत्रिमता से बचे हैं। सादगी का ध्यान बहुत अधिक रखा गया है, यहाँ तक कि सादगी कहीं-कहीं पर रंगीनी और चमक का अभाव बन गई। कला की खटकने वाली कमी आ गई हैं, गद्यात्मकता बढ़ गई है—विरसता भी उभरने लगी है। वाक्यों में न कहीं उलझन, न स्थूलता। भाषा में वक्रता कहीं नहीं, इसलिए कला-चमत्कार बहुत ही कम रह गया। लाक्षणिकता अवश्य शैली की

एक शक्ति है; पर व्यंजना तलाश करने पर शायद ही मिले। न तो इनमें वियोगी हरि की भाषा के समान आवेग है, न माखनलाल के समान वक्रता, चमत्कार, कसाव या अस्पष्टता। प्रसाद-गुण सर्वोपरि भाषा का व्यावहारिक रूप ही प्रधान है। भाषा को हाट-बाज़ार, घाट-बाट के निकट लाया गया है। तत्समता का प्रभाव बहुत ही कम देखने में आता है। उर्दू के शब्द भी सम्मान से सजे हैं। स्थानीय और तद्भव शब्द भी अपना अधिकार-उपयोग करते दीखते हैं। स्थानीय घरू शब्दों ने भाषा-शैली को एक विशेष मिठास ही नहीं दिया, ममतापूर्ण भी बना दिया है।

'छककर', 'कलपते हुए', 'बिलखाना', 'अचरज', 'बगराना', 'धुन', 'अवसत', 'कुघरता', 'काँदना', 'सो', 'औचक', 'सौंधे', 'लौ', 'ढड्ढा', स्थानीय देशज शब्द भी मिलते हैं और 'बदौलत', 'सामना', 'फैसला', 'जगह', 'सवार' 'मस्त', 'आतिशबाज़ी', 'जकात', 'ज़ोर', 'वसूल', 'मस्त', उर्दू शब्द भी। राय अवतरणों का प्रयोग भी करते हैं— 'चरै हरिततृन बलि-पशु जैसे', 'रामभरोसे जो रहे, जंगल में हरियाय', मुहावरों की ओर भी झुकाव है। अनेक उर्दू मुहावरों का तो आपने हिन्दी-अनुवाद करके ही रख दिया है। उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक के सुन्दर और सार्थक प्रयोग भी हैं। शैली में प्रसादात्मक आवेग या प्रवाह मिलेगा, प्रलाप कम। भावाभिव्यंजना की स्पष्टता के लिए चित्रात्मकता का सहारा भी आप लेते हैं—

"सारा कानन चित्र-विचित्र कुसुम और पल्लवों से सज उठा है। हुलसी भ्रमरावली फूल-डोल पर पेंगें ले रही हैं। सुमन उसके कपोलों पर पराग का गुलाल पोत रहे हैं, मधु पिला रहे हैं, वह छककर मौज के गीत गा रही हैं। पल्लव कर-ताल दे रहे हैं। भावुक चपल पवन लतिकाओं से छेड़-छाड़ कर रहा है, उन्हें गुदगुदा रहा है—झकझोर रहा है। वे खिलकर हँस के फूलों की झड़ी लगा रही हैं।"

भाव, भाषा, शैली के लिए नीचे दिये अवतरण देखें—

"हे नयन-रंजन नीरद, तू संतप्तों को शीतल करने के लिए अपने आपको बरसा देता है। यह तन की साधना मैं तुझ से सीखता हूँ।"

"हे मानस, तू निरन्तर मोती के समान उज्ज्वल, निर्मल और रम्य तरंगें उठाया करता है, जिनके सुख में मग्न होकर सुवर्ण सरोज झूमा करते हैं और निरंतर मकरन्द दान देते रहते हैं तू उसे सादर ग्रहण करके फिर उन्हीं के समूल नाल पुष्ट करने में प्रयुक्त करता है। जब समस्त सर पंकिल और राजहंस विकल हो उठते हैं, तब उन्हें तेरे सिवा कौन आश्रय दे सकता है ? यह मानसी साधना मैं तुझ से सीखता हूँ।

"हे पादप, फलों के बोझ से तू झुक जाता है और तेरी डालें टूटने-सी लगती हैं। पर तू अपना नियम नहीं छोड़ता। क्योंकि बुभुक्षितों को तृप्त करके उनकी आँखें

खोलना तेरा प्रण है। बुद्धि की सफलता भी यही है। और, इसे मैं तुझसे सीखता हूँ।"

"चातक, तू अपनी ज्वलन्त कामनाओं को सब ओर से एकत्र करके एक स्वाति की बूँद पर लगाता है और तू अपनी धुन का इतना पक्का है कि साल भर उसी की रट लगाए रहता है और उसी एक बूँद से अमृत-पान के समान छक जाता है। तेरी उस पर इतनी अनुरागमयी प्रबल कामना है कि तू उसमें मिलकर अपने अहंभाव का अभाव नहीं कर देता। वरन केवल इसीलिए आत्मभाव बनाए रखता है कि निरन्तर उसकी आशा और लाभ के आनन्द का सुख लूटा करे। यह अहंभावमयी कामना की साधना मैं तुझ से सीखता हूँ।

और मेरी इन सब साधनाओं का उद्देश्य क्या है ? एक मात्र यही कि मैं प्राणेश को सिद्ध कर लूँ।"

—'साधना', पृष्ठ १०-११

"कौन कहता है कि संगीत अस्थायी कला है देखो तो, अनन्त में तुम्हारा प्रत्येक स्वर निरन्तर लहरा रहा है। पत्ता-पत्ता उसे ताल दे रहा है।

तुम्हारे विश्व के किसी भी अंश में यदि किसी समय ताल-स्वर और नृत्य, देखने में बन्द हो जाता है, तो वह अंश मृत समझा जाता है। भला तुम्हारे इस सरल संगीत बिना यह विराट् साम्राज्य चल कैसे सकता है ?

तुम मुझ से कहते हो कि मैं तुम्हारे गान पर विह्वल और विमुग्ध न होऊँ। यह कैसे हो सकता है ?

इस एकान्त सघन कुंज में तुम गा रहे हो। चारों ओर सरोवर में कमल फूल रहे हैं। गुलाब की क्यारियाँ खिली हुई हैं। बीच-बीच में प्रफुल्ल बेले की बल्लियाँ हैं मानो नवेली प्रकृति के सीधे ओठों में दशन-पंक्ति दमक रही है। भ्रमर मँडरा रहे हैं। परन्तु सब स्तब्ध हैं। तुम्हारे गान के जादू ने उन्हें मोहित कर रखा है।

पर मैं ही शान्त नहीं हूँ। शान्त कैसे रहूँ ? न जाने कैसे तुम मेरी हृदय-गाथा जान गये हो और उसी को गा रहे हो। मेरा मन तो मरोर-मरोर उठता है। फिर मैं विह्वल और विमुग्ध कैसे न होऊँ ?

आज मेरे अहोभाग्य हैं। तुम्हारे गान की बदौलत मेरी हृदय-गाथा अनन्त में निरन्तरता और नित्यता पा रही है।

प्राणेश, तुम मेरे हृदय की समस्त गाथा इसी प्रकार गा डालो।"

—'साधना', पृष्ठ ६८

८

वासुदेवशरण अग्रवाल

अतीत के मंथन से, नवीन जीवन-रस निकाल, उसे वर्तमान को पिलाने की सजग चेष्टा अग्रवालजी के निबन्धों में मिलती है। प्राचीन की बुनियाद पर नवीन का भव्य निर्माण करने का प्रयत्न आपकी रचनाओं में है। भारतीय इतिहास, पुरातत्त्व, साहित्य, दर्शन, कला, संस्कृति का आपने गहन अध्ययन किया है। और उनकी आप ऐसी बोधगम्य, बुद्धिसम्मत वैज्ञानिक और व्यावहारिक व्याख्या करते हैं, कि अतीत के प्रति मन आस्थावान होता है, वर्तमान के प्रति सजग-सचेष्ट और भविष्य के प्रति विश्वस्त। आपकी निबन्ध-पुस्तकें—'कला और संस्कृति', 'पृथ्वी-पुत्र'—साहित्य की शोभा और समृद्धि हैं।

अग्रवालजी सच्चे अर्थों में भारतीय हैं। भारतीय धरती से आपको अगाध ममता है—भारतीय संस्कृति से सक्रिय मोह। 'पृथ्वी-पुत्र' में धरती, कला और संस्कृति के सम्बन्ध की विवेचना की गई है। भारतीय धरती के विषय में बोलते हैं तो ऐसे ममतालु आवेग, ऐसे भावोच्छ्वास, ऐसे श्रद्धा-गदगद हृदय से जैसे पुत्र माँ के विषय में। आपका निश्छल विश्वास और निश्छल आस्था है कि भारतीय धरती में अनन्त प्रेरणा है—अखण्ड पथ-प्रकाश है। कलाकारों से आप साधिकार माँग करते हैं, "विदेशी विचारों को मस्तिष्क में भरकर उन्हें अधपके ही बाहर उँडेल देने से किसी साहित्य का लेखक लोक में चिर-जीवन नहीं पा सकता। हिन्दी-साहित्यकारों को अपनी खूराक भारत की सांस्कृतिक और प्राकृतिक भूमि से प्राप्त करनी चाहिए।"

—'पृथ्वी-पुत्र', पृष्ठ १

लोक और लेखक की खाई भी आप पार देना चाहते हैं। 'लोक और लेखक में गहरी खाई बन गई है', इस स्थिति से आपका मन व्यथित होता है।

'कला और संस्कृति' में जहाँ मनु, वाल्मीकि, व्यास आदि प्राचीन कवि, विचारक, समाज-व्यवस्थापक और चिन्तकों के विषय में विचारात्मक निबन्ध हैं, वर्तमान युग के आनन्दकुमार स्वामी, चित्राचार्य अवनीन्द्र, नन्दलाल और यामिनीराय के प्रति भी आप सजग हैं। आधुनिक कलाकारों के प्रति भी आपने अपना सांस्कृतिक उत्तरदायित्व निभाया। व्यक्ति का चित्रण करते हुए आप व्यक्ति के कलाकार का विवेचन भी करते जाते हैं, इसीलिए ये रचनाएँ भी जीवन-चित्रण नहीं, निबन्ध-कोटि में

आती हैं। यामिनीराय के विषय में आप लिखते हैं—"मैं समझता था कि यामिनीराय ने अपने चित्र का रूप विधान विदेश से लिया होगा और वे उसे अंधाधुँध दोहराकर जनता पर थोप देना चाहते हैं। मेरी यह धारणा भ्रान्त निकली। उनके चित्रों के रूप और भावों के रूप भारतीय धरती की देन हैं। उनकी कला मन की भूमि से स्वाभाविक रूप से जन्मी और संवर्धित हुई है।"

—'कला और संस्कृति', पृष्ठ २९८

पौराणिक गाथाओं और घटनाओं की व्याख्या आप बहुत सुन्दर और नवीनतम ढँग से करते हैं। प्राचीन साहित्य में, जो मानव-जीवन के लिए लाभकारी तत्त्व हैं, उसका उद्घाटन आपने अत्यन्त सरल-सुबोध शैली में किया है। 'कला और संस्कृति' में संकलित 'कल्पवृक्ष' से आपकी प्रौढ़ और तीक्ष्ण प्रतिभा का पता चलता है। 'समुद्रमंथन', 'कल्पवृक्ष', 'शिव-संकल्प (विषपान)' की आपने मनोवैज्ञानिक समीक्षा की है। 'शिव का स्वरूप' नामक लेख में आपने मानव के शिवरूप का विवेचन किया है। ऐसी बुद्धिसम्मत, हृदयग्राह्य, वैज्ञानिक जीवनप्रद समीक्षाएँ भारतीय संस्कृति को गौरवान्वित ही नहीं करतीं, उन्हें वर्तमान की परख पर खरा उतारने म भी सहायक होती हैं। प्राचीन के पगों में नई गति देती हैं।

"रेत एक प्रकार की शक्ति है। उसके दो स्वरूप हैं, एक दैवी, दूसरा आसुरी जल के भी दो नाम प्राचीन निरुक्तों में बहुत महत्त्वपूर्ण हैं—एक अमृत, दूसरा विष। जल ही अमृत और जल ही विष है! जल से उत्पन्न सात्विक शक्ति अमृत है! उसी का तामसी रूप विष हो जाता है। अमृत को देवता और असुर सब चाहते हैं। पर दैवी विधान यही है कि केवल देवता अमृत पी सकतेहैं, असुर नहीं! परन्तु इससे पूर्व कि देवों को अमृत मिल सके, यह आवश्यक है कि कोई कालकूट को अपने शरीर में पचा ले। शिव योगिराज हैं। वही विष अर्थात रेत तत्त्व की तामसी वृत्तियों का दमन कर सकते हैं। शिव कौन हैं और क्यों उन्होंने विष को कण्ठ में ही स्थापित किया, इसका उत्तर योग-शास्त्र की दृष्टि से हम 'शिव का स्वरूप' नामक अपने पृथक लेख में दे चुके हैं। यहाँ इतना ही स्मरण रखना चाहिए कि पुरुष रूपी समुद्र-मथंन में रेत या जल के मंथन से मनुष्य के शरीर में ही विष और अमृत दोनों भिन्न तत्त्व उत्पन्न होते हैं।"

—'कला और संस्कृति', पृष्ठ १७६

संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित और प्राचीन संस्कृति और साहित्य के एकनिष्ठ उनयायक होते हुए भी आपकी शैली में सरलता, सादगी और भोलापन है। न पण्डिता-ऊपन, न पाण्डित्य का आतंक; न भाषा-शैली में संस्कृत की समासात्मकता, न दुरूहता-दुर्बोधता। भावों को प्रकाशित करने वाली सार्थक और उपयुक्त शब्दावली, छोटे-छोटे

सरल अमिश्र वाक्य और स्वच्छ शुद्ध भाषा। थोड़े-से शब्दों में अधिकतम बात कहने की शक्ति, पर उलझन या दुर्बोधता कभी नहीं आने पाती। दैनिक जीवन के परिचय में रहने वाले उपमानों का सहारा ले दुरूह भाव या विचार को भी सुबोध बना देते हैं। भाषा-शैली के लिए निम्न उद्धरण देखें—

"शब्द है और शब्द के पीछे उसका सत्य स्वरूप अर्थ है। केवल शब्द रटो, अल्प फल है। शब्द के साथ उसके अर्थ से टक्कर लेने का ऋजु प्रयत्न करो, महती समप्राप्ति है। उससे इसका अनुभव होगा। इसका स्वाद लेना योग है। रस योगियों का याम है। योगी अर्थ के साथ जूझते हैं पण्डित शब्दार्थ के साथ। इसलिए पण्डित के भाग में तत्त्व ही आया। योगी रस पी रहे हैं, पण्डित छाछ पीकर रह गये। पण्डित के सामने शब्द आया—'साविता।' शब्द की बाहरी परिधि में घूमघामकर पण्डित ने सन्तोष माना। सविता कहाँ है? क्या है? इस अर्थ को जिसने जाना, वह योग की ओर बढ़ा। मन को अर्थ के साथ बार-बार टकराओ। बिजली की परस्पर चटचटाती हुई ऋणधन जिह्वाओं की तरह शब्द को अर्थ की सन्निधि में लाकर स्फुरित करो। वहीं अमृत स्वाद रस और आनन्द है।

शब्द ईंधन की तरह भारी है। अर्थ अग्नि के समान, फूल की तरह हलका। शब्द पृथ्वी की ओर गिरता है, अर्थ आकाश की ओर उड़कर तैरता है। शब्द भूमि का सरीसृप है, अर्थ आकाश का व्योमचारी गरुड़ है। शब्द परिमित, अर्थ अपरिमित है। शब्द मूर्त्त, अर्थ अमूर्त्त है। शब्द निरुक्त, अर्थ अनिरुक्त है। शब्द कहने में आ गया, अर्थ कथन से परे अनुभव या दर्शन चाहता है। शब्द जब अर्थ की ज्योति से चमकता है, तब उसके सान्निध्य में अर्थ की धाराएँ छूटती हैं। जन्म भर शब्द की सेवा की तो 'डुकृञ करणे' ही हाथ रहा। एक मुहूर्त के लिए भी अर्थ का दर्शन मिल गया तो जन्म-जन्म के कलमष भक् से उड़ गये।

—कला और संस्कृति'; पृष्ठ १८६

अग्रवालजी की भाषा तत्सम की ओर अधिक झुकी है। पर उसमें तत्समता की जराजीर्णता नहीं, सबल प्रौढ़ता है। उसमें प्रयत्नशीलता नहीं, स्वाभाविकता है। भाषा पर उनका आत्मीय अधिकार है। अभिव्यंजना के लिए उपयुक्ततम शब्द का सम्मान इनकी भाषा में मिलेगा। अनेक शब्द अपनी सांस्कृतिक सम्पन्नता और ऐतिहासिक सजीवता के साथ अपने प्राचीन रूप में विद्यमान रहते हैं। और वे ऐसे फिट होकर बैठते हैं, निकल जाने से साफ़ दराड़ दीखने लगती है। अपनी बात के समर्थन और स्पष्टीकरण के लिए आप संस्कृत के उद्धरण भी देते चलते हैं—कहीं-कहीं ये अनावश्यक भी हो जाते हैं। भाषा का आग्रह विशुद्धतावाद की ओर है; पर बोलचाल में स्वीकृत पराये शब्दों का कठोर बहिष्कार या तिरस्कार नहीं।

'पीढ़ी-दर-पीढ़ी' 'सुध', 'हज़ारों-लाखों', 'मस्त', 'आदमी', 'जिरहबख्तर', 'हथियार', 'शब्दों का टोटा', भी खोजने से मिल जाते हैं।

समान, सम्बद्ध या विपरीत पदार्थों, विचारों या भावों को साथ-साथ तुलना में बैठाकर अन्तर और आशय की रेखाएँ स्पष्ट करते हैं। 'शब्द परिमित, अर्थ अपरिमित हैं। शब्द मूर्त्त, अर्थ अमूर्त्त है। शब्द निरुक्त, अर्थ अनिरुक्त है। शब्द कहने में आ गया, अर्थ कथन से परे अनुभव या दर्शन चाहता है। शब्द जब अर्थ की ज्योति से चमकता है, तब उसके सान्निध्य में अर्थ की धाराएँ छूटती हैं।' में शब्द और अर्थ का सच्चा स्वरूप सामने आता है।

शैली प्रसादात्मक अधिक है। बात समझाने का ढँग अत्यन्त बोधगम्य और प्रभावशाली है। वाक्य सरल, सीधे, अमिश्र और अभिधात्मक हैं। कहीं-कहीं विवेचनात्मक पद्धति के दर्शन भी होते हैं; पर बहुत कम। समस्त को सामने रखें, तो इनकी शैली प्रसादात्मक ही कहलायगी। शैली में गहनता, गठन और सबलता है—कसाव भी उपयुक्त मात्रा में है, ढीलापन या शिथिलता कहीं नहीं। कहीं-कहीं अभिव्यंजना में सूत्रात्मकता भी मिलती है।

भाषा-शैली, भाव-सम्पन्नता, विचार-गाम्भीर्य और सरल-मधुर अभिव्यंजना की दृष्टि से सचमुच, अग्रवालजी ऐसे चिन्तनशील, सजग विद्वान लेखक हिन्दी निबन्ध-साहित्य में बहुत बड़े अभाव की पूर्ति करते हैं।

६

शान्तिप्रिय द्विवेदी

छायावादी युग की भावुकता से सम्पन्न शान्तिप्रियजी प्रसिद्ध आलोचक हैं। 'संचारिणी', 'सामयिकी', 'पथ-चिह्न', 'युग और साहित्य', 'धरातल' 'परिव्राजक की प्रजा' 'आपकी प्रसिद्ध रचनाएँ हैं। 'पथ-चिह्न'. 'परिव्राजक की प्रजा' और 'धरातल', में आप निबन्धकार के रूप में आते हैं। छायावाद के यौवन-युग में आपके साहित्य-विकास की यात्रा आरम्भ हुई—उसी युग के सभी प्रभाव आपके लिए पाथेय बने। युग की कला-सम्बन्धी आस्थाओं ने आपके आलोचक और निबन्धकार को प्रभावित ही नहीं, नियमित किया। समीक्षा इतनी स्पष्ट, विश्लेषणात्मक और बोधगम्य नहीं, जितनी वह रंगीन, मधुर और संगीतमय है। "महादेवी ने यदि आँसुओं की आर्द्रता में चन्दन को सुवासित कर दिया, तो रामकुमार और 'नवीन' ने आँसुओं में अबीर घोलकर आँसुओं को और भी रंगीन बना दिया।" ऐसी फुलझड़ियाँ इनके समीक्षा-लेखों में मिलेंगी। यह आलोचना नहीं; भाषा का मदारीपन है।

विचारात्मक और भावात्मक—दोनों ही प्रकार के निबन्ध आपने लिखे। गाँधीवादी नैतिकता, छायावादी कला, भारतीय अध्यात्म आदि के मिश्रण से आपके चिन्तक स्वरूप को आकार मिला है। 'धरातल' में आपने अपने को समाजवादी आर्थिकवाद का समर्थक घोषित किया। निबन्धकार का निखरा रूप इसमें आया है। चिन्तन सजग है, यथार्थ जीवन की परख के लिए नवीन दृष्टि भी पाई लगती है, पर गाँधीवादी नैतिकता ही नहीं, आर्थिक दर्शन और छायावादी कला और अभिव्यंजना का आतंक आपकी कलम को निर्देश करता है। निबन्धों में स्पष्टता, स्वच्छता, सरलता और प्रसादात्मकता नहीं, उलझन और घुमाव-फिराव है। कई बार तो पाठक को वह मिलता नहीं, जो सम्भवतः आप देना चाहते हैं। आर्थिक दर्शन, समाज-निर्माण, भौतिक अभाव या उनकी पूर्ति की जब बात कही जाती है, तो भाषा की काव्यमयता, रंगीनी या बाज़ीगरी आड़े आती है। पाठक का मस्तिष्क किसी नवीन विचार-परम्परा-पथ पर नहीं दौड़ता, भाषा के चमन में उलझ जाता है।

"आधुनिक विज्ञान शरीर है, आत्मा नहीं। उसमें प्रकृति का वाह्य करण है, स्पन्दन नहीं। धार्मिक युगों में विज्ञान अन्तःकरण के योग से प्रज्ञान बन गया है। पंचभूतों में बँधा शरीर जैसे प्राण के बिना निर्जीव है, वैसे प्रज्ञान के बिना विज्ञान। आधुनिक विज्ञान में प्रकृति का जड़ उपयोग है, धार्मिक प्रज्ञान में उसका सचेतन

सहयोग। इसीलिए मेघ, मरुत, खग, पुष्प, सूर्य, चन्द्र इन सबकी अर्चना-बन्दना सजीव रूप में की गई है।"

इस अवतरण का अर्थ विज्ञान के क्षेत्र में कुछ भी नहीं निकलता। विज्ञान का अर्थ जो सामान्य रूप से लिया जाता है, उसी रूप में लेना चाहिए। मेघ, मरुत, खग, पुष्प, सूर्य, चन्द्र—इन सबकी अर्चना-वन्दना सजीव रूप में भी की गई तो इससे मनुष्य ने प्रकृति की चेतना-शक्ति का उपयोग और उपभोग क्या किया? इनके विचारात्मक निबन्धों में अनेक स्थल ऐसे हैं, जहाँ न तो विचारों की सफ़ाई, न नवीन प्रेरणा—शैली दोनों को दबा लेती है।

साहित्य-समीक्षक के रूप में आपने अनेक प्रबन्ध लिखे हैं—कछ निबन्ध की कोटि में भी आते हैं। विशेषकर 'धरातल' के आलोचना-प्रबन्धों में निबन्धत्व काफ़ी है। 'तुलसीदास का सामाजिक आदर्श' और 'सूरदास की काव्य-साधना' में आपका निबन्धकार अधिक सजग और सशक्त है। एक विचारक के रूप में आपने मनुष्य की विभिन्न समस्याओं का विवेचन और विश्लेषण ही नहीं किया, उनका हल भी बताने का प्रयत्न किया है। 'रोटी और सेक्स' जीवन की बहुत बड़ी समस्या है, इस पर भी आपकी दृष्टि गई। 'साइकिल, रिक्शा और एक्का' और 'किसान और मज़दूर' में वर्तमान पूंजीवादी व्यवस्था के भीषण अभिशाप की ओर संकेत है—व्यंग्य भी है। साम्प्रदायिकता और ब्लैक मार्केट—वर्तमान भारतीय सामाजिक जीवन के कलंक—आदि पर भी प्रकाश डाला गया है।

भाषा-विधान आपका तत्सम-सम्पन्न है। व्यावहारिक भाषा की झलक आपकी भाषा में नहीं। हाट-बाजार, बाट-घाट की भाषा की तो बात ही क्या! शैली को भी आपके कवि से अधिक आदेश मिलता है, निबन्धकार बेचारा अपने अधिकार छिनते देख भी प्रयत्नशील तक नहीं। लच्छेदार काव्यात्मक भाषा, सुकुमार शब्दावली, भावोच्छ्वासों की रंगीनी—यह सब-कुछ आपकी शैली में मिलेंगी। समासात्मक पदावली शायद ही खोजे से मिले। वाक्यों में भी उलझन या मिश्रण नहीं—सब अपने में स्वतन्त्र। वैसे धीरे-धीरे आपकी भाषा व्यावहारिकता की ओर बढ़ी है। 'युग और साहित्य' में आपने भाषा का काफ़ी व्यावहारिक रूप अपनाया। बोलचाल के उर्दू-अंग्रेज़ी शब्दों का भी स्वागत किया गया है—

"आज जीवन दुष्काल-पीड़ित है, फलतः हम पग-पग पर अपनी आत्मा को कन्या-विक्रय की भाँति ही बेचकर किसी तरह गुज़र-बसर कर रहे हैं। सच तो यह है कि सम्पन्न वर्ग के पैशाचिक सुखों के लिए हम सभी का जीवन वेश्या बन गया है, सौन्दर्य बेचने वाली वेश्याएँ तो हमारी ढँकी हुई सामाजिक परिस्थितियों की बाहरी साइनबोर्ड मात्र हैं। अब तक का सामाजिक और राजनीतिक इतिहास

युगों की हमारी कुरूपता का अलबम है। परिस्थितियों के स्पष्टीकरण के लिए मोटी-मोटी पोथियों और बड़ी-बड़ी गवेषणाओं की उतनी ज़रूरत नहीं है, जितनी अपने सामने के साक्षात दृष्टान्तों को देख लेने की।"

—'युग और साहित्य', पृष्ठ २६

कहीं-कहीं आप खुले रूप में अंग्रेज़ी शब्दों का प्रयोग भी करते हैं—

'रियलिज़्म', 'रोमांटिसिज़्म', 'आइडियलिज़्म' 'मिस्टिसिज़्म', 'हेलेनिज़्म', 'सोशलिस्टिक', 'सब्जेक्टिव', 'ऑबजेक्टिव', 'चांस', 'सबमेरीन', 'जूनियर', 'सीनियर', 'रोमैण्टिक रिवाइवल', 'क्लासिकल'—अंग्रेज़ी शब्दों के प्रयोग के विषय में आप 'युग और साहित्य' की 'अपनी बात' में कहते हैं,—"जब तक नये सिक्के (हिन्दी शब्द) नहीं बन जाते, मेरे जैसे निर्धनों को उन्हीं परिचित सिक्कों से काम चलाना पड़ेगा।" विदेशी सिक्कों से ज़्यादा काम चलाने से कभी-कभी विनिमय (Exchange) में बड़ा घाटा पड़ता है, पूरा मूल्य नहीं मिलता। और बैंक (Exchange Bank) तालाश करने और घण्टों क्यू में खड़े रहने की परेशानी—और साथियों के अनुग्रह का बोझ अलग उठाना पड़ता है। जिन सिक्कों के प्रयोग की बात आप कहते हैं, वे सभी हिन्दी की टकसाल में कभी के ढल चुके हैं। धड़ल्ले से उनमें भावनुकूल लेन-देन भी हो रहा है।

शैली इनकी विवेचना-प्रधान है। यद्यपि उनमें तर्क-युक्ति और प्रयोग-परिणाम आदि का वह रूप नहीं मिलता, जो अन्य हिन्दी-विचारात्मक निबन्धों में। कहीं-कहीं आचार्य शुक्ल की सूत्र-पद्धति का आभास भी मिल जाता है। 'एक शब्द में, रियलिज़्म रोमांटिसिज़्म की कसौटी है', 'विधि-निषेधों से बाँधकर जन समुदाय को अनुशासित पशु बनाया जा सकता है, मनुष्य नहीं' आदि उदाहरण-रूप में उपस्थित है। शैली के रूप में हमें जो रूप सबसे स्वच्छ, सरल और विकसित मालूम हुआ, उसमें से एक अवतरण नीचे दिया जाता है—

"जीवन के पथ में चलते-चलते बेचारा भूखा-प्यासा मनुष्य हो गया पंगु—हाथ-पाँव रहते हुए हो गया है, लँगड़ा-लूला। पूँजीवादी समाज में आज का अधिकांश मानव-समुदाय इसी तरह अपाहिज हो गया है, जिसे हम सभ्य भाषा में कहते हैं—बेकार या ग़रीब। पूँजीवादी सभ्यता एक ओर अपनी टकसालों में सिक्के ढाल रही है और दूसरी ओर यन्त्रों का निर्माण कर रही है। इस सभ्यता का निकल गया है दिवाला, इसीलिए यह चेतना की नहीं, जड़ता की प्रतिनिधि हो गई है। यह मनुष्य को पशु का और पशु को यन्त्र का स्थान दे रही है। रुपया, पैसा, सोना, चाँदी, ताँबा, लोहा, पत्थर, कंकड़ इन्हीं को लेकर पूँजीवादी सभ्यता चल रही है।

इन्हीं को लेकर वह जीवन का मूल्य लगाती है। जिनके पास यह सब कुछ है, वे हैं बैंकर या महाजन अर्थात् पूँजीवादी सभ्यता के सम्मानित स्तम्भ! जिनके पास इनमें से कुछ भी नहीं हैं, वे या तो रास्ते की धूल फाँकें या यन्त्रवाहक होकर अपनी बची-खुची ज़िन्दगी को धूल में मिला दें।"

—'धरातल', पृष्ठ २३

इसमें अपेक्षाकृत अधिक स्वच्छता, सरलता, शक्ति और स्पष्टता है। भाषा का चलता रूप भी इसमें है। रंगीनी, उलझन, खिलवाड़ कुछ भी नहीं। इसकी सबसे बड़ी सुन्दरता और शक्ति है—क्रिया के बाद कर्त्ता के विशेषण या कर्त्ता का आना। 'मनुष्य हो गया पंगु—हाथ-पाँव रहते हुए हो गया है लँगड़ा-लूला'; 'जिसे सभ्य भाषा में कहते हैं बेकार या ग़रीब'; 'इस सभ्यता का निकल गया है दिवाला'—में जो फोर्स है, वह 'मनुष्य पंगु हो गया।' 'हाथ-पाँव रहते हुए लँगड़ा-लूला हो गया है'; 'जिसे सभ्य भाषा में बेकार या ग़रीब कहते हैं', 'इस सभ्यता का दिवाला निकल गया है।' में कभी न आ सकता।

इन्होंने कुछ वैयक्तिक निबन्ध भी लिखे हैं। 'पथ-चिह्न' और 'परिव्राजक की प्रजा' ऐसे निबन्धों के संग्रह हैं। 'पथ-चिह्न' के प्रथम चारों निबन्ध इसी प्रकार में आयेंगे। ये लेखक की निजी जीवन-समस्याओं, भाव-अभावों और कौटुम्बिक व्यक्तियों—माता-पिता-बहन—के विषय में हैं। करुणा इनमें सर्वोपरि तत्त्व है। अपनी पूज्य बहन कल्पवती के विषय में वह लिखते हैं।

"छुटपन में ही वह विधवा हो गई थी। उस अबोध वय में उसने जाना ही नहीं कि उसके भाग्य-क्षितिज में क्या पट-परिवर्तन हो गया। जन्मकाल से माँ का जो अंचल उसके मस्तक पर फैला हुआ था, सयानी होने पर उसने वही अंचल अपने मस्तक पर ज्यों का त्यों पाया, मानो शैशव ही उसके जीवन में अक्षुण्ण हो गया। अचानक एक दिन जब वह अंचल भी मस्तक पर से छाया की तरह तिरोहित हो गया, तब उसके जीवन में मध्याह्न की प्रखर ज्वाला के सिवा और क्या शेष रह गया था।

एक दिन माँ की अन्तिम शैया के पास हृदय का बाँध तोड़कर उसके क्रन्दन का जो अविरल अश्रु-स्रोत उमड़ पड़ा था, उसी से अपने जीवन-पथ को सिक्त वह माँ के पथ-चिह्नों पर चलती रही। अपने मस्तक पर युगों का सन्ताप धारण कर और दुधमुँहे भाई के मस्तक पर माँ से पाया हुआ स्नेह-तरल अंचल फैलाकर वह महामरण की इस लीला-भूमि में जीवन का अलख जगाए रही।"

—'पथ-चिह्न', पृष्ठ ६

"ऋतुओं के साथ-साथ न जाने कितने पर्व-त्यौहार और सभा-समारोह आते हैं और चले जाते हैं। ये सब आज निष्प्राण और फीके लगते हैं। ऋतुओं में शरद ऋतु की तरह ही पर्वों में भैयादूज ही मुझे प्यारा लगता है। देहात में बहन भैयादूज के दिन मेरी प्रतीक्षा करती रहती। यदि मैं उस दिन नहीं पहुँच पाता तो अपनी शुभ कामना के अक्षत-कुंकुम सँजो रखती। आह, भाई-बहन का स्नेह-पर्व भैयादूज! शरत्पूर्णिमा में मैं बहिन का मुखचन्द्र देख लेता हूँ, भैयादूज में उसका प्रेमल हृदय पा जाता हूँ।

प्रतिदिन स्नान के बाद जब आस्तिक जन ईश्वर का भजन-पूजन व आराधन करते हैं, तब मैं अपने पलकों को मूँदकर अन्तःकरण में बहिन को ही स्मरण करता हूँ। ईश्वर अलख निरंजन है, निर्गुण निराकार है। किन्तु वह जो पृथ्वी पर अपना किरण-चरण धरकर सच्चिदानन्द का चिदाभास दे गई, उसमें उसी सगुण परमात्मा की सगुण सुषमा थी। जीवन-पथ में वही मेरी ध्रुवतारिका है। मैं उसी में एकाग्र हो जाता हूँ। सृष्टि में वही मेरे लिए शीर्ष बिन्दु है।"

—'परिव्राजक की प्रजा', पृष्ठ २७६

विचारात्मक निबन्धों में भले ही वह कोई नवीन बात पैदा न कर सके हों; पर वैयक्तिक निबन्ध-क्षेत्र में शान्तिप्रियजी ने काफ़ी स्वस्थ और प्रशंसनीय देन हिन्दी को दी है। उनमें आत्मीयता, ममता, निश्छल करुणा और मार्मिकता पाठक को भाव-लोक में ले जा खड़ा करती है। वैयक्तिक या आत्मपरक निबन्ध-क्षेत्र में द्विवेदीजी एक मात्र लेखक हैं। इनकी रचनाएँ सचमुच बहा ले जाती हैं। इसके अतिरिक्त आलोचनाओं में भी इतना तो मानना ही पड़ेगा, उनकी अपनी एक विशेष शैली है।

१०

डाक्टर रघुवीरसिंह

इतिहास की ममता प्रायः भावुकता में डूब, रागात्मकता में रँग बड़े सुन्दर भावात्मक निबन्धों को जन्म देती हैं। डाक्टर रघुवीरसिंह ने इतिहास के पृष्ठों को भाव-भरे रंगीन चित्रों में उतारा। मुगलकालीन इतिहास की घटनाओं, इमारतों आदि पर इन्होंने बहुत सुन्दर निबन्ध लिखे। वर्णन या विवरण-प्रधान विषयों को भी इन्होंने भाव-प्रधान रूप दिया। ईंट-पत्थरों में भी कोमल धड़कन इन्होंने सुनी। उन पर भावोच्छवासों की वर्षा यह कर देते हैं। इनके निबन्धों में चित्रात्मकता भी रहती है और सांकेतिकता भी; पर सरल और सुबोध। सरल, सीधे, अमिश्र, सम्बद्ध वाक्य, बोलचाल के उर्दू शब्दों को साथ लकर चलने वाली व्यावहारिक भाषा, मधुरता और प्रसादात्मकता से पूर्ण प्रवाहपूर्ण गतिशीलता आपकी रचनाओं के विशेष गुण हैं। कथन में भोलापन और स्पष्टता। अभिव्यंजना में व्यंजना या लक्षणा का सहारा कम ही स्थलों पर लेते हैं—अभिधात्मक अर्थ-सम्पन्नता ही अधिकतर रहती है। भावों में आवेग अधिक नहीं मिलेगा, वे सजे अवश्य होंगे। सरलता और स्पष्टता का इतना ध्यान, कि कभी-कभी भाषा में ढीलापन आ जाता है। पर असुन्दर और अशक्त वह नहीं होने पाती।

नीचे दो अवतरण दिये जाते हैं—

"बीहड़ बन है। सारे जंगल में काँटों से लदे हुए वृक्ष खड़े हैं। झाड़ियाँ इतनी घनी हैं कि पुराने मार्ग अब बन्द हो गये हैं। जंगल को देखकर प्रतीत होता है कि वहाँ भीषण जीवन-संग्राम हो चुका है। इसी जंगल के एक स्थान पर कुछ खुला हुआ स्थान है। वहाँ झाड़ियाँ नहीं हैं, एक गोलाकार मैदान है, जिस पर हरी-हरी दूब लगी हुई है। इधर-उधर एक-आधे छोटे पौधे भी हैं और बीच में एक वृद्धकाय वृक्ष खड़ा है, जिसके मस्तक पर एक ही पुष्प खिला हुआ है। वृक्ष बहुत ऊँचा है। उस पर का पुष्प विकसित होने पर भी पूरा खुला हुआ नहीं है। ऐसा ज्ञात होता है कि उच्च स्थान पर स्थित होने के कारण सकुचा-सा गया है। उस पुष्प से एक अतीव मनोहारी भीनी-भीनी सुगंध बह रही है। इस सुगंध से वही एक स्थान नहीं, सारा जंगल सुवासित हो रहा है। उस जंगल म प्रवेश करते ही, वह सुवास प्रत्येक पथिक तक पहुँच जाती है और एक अज्ञात आकर्षण उसे वहाँ तक खींच लाता है; परन्तु उस स्थान तक पहुँचने में उसे अनेक कठिनाइयों का सामना करना

पड़ता है। मार्ग की घनी झाड़ियों का उल्लंघन, उनसे बचना एक समस्या है; परन्तु इन कठिनाइयों का पता पथिक को पहले नहीं लगता। कारण उस पुष्प की सुगन्ध उसके पास पहुँचकर मस्त कर देती है। जिस प्रकार बहेलिये के मृदुल संगीत पर मृग अनजाने अपनी मृत्यु के द्वार पर पहुँच जाता है, उसी प्रकार उस मादकता के छा जाते ही पथिक यह भूल जाता है कि उस सुवास के केन्द्र पुष्प तक पहुँचने का मार्ग कण्टकाकीर्ण है। अन्त में उस स्थान पर जाकर पथिक पड़ रहता है, और जब तक तृप्ति नहीं होती और उसकी मादकता नहीं हटती, वह उन्मत्त उस सुवास से अभिभूत रहता है। कण्टकमय बन में निष्कण्टक स्थान को देखकर यही प्रतीत होता है कि उस सुन्दर पुष्प और उसकी सुवास के कारण ही वहाँ कोई झाड़ी नहीं रहने पाई।"

—'अतीत स्मृति'

"वैभव से विहीन सीकरी के वे सुन्दर आश्चर्यजनक खंडहर मनुष्य की विलास-वासना और वैभव-लिप्सा को देख आज भी वीभत्स अट्टहास करते हैं। अपनी दशा को देखकर सुध आती है। उन्हें उन करोड़ों मनुष्यों की, जिनका हृदय, जिनकी भावनाएँ; शासकों, धनिकों तथा विलासियों की कामनाएँ पूर्ण करने के लिए निर्दयता के साथ कुचली गई थीं, आज भी उन भव्य खण्डहरों में उन पीड़ितों का रुदन सुनाई देता है। अपने गौरवपूर्ण भूतकाल को याद कर वे निर्जीव पत्थर भी रो पड़ते हैं। अपने उस बाल वैधव्य को स्मरण कर वह परित्यक्त नगरी उसाँसें भरती है। विलास-वासना, अतृप्त कामना तथा राज-मद के विष की बुझाई हुई ये उसाँसें इतनी विषैली हैं कि उनका सहन करना कठिन है। इन्हीं आहों की गर्मी तथा विष से मुगल-साम्राज्य भस्मीभूत हो गया। अपनी दुर्दशा पर ढलके हुए आँसुओं के उस तप्त प्रवाह में रहे-सहे भस्मावशेष भी बह गये।"

× × ×

"एक नजर तो देख लो इस मृत शरीर को, अकबर के उस मग्न स्वप्न-संसार के उस सुनसान रंगमंच को, अकबर के स्वप्न-लोक के उन टूटे-फूटे अवशेषों को। अकबर के ऐश्वर्य-विलास के इस लोक को उजड़े शताब्दियाँ बीत गईं, किन्तु उसकी ऐश्वर्य-इच्छा, विलास-वासना, वैभव-लिप्सा एव कामना-कुंज का वह मकबरा आज भी खड़ा है। सीकरी के वे भव्य खण्डहर मानवीय इच्छाओं, मनुष्य की सुख-वासनाओं तथा गौरव की आकांक्षाओं की श्मशान-भूमि हैं। मानवीय अतृप्त वासनाओं का वह करुण दृश्य देखकर आज वे पाषाण भी क्षुब्ध हो जाते हैं। अपने असमय पतन पर टूटे हुए दिनों की आहें आज भी उन भग्न प्रासादों से सनसन करती हुई निकलती हैं।"

—'शेष स्मृति'

इन अवतरणों से लेखक की भाषा-शैली के सभी गुण प्रकट हैं। छोटे-छोटे वाक्य, अभिधात्मक भाषा, कहीं भावना का आवेग तो कहीं सरल प्रवाह, कहीं क्रिया, कर्म, कर्त्ता का स्थान-परिवर्तन—इनकी शैली के गुण हैं। बात समझाने के लिए समान उदाहरण और उपमाएँ भी देते चलते हैं। शैली शिल्प में सशक्तता कम सरसता अधिक है। भावनाओं में आकुल आवेग की कमी है। विचारों में प्रगति का आभास मिलता है। शैली प्रसाद कहलायेगी।

प्रगतिवाद-युग

(संवत् २००० वि०—)

१

युग-परिचय

प्रसाद-युग कविता में छायावाद और गद्य में सांस्कृतिकता, राष्ट्रीयता तथा सामाजिकता का काल समझना चाहिए। भारतीय जीवन के सर्वतोमुखी उत्थान की अँगड़ाई ही इसमें नहीं मिलेगी, जागरण और जागरण के बाद का संघर्ष भी इसमें है। प्रसाद-युग के बाद परिस्थितियाँ बदलीं और प्रसाद-युग का सन्ध्या आते-आते ही दूसरा महायुद्ध आरम्भ हो गया। नई विचारधारा बह निकली। युद्ध आरम्भ होने से पहले ही प्रसाद-युग के प्रति साहित्य में उदासीनता आने लगी थी। सन १९४० ई० के आस-पास तो प्रतिक्रिया की लकीर साफ़ दिखाई देने लगी। साहित्य में मार्क्सवाद का प्रभाव बढ़ा। युद्ध में रूस-इंगलैण्ड की मित्रता होने के कारण भारत में मार्क्सवादी साहित्य का प्रचार, प्रसार और प्रभाव और भी बढ़ा। देश में होनेवाले राष्ट्रीय और सामाजिक आन्दोलनों की असफलता भी सामने आई। भारतीय सामाजिक और आर्थिक जीवन में वे कुछ भी अन्तर न ला सके। पूँजीवाद का आतंक सभी क्षेत्रों में ज्यों का त्यों रहा। प्रेमचन्द तक ने यह अनुभव किया कि नवीन समाज का पुनर्निर्माण आर्थिक नींव पर ही हो सकता है—राष्ट्रीय आदर्शवाद, सामाजिक या धार्मिक समान अधिकार की पुकार पर नहीं। इन्हीं सब परिस्थितियों ने मिलकर नवीन युग को जन्म दिया।

समीक्षा, कला और कविता-क्षेत्र में प्रगतिवादी तत्त्व और सिद्धान्त थोड़े-बहुत रूप में आ भी पाये; पर निबन्ध-क्षेत्र में प्रगतिवादी लेखकों के लिए जैसे प्रवेश निषिद्ध हो। बहुत खोजने-तलाश करने से यशपाल का नाम सामने आता है। साहित्य और सभाओं में बड़े जोश के साथ मार्क्सवाद की हिमायत करने वाले बेनीपुरीजी ने भी 'गेहूँ और ग़ुलाब' में 'ग़ुलाब' को 'गेहूँ' से ऊँचा स्थान दिया। पेट से ऊँचा स्थान हृदय और मस्तिष्क का माना। थोड़े-बहुत रूप में कौसल्यायनजी के निबन्धों में भी प्रगतिवादी तत्व आये; पर शुद्ध रूप में प्रगतिवादी वह भी नहीं। प्रगतिवाद-युग अपने स्वरूप में असम्पन्न और असफल रहा—ठीक इसी प्रकार, जिस प्रकार रीतिकाल रीति-रचना में अपूर्ण, असफल और असम्पन्न। निबन्ध स्वतन्त्र चिन्तन और निजी मौलिक विचार और अनाभिभूत भावनाओं के प्रकाशन का सर्वश्रेष्ठ और सफल साधन है। प्रगतिवाद का सबसे अधिक स्वस्थ, सबल और सफल रूप निबन्ध में आकार पा सकता था; पर ऐसा हुआ नहीं, यह एक विस्मयकारी और

खेदजनक सत्य है। कारण—प्रगतिवादियों में गहन चिन्तन, अडिग आस्था, सबल शैली से संघटित कोई महान व्यक्तित्व उत्पन्न नहीं हो सका। कागजी सिद्धान्त या नवीनता के नशे में जोशीली बहस तो व्यक्तित्व पैदा कर नहीं सकते। नवीन जीवन-दर्शन को आत्मसात ता उनमें से कोई कर न सका, आत्मसात करके नवीन निर्माण के रूप में उसे समाज को दे न सका, तब व्यक्तित्व उभरे कैसे ? रसगुल्ला मुँह में रखे-रखे उसका स्वाद कोई नहीं बता सकता—वाणी में स्पष्टता, शब्दों में अनुभूति, अनुभाव में आनन्द-उल्लास कैसे आ सकता है—जब तक उसे अच्छी तरह खाकर, हज्म करके उसके प्रभाव और प्रतिक्रिया का बोध न हो। साहित्य के अन्य क्षेत्रों में भी यही अवस्था रही। प्रगतिवाद साहित्य में जो नवीन प्राण-प्रतिष्ठा कर सकता, जीवन और साहित्य को नवीन मान्यताएँ दे सकता, वह कुछ न हो सका। इस अभाव के उत्तरदायित्व का अपराध है प्रगतिवादियों के सिर। उनका प्रेरणा-केन्द्र वाद या दर्शन न होकर व्यक्ति और ज़मीन बने—प्रेरणा कहाँ तक बाहर से ली जाय। प्रेरणा भी नकल के रूप में अधिक स्वीकृत हुई, सृजन की बेताबी के रूप में नहीं। साथ ही कुछ समीक्षकों ने इसको इतना संकुचित बना दिया कि साहित्य का दम घुटने लगा। प्रगतिवाद साहित्यिकवाद के रूप में न आकर, सम्प्रदायवाद के रूप में आया—असामयिक करुण मृत्यु होनी थी ही। प्रगतिवाद की यह असफलता साहित्य की बहुत बड़ी क्षति है।

निबन्ध-क्षत्र में यह युग प्रसादोत्तर या कला-संस्कृति युग ही अधिक है। इस युग का सबसे बड़ा निबन्धकार जैनेन्द्र संस्कृति और कला को लेकर अधिक आया। हजारीप्रसाद, प्रभाकर माचवे ने भी कला और संस्कृति पर अधिक लिखा। डाक्टर नगेन्द्र के प्रायः सभी निबन्ध कला-साहित्य और संस्कृति का विवेचन करते हैं। इन सभी की प्रगतिवादा परिभाषा और स्वरूप हैं; पर जिन निबन्धों की बात कही जा रही है, उनमें प्राचीन परम्परागत स्वरूप का रूप ही निखरा है। निबन्ध-साहित्य में यह युग प्रगति की अपेक्षा प्रतिक्रिया का अधिक है।

यह युग भी समृद्धि की दृष्टि से बहुत सम्पन्न है, विषय-विविधता की दृष्टि से तो प्रसाद-युग से भी आगे। शैली और चिन्तन के रूप में जैनेन्द्र इस युग का विराट व्यक्तित्व है। नगेन्द्र की रचनाएँ भी अपने रूप में प्रथम कोटि की हैं।

२

भदन्त आनन्द कौसल्यायन

पर्यटक-जीवन अनेक तीखे-मीठे अनुभव बटोरता है—उसमें नई-निराली अनुभूतियाँ भी सोती-जागती हैं । प्रतिभा में पकड़, मन में विश्लेषण और चिन्तन-शक्ति, पुतलियों में पारदर्शी दृष्टि और हृदय में कटु-मधु पी जाने की तृष्णा हुई, तो पर्यटक अवश्य ही अपने और अपने पाठक के मन-मानस पर अमिट लकीरें खींच देगा। ये शक्ति आनन्दजी में है। उनका जीवन जागरूक है। उनकी रचनाओं में इनका स्वाभाविक फल भी फूला। उनके घुमक्कड़ ने ऐसे ही विविध संस्मरण एकत्र किये। ये संस्मरण बहुत-कुछ निबन्ध की ही कोटि में आते हैं। जीवन और जगत के विषय में ये अमिट लकीरें खींचते हैं—न भूलने वाले चित्र उपस्थित करते हैं। 'जो न भूल सका', ऐसे ही संस्मरणात्मक निबन्धों का संग्रह है। प्रकार की दृष्टि से ऐसे निबन्ध विवरणात्मक कहलायेंगे।

जीवन को वह दार्शनिक अस्पष्टता और उलझनों की भीड़ में न तो देखते हैं, न उपस्थित करते हैं। जीवन की जड़ों को अंतिम गहराई तक देखने की चेष्टा उनमें है—उसका निम्नतम तल भी वह तलाश करते हैं । दृष्टिकोण में पूर्ण प्रगतिशील हैं। न तो उनकी कलम के चित्र बनते हैं, चन्दे का धन्धा कर निराहार कारों में चलने वाले नामी नेता और न नराहार कर धर्म की धुरी सँभालने वाले दानवीर धन्ना सेठ। 'ओम इवेक्वी' चौदह वर्ष का साहसी आश्रयहीन बालक; उनकी इण्टरव्यू का सच्चा अधिकारी है। 'वेतन—किसका कितना ?' में उनकी लेखनी समाज और सरकार द्वारा उपेक्षित गरीब अध्यापक के लिए व्यथित होती है, दैनिक मज़दूरी करने वाले मजूर और चौकीदार के लिए बिलखती है। 'धर्म व्यक्तिगत चीज़ है' में वह धर्म का सरल, स्वाभाविक और सम्भव रूप रखते हैं । 'शोषण का सबसे बड़ा साधन—धार्मिकता' में उसके पाखण्ड और कपट का भण्डा फोड़ते हैं।

"दूसरों को त्याग के लिए प्रेरित करना संगठित धर्मों के हाथों में शोषण का एक महान अस्त्र है।"

"वायसराय या बादशाह के पास भेजे गये प्रार्थना-पत्र की पहुँच तो मिलती है, भगवान के दरबार में की गई प्रार्थना की तो पहुँच भी नहीं। स्वीकृति अस्वीकृति सभी लालबुझक्कड़ का खेल है।"

"बिरला हाउस भी अनेक अमीरों के भवनों की तरह ईंटों की जगह गरीबों की हड्डियों और गारे की जगह उनके खून से बना है।"

ऊपर के अवतरण धर्म, ईश्वर और धनवानों के प्रति लेखक के तीखे विचारों के साक्षी हैं।

गाँधीजी की प्रार्थना में सम्मिलित होने के बाद आपने गाँधीजी से प्रार्थना की थी, उस प्रार्थना के पाखण्ड को धोने को—

"बापू ! क्या आप इतना नहीं कर सकते कि प्रार्थना में आने वाले लोगों को बताएँ कि सारी आयु परिश्रम करते रहने पर भी वे वैसे ही भूखे-नंगे रहेंगे, जब तक समाज में कुछ लोगों को बिरला, डालमिया और सिंहानिया बनने की छुट्टी है। बापू ! आपको मिलने वाले हज़ारों और लाखों रुपये के दानों के कारण लोग इन्हें दानवीर समझते हैं। बापू ! इतना तो आप समझा ही सकते हैं कि बिरला, डालमिया और सिंहानिया दानवीर पीछे हैं, लूटवीर पहले।"

—'जो भूल न सका', पृष्ठ २१३

बापू हज़ारों-लाखों का दान लेकर जिन्हें 'दानवीर' बनाते रहे, उन्हें 'लूटवीर' कैसे घोषित करते ? और इन्हीं दानों से जनता महात्मापन के प्रभाव की परीक्षा लेती है—इन्हीं दानों की चमक में नेता की लम्बाई नापी जाती है। बापू इन 'दानवीरों' को 'लूटवीर' कहने का साहस न भी रखते हों; पर लेखक अवश्य रखता है। समाज के आर्थिक शोषण के प्रति उसके हृदय में रोष है—नयी आर्थिक व्यवस्था की कामना भी इस अवतरण में बोलती है। इसी आर्थिक विषमता के विनाशक परिणाम पर अपने अनेक निबन्धों में आनन्दजी ने प्रकाश डाला है। समाज-निर्माण के लिए उनके विचार प्रगतिवादी हैं। साहित्य, संस्कृति, राजनीति—सभी विषयों पर उन्होंने निबन्ध लिखे, पर इनकी ओट में वह नव-निर्माण का विरोध नहीं करते।

दो अवतरण—

"बात छोटी-सी है और कई वर्षों की पुरानी, तो भी मेरे मन पर ज्यों-की-त्यों अंकित है। ज़मींदार अपने किसान से कहता है, 'तुम स्वतंत्र हो, चाहो तो इतनी मालगुज़ारी देकर खेत जोतो, चाहो छोड़ दो।' मिल-मालिक मज़दूर से कहता है, 'तुम स्वतंत्र हो, चाहो तो इतनी मज़दूरी लेकर काम करो, चाहो न करो।' ठिठरती रात में कुली से बाबू कहता है, 'तुम स्वतंत्र हो, चाहे दो पैसे लो, गठरी उठाओ, चाहो न उठाओ।' मरते हुए रोगी के रिश्तेदार से डाक्टर कहता है 'तुम स्वतंत्र हो, मर्ज़ी हो, हमारी निश्चित फीस देकर हमें घर ले चलो, मर्ज़ी हो न ले चलो।' और तो और किसी समाचार-पत्र का पूँजीवादी मालिक भी अपने पत्र-संपादक से कहता है, 'तुम स्वतंत्र हो, चाहो इतने वेतन पर काम करो, चाहो न करो।' यह है पूँजीवादी समाज की 'स्वतंत्रता' जिस पर हमें इतना अभिमान है।"

—'जो न भूल सका', पृष्ठ ५१

"जब से समाज विकसित होकर इस योग्य हुआ कि उसमें कुछ लोगों के लिए पुरोहितशाही पेशा बन सके, तब से जिस-जिस समय में समाज में जिस-जिस वर्ग के हाथ में शक्ति रही, पुरोहितशाही हर बात में उसी वर्ग का समर्थन करती रही। आज रूस को छोड़कर संसार के सभी देशों में पूँजीवाद का बोलबाला है; इसलिए इस युग के पुरोहित—वे किसी भी धार्मिक सम्प्रदाय के हों—पूँजीवाद के समर्थक हैं। जो पूँजीपति दूसरों की पसीने की मेहनत को लूटकर अपनी तिजोरी भरे हुए हैं, उस पूँजीपति की इस कमाई को पुरोहितशाही कहती है कि यह 'खुदा की बरकत है', 'ईश्वर की कृपा है' और नहीं तो उनके अपने कर्मों का फल है। अंतिम व्याख्या से हम भी कुछ-कुछ सहमत हैं। फ़र्क इतना ही है कि 'कर्मों के फल' का अर्थ हम समझते हैं—'कुकर्मों का फल।'

—'जो न भूल सका', पृष्ठ १४३

ऊपर के अवतरणों से आनन्दजी के विचार ही नहीं, भाषा-सिद्धान्त भी स्पष्ट हो जाते हैं। आपकी भाषा सरल, सुबोध और अत्यन्त भोली है—भोले-भाले पर्यटक भिक्षु के समान। भाव-प्रकाशन में कहीं उलझन नहीं, दुराव नहीं। प्रसादात्मकता इतनी कि कभी-कभी उसमें सजावट, कसाव और तीव्रता का अभाव मालूम होने लगता है। लेखक का उद्देश्य है, पाठक को भली प्रकार अपनी बात समझाना—इसमें वह सफल हुआ है। बीच-बीच में उपस्थित दृष्टान्त-कथाएँ, रूपक-उपमाएँ आदि अभिव्यंजना में सहायक ही होती हैं। कथन में आत्मीयता है और व्यक्तित्व भी। वैयक्तिकता का पुट भी वह देते चलते हैं, जिससे रचना का माधुर्य और भी बढ़ जाता है।

३

जैनेन्द्रकुमार

सजग सतर्क चिन्तन जिसमें बोलता हो, विराट व्यक्तित्व जिसमें आकार पाये, विश्वासी अहं जिसमें उभरता दीखे, अनाभिभूत विचार-पद्धति जिसमें मिले, वही विचारात्मक निबन्ध आदर्श की संज्ञा पायेगा। जैनेन्द्र के निबन्ध में यही आदर्श स्वरूप ग्रहण करता है। वह भावुक से अधिक विचारक है—उसकी आस्था तर्क की कसौटी पर चमकती, श्रद्धा ज्ञान की सेवा में ही स्वस्थ होती है। कहानी में वह इतना चिन्तन लेकर नहीं आ पाता, जितना निबन्ध में। क्षेत्र भी निबन्ध का ही व्यापक है, विचारों की दौड़ के लिए। एक बार आपसी बातचीत में जैनेन्द्रजी ने मुझ से कहा था, "मैं तो कहानियों में भी विचार ही अधिक देता हूँ—देना पसन्द करता हूँ और मेरे निबन्ध तो विचार-प्रधान ही हैं।" इसी बात को 'सम्पादकी मैटर' लेख में वह यों कहते हैं, "तिस पर बात यह कि मेरा गद्य लेख तो विवेचन अथवा आलोचन रूप ही रहता है।" हृदय से ऊँचा स्थान वह मस्तिष्क को देते हैं, 'आप मानते हैं कि किसी के दिल में दया होती तो वह उस अधमरे आदमी का कुछ उपचार करता। पर मुझे इससे सन्तोष नहीं है। उस आदमी के उपचार के लिए दयावान व्यक्ति की ज़रूरत हो, और हम में से हर कोई उस तरह के उपचार में सचेष्ट न हो, यह स्थिति ही मेरी चिन्ता का विषय है। इस स्थिति में ज़रूर कोई बड़ा दोष है। दयालु होने के कारण ही मैं उस ग़रीब के काम आ सकता हूँ, समझदारी के कारण नहीं, आज का यही हाल है।··· ······ जहाँ दया और समझ का विरोध हो, वहाँ मैं समझ के पक्ष में हूँ।" ('जड़ की बात', पृष्ठ २) जैनेन्द्रजी की इन स्वीकृतियों से, उनके निबन्ध चिन्तन-प्रधान सिद्ध होते हैं। भावात्मकता उनमें न के बराबर है। विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर के स्वर्गारोहण पर अर्पित 'श्रद्धांजली' में भी भावात्मकता न आ पाई—वह भी विचार-प्रधान रचना ही बनी।

जैनेन्द्रजी के विचारात्मक निबन्धों का क्षेत्र बहुत व्यापक और विस्तृत है। हिन्दी में इतने विविध विषयों, समस्याओं, प्रश्नों और पहलुओं पर सम्भवतः अन्य निबन्धकार ने नहीं लिखा। 'धर्म', 'युद्ध', 'न्याय', 'राष्ट्रीयता', 'दान की बात', 'दीन की बात', 'ब्लैक आउट', 'पैसा : कमाई और भिखाई', 'गाँधीवाद का भविष्य', 'रोटी का मोर्चा', 'संस्कृति की बात', 'उपवास और लोकतन्त्र', 'दुख', 'सत्य, शिव, सुन्दर', 'साहित्य की सचाई', 'प्रगतिवाद', 'जड़-चेतन', 'सम्पादकी मैटर'—निबन्धों से

इनकी विषय-विविधता, व्यापक चिन्तन-शीलता और युगानुकूल सजगता का पता चलता है। साहित्य, समाज, राजनीति, संस्कृति, धर्म, जीवन की यथार्थता, मानव के अभाव और आदर्श, उलझन और आवश्यकता, किसी के प्रति भी लेखक बेखबर नहीं। वह जागता है और जगाता भी। प्राचीन परित्यक्त पथों से भी वह परिचित है और नये रास्तों की रोशनियों, सीमा-सुविधाओं और प्रलोभन-छलनाओं से भी अनजान नहीं। साहित्यिक, आर्थिक, राजनीतिक वादों के पास बैठ, वह उनसे भी बहस करता है और पुरातन के सामने भी तर्क और चेतना का दीपक लेकर बैठता है, अंधविश्वास की आँखें लेकर नहीं।

निबन्धकार जैनेन्द्र के विचारक स्वरूप को उपस्थित करने के लिए 'जैनेन्द्र के विचार', 'जड़ की बात' और 'पूर्वोदय' निबन्ध-संग्रह प्रकाशित हुए हैं। 'जड़ की बात', 'जैनेन्द्र के विचार' और 'पूर्वोदय' में जैनेन्द्र का निबन्धकार अत्यन्त स्वस्थ, सबल, प्रभावशाली और प्रतिभावान आकार पाता है। 'पूर्वोदय' में हमें वह इतना महान और बलवान नहीं मिलता। संस्कृति और नैतिकता के विधि-निषधों ने 'पूर्वोदय' में निबन्ध का व्यक्तित्व न पनपने दिया। निजी चिन्तन की प्रखरता भी इन निबन्धों में उतनी नहीं आ पाई। इनमें विचारक जैनेन्द्र, समर्थक और प्रचारक अधिक हो गया। फिर भी इतना तो मानना ही पड़ेगा, 'पूर्वोदय' गाँधीवाद को समझाने का प्रतिभाशाली, सबल और सफल प्रयत्न है।

मानवता इनके निबन्धों का मूल संगीत है; संस्कृति उस संगीत का स्वर, संवेदन उस स्वर की झंकार और किसी की वेदना में साझेदारी करना ही इनका धर्म। धर्म का स्वरूप बाह्य बँटवारा या अन्तर नहीं, भीतरी एकता है। संस्कृति के समर्थन, विवेचन और प्रकाशन का अवसर यह जब-तब तलाश कर लेते हैं। जीवन, समाज, कर्म, धर्म, दान, दया, आर्थिक वैषम्य सभी का चिन्तन यह अधिकतर संस्कृति को आधार मानकर करते हैं। 'पूर्वोदय' सांस्कृतिक निबन्ध-संग्रह है। पृष्ठ १६५ पर वह संस्कृति के प्रति अपने को यों प्रकट करते हैं, "इन्सान को शरीर की भाषा पर उतारकर उसकी समस्याओं का निपटारा टटोलना बेकार है। इन्सान को न समझने में ऐसी कोशिश का आरम्भ होता है। सहानुभूति का उसमें अभाव होता है। इससे जितनी ही यह चेष्टा वैज्ञानिक होती है, उतनी ही व्यर्थ होती है। आशय कि मैं उससे सहमत नहीं हो पाता हूँ, जो संस्कृति को दूर की, ऊपर की, कोई भव्य वस्तु मानकर सन्तोष मानते हैं और बुनियाद में ही उसे नहीं लेना चाहते। संस्कृति जो नींव नहीं है, सिर्फ़ शिखर है, एक आडम्बर है। राजनीति जो संस्कृति को साध्य के रूप में आगे रखकर साधन के रूप में साथ नहीं रखती है, भ्रम और प्रपंच ही उत्पन्न कर सकती है। संस्कृति एक सम्मान है, एक वृत्ति है, जिसको अंगीकार

हम नहीं करते तो आवश्यक अर्थ होता है कि विकृति को हम स्वीकार करते हैं।"

'रोटी के मोर्चे' की बात करें चाहे 'जड़ की बात' कहें; 'दीन की बात' सुनायें, या 'दान की बात'; संस्कृति को साथ लेकर ही समाज की आर्थिक विषमता को पहचानते हैं, उससे होने वाले मानवी अपराधों को भी; पैसे की पूजा और इन्सान की उपेक्षा से व्यथित होते हैं; पर इसमें संस्कृति के अभाव को ही बुनियाद पाते हैं। माया की ममता इस विषमता में सबसे बड़ी अपराधिनी इन्हें दीखती है। इन्सान की बेकदरी इसलिए है, "हमारे सब क़े मनों में सोने की छड़ी बस गई है। उससे आदमी को नापा जाता है।" इस प्रवृत्ति की भर्त्स्ना भी यह करते हैं, "मालदार बनने की इच्छा मनुष्यता की निधि में नक़ब लगाकर चोरी करने की इच्छा से कम या भिन्न नहीं है।" यह चाहते हैं मानवता जागे, विषमता हटे, माया की लू से छुटकारा मिले, इन्सान की ओर इन्सान के प्रेम का हाथ बढ़े। पर केवल चाहने से तो न बादल बरसते हैं, न खेत उगते हैं, न गृहविहीनों के लिए मकान खड़े होते हैं।

"पर, आँखों देखी बात है कि पैसा उठा लिया जाता है; इनसान को छोड़ दिया जाता है। उसकी कीमत पैसे की नहीं है। मैं जानना चाहता हूँ कि यह अनर्थ कैसे होने में आया? क्यों यह जरूरी नहीं है कि जैसे पैसे की तरफ प्रीति का हाथ बढ़ता है, वैसे ही बल्कि उससे भी अधिक इन्सान की तरफ हमारा प्रेम का हाथ बढ़े? क्यों यह ज़रूरी है कि आदमी दया की प्रतीक्षा करे और तब तक उस ओर से अपने को अछूता बनाये रखें? अगर पैसे को धूल में से उठाकर जेब में रखना उस पर उपकार करना नहीं है, तो रोगी को सड़क पर से उठाकर अस्पताल में रखने में भी उपकार की कहाँ आवश्यकता आ जाती है?" —'जड़ की बात', पृष्ठ ४

"दफ़्तर चल रहे हों, और सरकार की मशीन चल रही हो। जब वह चीज़ ठीक चल रही है, तब दो-चार या सौ-हज़ार भूखे और नंगे मर जायँ तो क्या हुआ? सुशासन की आरती तो अखण्ड चल रही है, उसका रिकार्ड दफ़्तर में बराबर तैयार हो रहा है। यह जो आदमी सड़क के किनारे पड़े भिनकते हुए मर रहे हैं, यह तो अपने कर्मों का फल पा रहे हैं। बाक़ी हमारा बजट देखो, हमारी रिपोर्टें देखो, हमारे कारखाने में चलकर उसका इन्तज़ाम देखो। तब तुम्हारी आँखें खुलेंगी कि सभ्यता और उन्नति कहाँ पहुँच गई है। इस घृणित और सड़ी लाश को क्या देखते हो?"

—'जड़ की बात', पृष्ठ ६

"राजनीति नीति का राज नहीं चाहती। वह तो राज ही चाहती है। राज करने की और राज रखने की ही नीति को वह चाहती है। पर क्या यह नीति है जो

आँख राज पर रखे और जिन पर वह राज हो, उन पर पाँव रखने की सोचे।······ अमरीका ने ऋण दिया और ब्रिटेन दब गया। यह पूँजी की शक्ति उभारती है और दबाती भी है। वह कराने वालों के हाथ में है, जिससे वे करने वालों को रोक सकते हैं या खोल सकते हैं, लेकिन यह पूँजी क्या श्रम में से ही नहीं बनी है ? इस तरह श्रम ही मूल पूँजी है, इस चैतन्य की आत्म-श्रद्धा को जो नीति जितना जगायगी, वह उतनी ही अन्त में आदमी को और मुल्कों को आज़ादी की तरफ़ उठायगी।"

—'जड़-चेतन'

"और एक वायसराय हैं। वायसरायगीरी करते हैं, जो बेहद ज़िम्मेदारी का काम है। उनकी कमाई की मुझे कूत नहीं। वह भी ख़ासी होनी चाहिए, क्योंकि पसीने की वह नहीं है। पसीने की कमाई ही इतनी कम हो सकती है कि पेट न भरे। क्योंकि पेट भरेगा तो मेहनती मिहनत से जी चुरायगा। इससे अक्ल की कमाई को हक़ है कि लम्बी-चौड़ी हो। मिहनत को कमाई अधिक न होगी तो उससे मेहनती का नुकसान होगा।"

—'जड़ की बात', पृष्ठ २७

प्रस्तुत अवतरणों में दिये विचारों से लेखक की चिन्तन-सजगता पर पूर्ण प्रकाश पड़ता है। इन्सान दया का भिखारी क्यों हो ? उसका उपचार मानव का स्वभाव क्यों न बने ? उपकार मानकर पीड़ित को सहारा देना श्रेय नहीं, मनुष्यता का लाभ समझकर ऐसा करना चाहिए। पैसे का सत्कार और मानव का तिरस्कार लेखक को सह्य नहीं। इन्सान के प्रति की जाने वाली उपेक्षा की ज़िम्मेदारी सरकार पर भी कम नहीं। इसीलिए लेखक उस पर तीखा व्यंग्य करता है। राजनीति के कपट को भी पहचानता, श्रम को ही वह पूँजी मानता है, अक्ल और पसीने की कमाई के अन्तर का भी वह विरोधी है। दो श्रमों की आर्थिक विषमता पर उसे रोष भी है। इस अक्ल की कमाई के प्रति भी वह व्यंग्यपूर्ण है। लेखक वर्तमान जीवन की समस्याओं के प्रति जागरूक है। उलझनों को वह पहचानता है, उनसे उत्पन्न अपराध से भी अनजान नहीं—विषमता के विनाशक परिणाम की पकड़ भी उसमें है, पर उसके पास समाधान नहीं—सुलझाव भी नहीं। जो सुलझाव-साधन उसने कहीं प्रस्तुत भी किये, अव्यवहारिक और अबल हैं—अपील मात्र, कामना के ही रूप। कोई व्यावहारिक योजना वह उपस्थित नहीं कर पाते। चाहते हैं, विषमता मरे, समता जिये; दानव लुप्त हो, मानव उभरे; जीवन जागे, दीनता भागे। पर यह सब हो कैसे, वह नहीं बताते। विचारों की विराटता वह उपस्थित करते हैं, पर संस्कृति की ममता विराट को सक्रिय नहीं बना पाती। यही जैनेन्द्र का सबसे बड़ा अभाव है। संस्कृति को साध्य और साधन दोनों रूप में वह स्वीकार करते हैं। संस्कृति की यह स्वीकृति प्रगतिवाद के

उच्छृंखल पैरों में समझदारी की रोक है, यह मानना पड़ेगा। जैनेन्द्र की प्रौढ़ विचार-पद्धति प्रगतिवादियों को चौकन्ना तो अवश्य रखती है।

साहित्य या जीवन की कला को जैनेन्द्र किसी वाद की लकीरों में बाँधना पसंद नहीं करते। यही बात प्रगतिवाद के लिए भी उनके विषय में सही समझी जाय। प्रगतिवादी वह नहीं—विरोधी भी नहीं। प्रगतिवाद से साहित्य में शक्ति और गति आवे, वह चाहते हैं, पर वह गति, मुक्ति और रचना हो, बन्धन और बरबादी नहीं। वह स्वयं भी अपने को प्रगतिवादी नहीं मानते, उनकी रचनाओं में प्रगतिवादी तत्त्व हैं अवश्य; पर मर्यादाएँ लेकर। ऐसी दशा में जैनेन्द्र को समन्वयवादी कहा जायगा। प्रगति उनमें है, अतीत और परम्परा की प्रेरणा और शक्ति लेकर वह प्रगति-पथ पर बढ़ना चाहते हैं।

नीचे दिये गये अवतरण में उनके समन्वयवादी होने का दावा है—

"मानव-समाज को स्वीकार करने के लिए क्या शेष प्रकृति को इन्कार करना होगा? अथवा कि प्रकृति में तन्मयता पाने के लिए मनुष्य-सम्पर्क से भागना पड़ेगा? दोनों बात ग़लत हैं। धर्म सम्मुखता है। हम उधर मुँह रखें अवश्य, जहाँ वह इन्सान है, जो परिश्रम में चूर-चूर हो रहा है, देह से दुबला है, और दूसरों के समस्त अनादर का बोझ उठाये हुए झुका हुआ चल रहा है। हम उधर देखें, जहाँ पुरुष को इसलिए कुचला जाता है कि दानव मोटा रहे। पीड़ित मानव-समाज की ओर हम उन्मुख रहें। अपने सुख का आत्म-विसर्जन करें, उनकी वेदना में साझा बटायें। यह सब तो हम करें ही, करेंगे ही। अन्यथा हमारे लिए मुक्ति कहाँ है? पर ध्यान रहे, मानव-समाज पर जगत का खात्मा नहीं है। उनसे आगे होकर भी सत्य हैं। वहाँ भी मनुष्य की गति है। वहाँ भी मनुष्य को पहुँचना है। और इस जगह पर आकर मैं कहूँ कि अरे, जो चाँद-तारों के गीत गाता है, उसे क्या वह गीत नहीं गाने दोगे? उन गीतों में संसार के गर्भ से ली गई वेदना को अपने मन के साथ घनिष्ठ करके वह गायक गीत की राह मुक्त कर दे रहा है। उसको क्या प्रस्ताव से और कानून से रोकोगे? रोको, पर यह शुभ नहीं है। अरे, उस कवि को क्या कहोगे, जो आसमान को शून्य-दिगम्बर देखता है, कुछ क्षण उसमें लीन रहता है और उसकी लीनता के परिणाम में सब वैभव का बोझ अपने सिर से उतारकर स्वयं निरीह बन जाता है और मस्ती के गीत गाता है? कहे, राजनीतिक उसे पागल, पर वह लोक-हितैषी है। उसका प्रयोजन हिसाब की बही में न आवे; पर प्रयोजन उसमें है और वह महान है।"

—'साहित्य की सचाई'

जैनेन्द्र की रचनाओं में विराट व्यक्तित्व सबल आकार पाता है। व्यक्तित्व निबन्ध की पहचान है, तो यह पहचान जैनेन्द्र में खूब मिलेगी। आत्मीयता, अहं और

शैली मिलकर जैनेन्द्रजी के व्यक्तित्व को संघटित करते हैं। आत्मीयता और अहं का अकसर मेल नहीं बन पाता, पर ऐसा नहीं। लेखक जब परायापन त्याग पाठक से बात करता है, अपने निज को उपस्थित करता है, तभी आत्मीयता उपजती है। जैनेन्द्र बातें भी करते जाते हैं, अपने निज को भी सामने रखते हैं। अनेक स्थलों पर कथोप-कथन की चुस्ती भी रहती है, उत्सुकता और आनन्द भी।

"जनाब मैं एक अदना एडीटर हूँ, तो भी दार्शनिक के योग्य यह प्रश्न उठाता हूँ। प्रश्न शायद गूढ़ हो गया। मैं छोटे मुँह बड़ी बात कर रहा होऊँ, तो आप क्षमा करें।"

"अब मेरे कर्मों का दुर्भाग्य कि दुनिया में कोई और धन्धा मेरे योग्य नही रह गया। यह अखबार की एडीटरी किस्मत में शेष रह गई थी। एडीटरी छोटी चीज़ नहीं, इसी से दुर्भाग्य कहता हूँ।"

"मैं आपको अपनी असमर्थता बतला दूं कि मैं उन लहरों पर बहना नहीं जानता।"

प्रस्तुत अवतरणों से लेखक की निजता प्रकट है। अपने को इस प्रकार रखने में निबन्ध में वैयक्तिकता की मधुरता आती है! आत्मीयता प्रकट करने के लिए लेखक अपने पाठक को सम्बोधन करता है, उसकी सम्मति माँगता है, उससे बहस करता है, उसे अपने निर्णय सुनाता है। विश्वासी अहं के रूप में वह सामने तब आता है, जब अपनी अडिग आस्थाओं और विचारों को पाठक के गले में उतारते हुए कहता है, 'मैं कहना चाहता हूँ', 'मैं मानता हूँ', 'मैं जानना चाहता हूँ' कि 'यह अनर्थ कैसे होने में आया ?' कभी-कभी वह प्रश्नों की झड़ी लगाते हैं, सुनने वाला हक्का रह जाय और जो विचार आप रखें, मानने के सिवा चारा न रहे। यह ढँग भी लेखक के अहं को ही प्रकट करता है—"इतिहास हम से क्या चाहता है ? हम जी किसलिए रहे हैं ? मनुष्य-जाति किस ओर बढ़ती आई है ? और किस दिशा में उसे बढ़ते जाना है ? क्या वह दिशा परस्पर का बढ़ता हुआ ऐक्य ही नहीं है ?" अंतिम प्रश्न ही निर्णय है, पाठक को सहमति की स्वीकृति ही देनी पड़ेगी। प्रश्नात्मक ढँग लेखक में प्रौढ़ता भर देता है।

शैली को परख मानें तो जैनेन्द्र हिन्दी के गिने-चुने शैलीकारों में लकीर खींचकर अलग चमकते हैं। हमें तो, शैली के रूप में, हिन्दी के तीन निबन्धकार सबसे अगली पाँत में खड़े दिखते हैं—पूर्णसिंह, आचार्य शुक्ल और जैनेन्द्र। इन तीनों में 'घरघाट-हाटबाट' की भाषा में परोक्ष और प्रकट की बात कहने में जैनेन्द्र सबसे आगे है। सीधे-सरल बोलचाल के शब्दों में गहन-गम्भीर, दर्शन की बात भी वह कह जाते हैं। लघु-सरल सीधे वाक्य, भाषा की उलझन नहीं, पर तह में तीव्र चिन्तन और

अर्थ-गाम्भीर्य की समझ काफ़ी पैनी और सतर्क हो, तभी वह कुछ पा सके। कहीं तो भाषा में गज़ब की संक्षिप्तता और बाँकपन, और कहीं विलक्षण प्रसादात्मकता और संत-वाणी का भोलापन।

"प्रगतिवाद के पीछे की मूल-दृष्टि में मानता हूँ कि कुछ दूसरी तरह की है। उसके लिए राजनैतिक प्रयाजन साध्य और सांस्कृतिक हेतु साधना है, साहित्य की वहाँ आवश्यकता है, तो इसलिए कि राजनीति पुष्ट हो। मनुष्य वहाँ समूह के लिए है। आदि और अन्तिम लक्ष्य वहाँ शासन या शासन में परिवर्तन है। व्यक्ति अपने में नहीं, बल्कि समूह में लय होकर सार्थक है। उस दृष्टि से मेरा मतभेद है, यह कहना अधिक अर्थकारी नहीं। पर जो कहना चाहूँगा, वह यह कि यह दृष्टि असाहित्यिक है, क्योंकि विधान के पीछे होकर मानव-चित्त और मानव-हित से वह असंलग्न हो जाती है।"

—'प्रगतिवाद'

ऊपर के अवतरण में भाषा संक्षिप्त रूप लेकर आई है। शब्द कम है, अर्थ गहन, विस्तृत और व्यापक। थोड़े में बहुत कहने का यह उद्धरण एक स्वस्थ नमूना है। शैली के प्रकार की बात कहें, तो यह विवेचनात्मक श्रेणी में आयगी।

शैली के लिए नीचे दिये गये अवतरण भी देखे जा सकते हैं—

"उस नीयत का मुँह बाहर न दीखता हो; पेट में छिपी उसकी जड़ है ज़रूर।"

"दिलेरी डर से पैदा होती है।"

"हम में स्वरक्षा की वासना है, तो आत्मदान की भावना भी है।"

"दिये बिना चल नहीं सकता, जैसे लिये बिना नहीं चल सकता।"

"नहीं तो बात ऐसी भी कही जाती है, कि मुक्के-सी मुस्तैद और तीर-सी तीखी लगे।"

"घर घाट के नहीं रह गये। बारह बाट हो गये।"

"व्यवस्था का दिल काग़ज़ी है। काम उसके दफ़्तरी हैं।"

"जो वस्त्र नहीं जानते, उन्हें प्रकृनि छाल-खाल-बाल पहनाती है।"

"मत पता लगने दो कि नीचे जान है।"

उपस्थित अवतरणों से जैनेन्द्र जी की शैली की अनेक विशेषताएँ, निजताएँ, विविधताएँ और विलक्षणताएँ सामने आती हैं। कहने के ढँग में कहीं लक्षण से काम लेते हैं, कहीं विरोधाभास से। 'स्वरक्षा की वासना' और 'आत्मदान की भावना' में शब्द-प्रयोग की कलात्मकता और अर्थ-प्रकाशन की विशेषता है। कहीं क्रिया में ही कर्म का समाहार है, कहीं कर्त्ता का। कहावत भी कहीं भाषा का रूप लेती है, कहीं व्यंजना अभिव्यंजना का। 'बाल' और 'जान' में अर्थ-विस्तार का कमाल है, 'दिल

कागज़ी' में व्यंग्य की सार्थकता । 'मुक्के-सी मुस्तैद' और तीर-सी तीखी' में उपमा की सफलता मिलेगी । उपमा ऐसी जमकर बैठी कि उदाहरण बन गई ।

जैनेन्द्रजी के कथन में प्रश्नात्मकता एक व्यापक विशेषता है । यह ढँग बहुत प्रभावशाली । प्रश्न से ही वह निर्णय का काम लेते हैं—प्रश्न ही उत्तर बनता है । प्रश्नों की एसी बेरोक बौछार करते हैं कि पाठक लेखक के विचारों की बाढ़ में बह जाय । एक-एक प्रश्न विषय-विवेचन में नवीन विचार बनकर आता है । प्रश्नों की लड़ी विचारों की झड़ी बनती है । अपनी बात कहते-कहते भी बीच-बीच में प्रश्न करते जाते हैं और उन प्रश्नों में निराली वक्रता, शक्ति, प्रभावोत्पकता होती है । 'यह नहीं तो क्या ?', 'क्या' कुछ है नहीं', तो 'यही' सत्य है, ऐसी ध्वनि इनके प्रश्नों में रहती है । प्रश्न-शैली का एक उदाहरण लें—

"मुझे इस दया के विपक्ष में कुछ कहना नहीं है । जो दया कर सकता है उसे दया करनी चाहिए । लेकिन यह बात मेरे मन में जरूर उठती है कि अपने को दयावान की जगह पर पाना और इस तरह दूसरे को दयनीय स्थिति में डालना क्या उचित है ? क्या इससे हालत कुछ सुधरती है ? क्या यों विषमता बढ़ती ही नहीं है ? क्या इससे बखेड़ा थोड़ा भी निपटता है ? क्या इससे भिखारी से उसका भिखारपन तनिक भी उतरकर दूर होता है ? क्या ऐसी दया अपने दायित्व से बचने का ही एक जतन नहीं है ? क्या यह दया आत्म-विसर्जन के विरोध में आत्म-संरक्षण का ही एक ढँग नहीं है ? क्या आत्म-ग्लानि को इस बहाने हम टाल ही नहीं जाते हैं ? एक मुट्ठी नाज या उतरा कपड़ा या ताँबे का पैसा देकर क्या अपने मान को ही दुरुस्त रखने की कोशिश हम नहीं करते हैं —'जड़ की बात', पृष्ठ ६४

अनेक शब्दों का विलक्षण और असामान्य प्रयोग भी जैनेन्द्रजी की भाषा-शैली को निराला निजीपन देता है । इनके प्रयोग की सान पर चढ़ घिसे सिक्कों से उपेक्षित निस्तेज शब्द भी चमक उठते हैं । सामान्य, सर्वपरिचित अर्थ-त्याग नवीन अर्थ वे पाते हैं—अर्थ-निर्धन शब्द भी अपूर्व अर्थ-गरिमा-सम्पन्न बनते हैं । व्याकरण प्रदत्त स्वरूप भी उनका बदलता है—नया स्वरूप उन्हें मिलता है ।

'जड़ की बात' से कुछ अवतरण—

"इसी भाँति कविता पर बैठकर राष्ट्रीयता से आगे बढ़ना बस न होगा । कविता में कल्पना तो उड़ती, पर पैर स्थिर रहते हैं ।" —पृष्ठ ४१

"कवि का काम ज़रूरी है । पर उससे उतरे काम भी हैं, जो कम ज़रूरी नहीं हैं । कवि से कुछ उतरा एक व्यक्ति हुआ—मार्क्स ।··· ····उसे आस-पास के लोगों में फाँक नहीं नजर आई, कोई बुनियादी फ़र्क नहीं नजर आया ।"

—पृष्ठ ४१

"लेकिन गणनीय रहा क्योंकि राष्ट्रीयता को उसने निभाव दिया।"

—पृष्ठ ४५

"यहा ज़रूरी है कि श्रामता की कथा को बाद दें।" —पृष्ठ १९४

'पूर्वोदय' से कुछ अवतरण—

"सब पुरातन में तब प्रतिगामिता दीख आई और सब नूतन में प्रगति। परम्परा का इंकार क्रान्ति का स्वीकार बना।" —पृष्ठ २१७

"साहित्य उसे शब्दों के मनोरम में मूर्त्त करता है।" —पृष्ठ २१७

अन्य उदाहरण—

"वास्तव की ओर से उसका मूल्य शून्य ही हो सकता है।"

"लेकिन कौनसा-विस्मय कालान्तर में सस्ता नहीं पड़ जाता।"

ऊपर के अवतरणों में 'बस', 'स्थिर', 'उतरे', 'उतरा', 'फाँक', 'निभाव', 'बाद दें', 'मनोरम', 'पुरातन', 'नूतन', 'स्वीकार', 'वास्तव', 'सस्ता'—शब्द जैनेन्द्रजी के निज को प्रकट करते हैं। स्पष्ट है, इन शब्दों का अर्थात्मक और रूपात्मक स्वरूप ही बदल गया।

विलक्षण प्रयोग ही नहीं, विचित्र निर्माण भी वह शब्दों का करते हैं।

"रुपये की तरफ़ उन मोटर वालों की सावधानता देखी ही जा चुकी है।"

"वही आदमी जब नफ़रत की गन्दीली गाँठ बन आम सड़क पर पड़ा हुआ है।"

"ये दाग़ीले कपड़े लेकर कहाँ घुसे चले आ रहे हो?"

"आज की संस्कारिकता तो विलास है, जो मुट्ठी भर लोगों को प्राप्त है।"

"उन महापुरुषों के चरित का क्या अर्थ है, जो स्वेच्छा से मृत्यु को स्वीकारते हैं।"

ऊपर दिये गये वाक्यों में 'सावधानता', 'गन्दील', 'दाग़ीली', 'संस्कारिकता', 'स्वीकारते हैं'—जैनेन्द्रजी ने अपने ही ढँग पर बनाये हैं। 'मैटरी वृत्ति', 'भिखाई', 'भिखारपन', 'उटोपियो' भी इसी प्रकार के शब्द हैं। विदेशी शब्दों में संस्कृत का 'इल' प्रत्यय जोड़कर 'गन्द' से 'गन्दीली' और 'दाग़' से 'दाग़ीले' बना लिये गये हैं। मैटर (Matter) से 'मैटरी' विशेषण बनाया गया—'मैटरी वृत्ति'। इसी प्रकार यूटोपिया (Utopia) से 'उटोपियो' उत्पन्न हो गया। 'काम' से जैसे 'कमाई'; वैसे ही 'भीख' से 'भिखाई', 'स्वीकार करते हैं' के स्थान पर 'स्वीकारते हैं' भी क़लम की क़िफ़ायत है।

तत्सम शब्दों की अपेक्षा तद्भव और देशज शब्दों की अधिक स्वीकृति ही नहीं, उनकी ओर आग्रह भी है। घर-घाट और हाट-बाट में चालू, सामान्य जन-सुलभ और

सुपरिचित शब्दों को विशेष आदर यह देते हैं। तत्सम शब्द अधिकतर स्थिति, विवेचन, परिभाषात्मक मर्यादा की अनिवार्यता के कारण ही स्थान पाते हैं। बोलचाल के व्यावहारिक घरू और घिसे शब्दों का महत्त्व इनकी भाषा में बहुत है। 'जुगत', 'जतन', 'पाँत', 'भरमाना', 'धन्धा', 'आपसीपन', 'भिखारपन', 'निभाव', 'चौकसी', 'बदाबदी', 'उपजाना', 'पास-पड़ौसपन', 'जड़ की बात', 'बढ़वारी', 'बैठालना', 'चौखूंट', 'बाज़ीगर दुबका है', 'उसके डेरे पर पाँच हज़ार की जमा मिली'—शब्द समूह इनके भाषा-सिद्धान्त के सही साक्षी हैं।

अंग्रेज़ी और उर्दू शब्द भी यह धड़ल्ले से प्रयोग करते हैं। अनेक उर्दू शब्द तो हिन्दी में ऐसे घुल-मिल गये हैं, कि वे अब पराये लगते ही नहीं। ऐसे शब्दों का बहिष्कार भी भाषा के प्रति निर्ममता है। इन घुले-मिले शब्दों की गिनती गिनना ही व्यर्थ है, ये तो इनकी भाषा में तत्सम शब्दों से अधिक आदर और अधिकार लेकर आते हैं। उनके सिवा भी अनेक शब्द अतिथि बनकर आते हैं और घर के बनकर बैठ जाते हैं। कभी तो पूरा वाक्य ही उर्दू का होता है—"हुकूमत और सियासत में रहने वालों के दिमाग कुछ इस दुई के आदी और हिमायती हो भी गये हों, मुल्क का दिल इसके लिए तैयार न था।"

"यानी पैसे में जो ताँबा है, उसे खाओ तो, चाहे वह किसी क़दर ज़हर ही साबित हो, फिर भी पैसे की क़ीमत है।"

पर ऐसे स्थल कम ही हैं। उर्दू शब्द भी, अनुपात में बहुत नहीं। नीचे दिये शब्द सामान्य रूप से इनकी भाषा में मिल जाते हैं—

'ज़्यादती', 'गुनाह', 'हाक़िम', 'महकूम', 'मंज़िल', 'फ़ुर्सत', 'ज़ोर', 'अदना', 'ज़िल्लत', 'परेशानियाँ', 'नफ़ा-नुक़सान', 'मानिन्द', 'बददुआ', 'गुनहगार', 'बेवकूफ़ी', 'अमन', 'आलीशान', 'हरकत', 'ताबे', 'ताहम', 'आयद', फ़रज़ी', 'महफ़ूज़', 'मिल्कियत', 'वल्लाह', 'नाचीज़', 'गुस्ताखी', 'कैफ़ियत', 'बरपा', 'सियासत', दुई', 'आदी', 'हिमायती', 'नक़ब'।

अंग्रेज़ी शब्द दो रूपों में इनकी भाषा में आते हैं, एक तो अपने अंग्रेज़ी स्वरूप को सँभाले हिन्दी-शब्दों के समान, दूसरे परिभाषात्मक अनिवार्यता की स्थिति में। पहले प्रकार के शब्दों का प्रयोग ऐसे हुआ है, जैसे वे हिन्दी में ही पले, सामान्य जन-परिचित और स्वीकृत हों। 'एडीटर', 'डिक्टेटर', 'पार्टी', 'फण्ड', 'सोशलिज़म', 'कम्युनिज़म', 'स्टेट', 'प्लान', 'इनफ़्लेशन', तो सामान्य पाठकों के बन गये हैं, पर अनेक शब्दों को पराया ही कहा जायगा। दूसरे प्रकार के शब्दों को कोष्ठक में रखा गया है, वे हिन्दी शब्द की गहनता और व्याप्ति को सही रूप देने के लिए आये हैं। उनमें भी अनेक शब्दों का प्रयोग न तो आवश्यकता की माँग है, न

विवशता की। कुछ तो ऐसे भी शब्द शौक़ के लिए आ गये, जो निकम्मे समाज-सेवकों की तरह भीड़ ही बढ़ाने में लगे हैं।

प्रथम प्रकार से प्रयुक्त होने वाले शब्द—

Masses, Classes, Theory, Knowledge, Becoming, Party, Labour, Devide and rule, Statics, Industrialisation, Type, Proletariate, Dictator. Totalitariate, March, Editor, Matter, Fund, Common sense, Law and order, Scheme, I help myself to it, Plan, Social economy, State capitalism. Will, Will-power, energy, Investment, National socialism, Inflation, Power Politics.

पारिभाषिक अनिवार्यता के रूप में प्रयक्त शब्द—घटक (Unit) राष्ट्रीयता (Nationalism), राष्ट्रीय राज्य (National State), लोभवृत्तिक (Romantic), तनाव (Tenson), मायावी (Capitalistic), समाज-शास्त्र (Social science), मानव-शास्त्र (Psychology), अधिकतम लोगों का अधिकतम हित (Greatest good of the greatest number), दर्जी-बन्दी (Regimentation), व्यक्तिवाद (Individualism) सनक़ (Idiosyncracy), तात्कालिक समाज-स्थिति (Status Quo), कालान्तर (Perspective), भाग्य-पुरुष (Man of destiny), क्षणोत्साह की वृत्ति (Romantic), सत्याग्रह (Direct action), सनकी (Cranks), पाओ ताक़त (Capture power), दीनभाव (Sense of inferiority), मनोविश्लेषण (Psycho analysis), लोकनेता (Democratic leaders), राजनेता (Diplomats), स्वर्ग-चित्र (Utopias), महत्वाकांक्षा (Ambition), फ़रेब (Illusion) अधिनायकता (Ideological, *ie.* Dictatorial Totalitarianism), गुण (Quality), परिमाण (Quantity), ऐहिक लोक-राज्य (Democratic secular state)।

इस शब्द-सूची में अनेक शब्द हैं, जिनका अंग्रेज़ी पर्याय देने की आवश्यकता नहीं। वे स्वयं अपने रूप में समझे-बूझे हैं। अनेक का पर्याय निश्चित अर्थ भी नहीं देता।

अनेक निबन्धों का आरम्भ चुभीली घटना या फबीली बातचीत से होता है। 'दही और समाज', 'दीन की बात', 'जड़ की बात', 'पैसा : कमाई और भिखाई', 'व्यवसाय का सत्य', 'बाजार दर्शन', इसी प्रकार के निबन्ध हैं। बीच-बीच में

बातचीत और घटनाएँ भी आती रहती हैं; पर यथार्थ और वर्तमान जीवन की—अधिकतर आपबीती। इससे निबन्ध में ताज़गी तो रहती ही है, यथार्थ की कसौटी भी उसमें पाठक पाता है। घटनाएँ प्राचीन इतिहास-पुराण आदि से उठाकर नहीं लाते; तभी तो उदाहरण और दृष्टान्त अधिक विश्वस्त, प्रभावशाली और प्रेरक बन जाते हैं। लेखक की मौलिकता, चिन्तन-प्रखरता, अपने प्रति आस्था और निज कथन की सत्यता का पता एक और बात से भी लगता है—वह अपने समर्थन के लिए पुरातन साहित्य, शास्त्र, दर्शन आदि से उद्धरण नहीं देते। यह प्रवृत्ति आत्मविश्वासी अहं की सबसे बड़ी पहचान बनती है। पैरों में बल है, किसके कंधे का अवलम्ब लिया जाय और क्यों? अवतरण को हम तो निबन्ध की सबसे बड़ी निर्बलता समझते हैं। मधु कितना मधुर है, बसन्त कितना मादक, यह बताने के लिए कालिदास का श्लोक उद्धृत किया, तो मैं समझूँगा, लेखक न बसंती मादकता ही की अनुभूति पाता है, न मधु के मिठास को जानता है। भोजन करने से क्षुधा शांत होती है, इसके लिए क्या चरक-सुश्रुत से सबूत देना पड़ेगा। जैनेन्द्रजी अवतरण-बाजी की व्यर्थता को खूब समझते हैं। इसके सैकड़ों पृष्ठों में शायद ही दो-चार पंक्तियाँ अवतरण के नाम पर मिलें। अनेक स्थलों पर इनके निबन्धों में नाटकीय कथोपकथन का मज़ा आता है, कहीं तीव्रता, कहीं चुस्ती। सामने वैसा ही चित्र-सा खड़ा हो जाता है।

एक अवतरण—

"ओः, आप मोटर से उतरे हैं; आप राय साहब हैं; अजी आपके कपड़े और शक्ल बतलाती है, आइये आइये धन्य भाग्य! तशरीफ़ लाइये, और तुम हटो, निकलो! यह दाग़ीले कपड़े लेकर कहाँ घुसे चले आरहे हो? क्या? बीमार! सड़क! तो मैं क्या जानूँ; उस गरीब को उठाने में कपड़े खराब होंगे। बस, बस, बको मत; चलो, हटो।" —'जड़ की बात', पृष्ठ ७

अधिक-से-अधिक सूक्ष्म, कठोर, कठिन और परीक्षात्मक कसौटी पर भी जैनेन्द्र के निबन्ध श्रेष्ठता और सफलता की चमकीली लकीर खींच देते हैं। मतलब—इनमें विचारात्मक निबन्ध की परिभाषात्मक मर्यादाएँ और भी गौरवान्वित हुई हैं। विचारों की मौलिकता, उमड़ती भीड़, तर्कसम्मत शक्ति, इनके निबन्धों में मिलेगी—विषय-विविधता, स्वाधीन चिन्तनशीलता, कथन की विदग्धता, प्रभावशाली प्रौढ़ता और अहं के प्रति अवस्था को कसौटी मानें तो जैनेन्द्र की तुलना में किसे रखें, तय करना सरल नहीं।

"कल्पना भाव-राज्य की नायिका है। कर्म से व्यवहार बनता है। कल्पना-प्रधान साहित्य होता है। कर्म-प्रधान है राजकारण। एक दूसरे से विमुख होकर

दोनों बन्धनकारक होंगे । उनकी परस्पर सम्मुखता और एकता से ही दुःख कट सकता है । और उन दोनों की एकता होगी आत्म-धर्म के नीचे । साहित्य निरंकुश नहीं हो सकता। और राजकारण अंकुशधारी हो, इसमें और भी अनर्थ है । जैसे कर्म भावना के पीछे चलता है, वैसे राजकारण स्वभाव से ही साहित्यानुवर्ती होगा। साहित्य आज जो पहचानता है, राजकरण कल उसी को अपने हिसाब में उतारेगा। राजकारण की सत्ता तो और भी स्वच्छन्द नहीं है । पर दोनों ही वे आत्मवश चाहिएँ। आत्म-धर्म से स्वाधीन होकर जैसे कोई इच्छा हेय है और कर्म अनिष्ट है, वैसे ही मानव-धर्म के विरुद्ध होकर साहित्य और राजकारण अनिष्ट हैं। व्यक्ति का धर्म है, अपने व्यक्तित्व में ऐक्य-सम्पादन। मानव का धर्म है, मानव-जाति का ऐक्य-साधन। ऐक्य का नाम है सत्य जो एक वही सत्। उस एकता की अनुभूति के द्वारा प्रेरित कर्म की प्रकृति होगी अहिंसा। सत्य की अवस्था और अहिंसा के आचरण से ही दुःख कट सकता है। अन्यथा वह नहीं टल सकता; हाँ, बढ़ तो सकता ही है।"

—'दुख'

अवतरण में एक-एक पंक्ति नवीन विचार उपस्थित करती है, इनके निबन्धों से चिन्तन-तंतु उत्तेजित होते हैं। इनसे पाठकों को 'मानसिक श्रम-साध्य नूतन उपलब्धि' प्राप्त होती है । बुद्धि नयी विचार-पद्धति पर दौड़ चलती है। मन आलोकमय विकास की ओर अग्रसर होता है।' शुद्ध विचारात्मक निबन्धों का चरम उत्कर्ष वहीं कहा जा सकता है, जहाँ एक-एक पैराग्राफ़ में विचार दबाकर कसे गये हों और एक-एक वाक्य किसी सम्बद्ध विचार-खण्ड को लिये हो, आचार्य शुक्ल की परिभाषा की मर्यादाएँ अत्यन्त स्वस्थ आकार में जैनेन्द्र के निबन्ध उपस्थित करते हैं ।

शैली के प्रकार के विचार से इनके अधिकतर निबन्ध विवेचनात्मक हैं। शैली के कसाव और सूक्ष्मता के कारण कहीं भी विवेचना अधिक बोधगम्य नहीं हो पाई—प्रसादात्मक होने का प्रश्न ही नहीं । हाँ, कुछ निबन्ध प्रसाद-शैली में भी लिये जा सकते हैं ।

विवेचनात्मक शैली के लिए निम्न अवतरण देखें—

"सत्य, शिव, सुन्दर—ये तीनों एक वज़न के शब्द नहीं हैं। उनमें क्रम है और अन्तर है।

सत्य-तत्त्व का उस शब्द से कोई स्वरूप सामने नहीं आता। सत्य सत्य है, कह दो, सत्य ईश्वर है । यह एक ही बात हुई। पर वह कुछ भी और नहीं है, वह निर्गुण हैं। वह सर्वरूप है, संज्ञा भा है, भाव भी है।

सत् का भाव सत्य है। जो है वह सत्य के कारण है, उसके लिए है। इस दृष्टि से असत्य कुछ है ही नहीं । वह निरी मानव-कल्पना है। असत् भावी जो

नहीं है। जो नहीं है, उसके लिए यह असत् शब्द भी अधिक है। इसलिए 'असत्य' शब्द में निरा मनुष्य का आग्रह ही है, उसमें अर्थ कुछ नहीं है। आदमी ने काम चलाने के लिए वह शब्द खड़ा कर लिया है। यह कोरी अयथार्थता है।"

× × ×

"सत्यं, शिवं, सुन्दरम्, यह व्याख्यात्मक पद ही नहीं है, सजीव पद है। जीवन का लक्षण है, गति। इस पद में गति है, उद्बोधन है। सुन्दर की ओर, फिर सुन्दर से क्रमशः शिव और सत्य की ओर प्रयाण करना होगा—यह ज्वलंत भाव इसमें भरा है। यों भी कह सकते हैं कि सत्य को शिव-रूप में उतारकर ध्यान में लाओ, क्योंकि यह सरल है। और शिव को भी सुन्दर रूप में निहारो, क्योंकि यह और भी सहज स्वाभाविक है। किन्तु सुन्दर की मर्यादा है, शिव की भी मर्यादा है। और दोनों ही की मर्यादा है सत्य। सत्य में सब कुछ अपनी मर्यादाओं समेत मुक्त हो जाता है।"

—'सत्य, शिव, सुन्दर'

अंत में इतना कहना पर्याप्त होगा, जैनेन्द्र के निबन्ध पढ़े बिना हिन्दी के विचारात्मक निबन्ध और गद्य-शैली के विकास का अध्ययन अपूर्ण है।

४

रामवृक्ष बेनीपुरी

युग की नवीनता धरती की बात लेकर बेनीपुरीजी के भावात्मक निबन्धों में उतरे। 'माटी की मूरतें', 'गेहूँ और गुलाब' और अनेक फुटकर निबन्ध आपके प्रकाशित हो चुके हैं। 'माटी की मूरतें' में स्कैच हैं। 'गेहूँ और गुलाब में' स्कैच-कला कम है, निबन्धात्मकता अधिक शुद्ध रूप में आप प्रगतिवादी नहीं, प्रगतिवाद से प्रभावित अवश्य हैं—उसके समर्थक भी। 'माटी की मूरतें' युग की माँग का उत्तर है। इसमें उपेक्षित मानव को कला का माध्यम और उद्देश्य बनाया गया है। 'गेहूँ और गुलाब' में जैसे कलाकारों को निर्देश किया गया हो, "अब मानव मानव की उपासना करे, मानव की वंदना करे। भगवान की स्तुतियाँ बहुत हुईं; हमारी कविता और गीत अब मानव की अलिखित यशोगाथा को छन्दोबद्ध करे। मानव की ही खोज में, मानव की साधना दौड़े—उच्छ्‌वासित, चंचल, क्रियाशील मानव-मस्तिष्क अपने ही लिए अपने को पुष्पित और फलित करे।"

—पृष्ठ ४३

मानव को स्वावलम्बी बनना होगा, तभी उसकी मुक्ति है, "परमात्मा की ओर हमने बहुत देखा, अब अपने पुरुषार्थ की ओर देखें।"

—पृष्ठ ४५

'गेहूँ और गुलाब' में संगृहीत—'चरवाहा', 'नथुनिया', 'नींव की ईंट', 'पुरुष और परमेश्वर', 'डोमखाना', 'पनिहारिन'—निबन्ध भी बेनीपुरीजी की प्रगतिशीलता के परिचायक हैं। पर जब वह 'गेहूँ और गुलाब' की बात करते हैं, उनकी वाणी में कोई और ही सुर बोलता है। 'गेहूँ' (भूख, रोटी, सांसारिक अभाव) की बात से अधिक महत्त्व देते हैं 'गुलाब' (संस्कृति, कला, साहित्य और जीवन से परे) की बात को। अपनी बात को सतर्क भावात्मकता के साथ वह भी उपस्थित करते हैं—

"रात का कालाधुप्प पर्दा दूर हुआ, तब वह उच्छ्‌वासित हुआ, सिर्फ़ इसलिए नहीं कि अब पेट-पूजा की समिधा जुटाने में उसे सहूलियत मिलेगी; बल्कि वह आनन्द-विभोर हुआ ऊषा की लालिमा से, पृथ्वी पर चमचम करते लक्ष-लक्ष ओस-कणों से! आसमान में जब बादल उमड़े, तब उनमें अपनी कृषि का आरोप करके ही वह प्रसन्न नहीं हुआ; उनके सौन्दर्य-बोध ने उसके मन-मोर को नाच उठने के लिए लाचार किया; इन्द्रधनुष ने उसके हृदय को भी इन्द्रधनुषी रंगों में रंग दिया।"

"मानव-शरीर में पेट का स्थान नीचे है; हृदय का ऊपर और मस्तिष्क का सबसे ऊपर ! पशुओं की तरह उसका पेट और मानस समानान्तर रेखा में नहीं है। जिस दिन वह सीधे तनकर खड़ा हुआ, मानस ने उसके पेट पर विजय की घोषणा की।"

"गेहूँ की आवश्यकता उसे है; किन्तु उसकी चेष्टा रही है गेहूँ पर विजय प्राप्त करने की। उपवास, व्रत, तपस्या आदि उसी चेष्टा के भिन्न-भिन्न रूप हैं।"

—'गेहूँ और गुलाब', पृष्ठ ६

स्पष्ट है, बेनीपुरीजी गेहूँ से पहले गुलाब की आवश्यकता मानव के लिए मानते हैं। 'ऊषा की लालिमा' और 'लक्ष-लक्ष ओस-कणों' से मानव 'आनन्द-विभोर' होता है, 'इन्द्रधनुष उसके हृदय को भी इन्द्रधनुषी रंगों में रंग देता है' इसमें सन्देह नहीं; पर 'गेहूँ' के अभाव में तारे गिनते और बेचैनी की करवटें बदलते जिसकी रात कटी है, वह भी क्या सचमुच 'ऊषा की लालिमा' और 'लक्ष-लक्ष ओस-कणों' से 'आनन्द-विभोर' होगा? इन्द्रधनुष क्या उसके हृदय को भी 'इन्द्रधनुषी' रंगों में रंग देगा ? जिसकी पुतलियों में हज़ारों लम्बे-लम्बे दिन बिना गेहूँ के रेंगते हुए पुतलियों की लौ को मसलते चले जाते हैं, उसके लिए ऊषा में न लालिमा मिलेगी, न इन्द्र-धनुष में रंगीनी। 'मानव-शरीर में पेट का स्थान नीचे है, हृदय का ऊपर और मस्तिष्क का सबसे ऊपर' इसमें सन्देह नहीं, पर 'नींव की ईंट' का महत्त्व अधिक या दीवारों का ? मस्तिष्क और हृदय का स्थान ऊपर होते हुए भी 'पेट के परिश्रम' पर ही उनका जीवन निर्भर है। और गेहूँ के खेतों की जो प्राणवान संस्कृति है, गुलाब के बाग़ की नहीं, वह तो प्राणहीन विलासिता है—पलायनवाद। इसके सिवा, मस्तिष्क का स्थान ऊपर है, तो इसलिए कि वह युग की माँग को समझे।

विश्वास और विचार का भेद होते भी जहाँ तक निबन्ध के स्वरूप और कला का प्रश्न है, बेनीपुरी की रचनाएँ हिन्दी के उत्कृष्ट भावात्मक निबन्धों में गिनी जायँगी। एक भावुक हृदय का आवेग इनमें है, भावोच्छ्वास के रसीले स्वर इनमें बजते हैं। स्पष्ट स्वस्थ व्यक्तित्व इनमें मूर्तिमान है। भाषा का अत्यन्त चलता व्यवहारिक सार्थक, सहज और स्वच्छ रूप इनमें मिलेगा। भाव, वातावरण, समय और संयोग के अनुरूप भाषा रूप-संघटन करती है। 'लागत करेजवा में चोट', 'शौके दीदार अगर है तो नज़र पैदा कर'—परभाषा के वाक्य भी फ़िट हुए मिल जाते हैं। भावुकता कल्पना के पंख लगा, अतीत की सीमाएँ नाप लाती है, 'अपनी कल्पना की दुनियाँ में कितनी ही शरद पूनों को मैं वृन्दावन पहुँचा हूँ, कृष्ण से बातें की हैं, गोपियों से चुहलें हुईं और उनकी रासलीला का सुख लूटा है।'

क्रियाओं का अभाव, संक्षिप्त वाक्य—शैली को अत्यन्त प्राणवान बना देते हैं। "चपला' की चमक, बादलों के ऊपर अष्टमी का चन्द्रमा, शरद की पूर्णिमा, अमा

निशीथ, सरसों के समुद्र में······" में शैली की चपलता और चित्रात्मकता सजग है। सजग, सक्रिय चित्रात्मकता का एक और उदाहरण—"क्या बूढ़े हिमालय को ही आज युगों के बाद कुछ रास-रंग का शौक चर्राया है और उसने ही अपने स्वर्ण-मृगों को इन बादलों के वन में कुलाचें लेने को छोड़ दिया है? वह उनकी पूँछें चमकीं, उनके पैर चमके, उनके सींग चमके, उनके नथुने चमके। बादलों के वन में इन स्वर्ण-मृगों की कुलाचों के कारण ही तो ये शब्द हो रहे हैं। कभी अकेली मृगी दौड़ी—मधुर-मधुर शब्द हुआ। कभी पूरा मृग-झुण्ड दौड़ा—अजीब गड़गड़ाहट हुई।"

—'गेहूँ और गुलाब', पृष्ठ ४६

भावात्मकता की रस-वर्षा करने वाला एक अवतरण देखें—

"सामने जहाँ तक नज़र जाती है, समुद्र ही समुद्र है। उसमें ज्वार आया है। बड़ी-बड़ी तरंगें उठतीं, एक दूसरे से टकरातीं, फेन उड़ातीं, गर्जन करतीं, आगे बढ़तीं, और बाँध पर सर पटककर फिर लौट जातीं। ऊपर जो पूर्णचन्द्र आधी रात तय करके सर पर खड़ा मुस्करा रहा है, उसकी मुस्कराहट उन तरंगों पर अठखेलियाँ कर रही हैं। कभी-कभी मालूम होता है, किसी अदृश्य छोर को पकड़कर शत-सहस्र ज्योत्स्ना-कुमारियाँ चन्द्रमण्डल से एक-एक कर उतर रही हैं और आकुल-व्याकुल समुद्र की इन तरंग-मालाओं के कम्पित अधरों को चूम-चूमकर अट्टहास कर उठती हैं। इन चुम्बनों की मादकता से मतवाली बनी तरंगें आप अपने में नहीं समातीं, समुद्र को नीचे छोड़कर ऊपर उड़ना चाहती हैं; किन्तु उड़ नहीं पातीं, फलतः बार-बार मूर्छित होकर, हाहा खाकर गिर-गिर पड़तीं और फिर ज्यों ही होश में आतीं, वे ही निष्फल चेष्टाएँ! स्वभावतः ही ज्योत्स्ना-कुमारियों को इसमें मज़ा मिल रहा है, वे भी इस तड़पन का तमाशा देखने को बार-बार चुम्बनों की वर्षा भी किये जा रही हैं।"

—'गेहूँ और गुलाब', पृष्ठ ६५

बेनीपुरीजी के निबन्धों में दो शैलियाँ मिलती हैं—प्रसाद और आवेग। अधिकतर प्रथम शैली के दर्शन होते हैं। आवेग-शैली सहायक रूप में आती है—कुछ निबन्धों में प्रधान रूप में भी। प्रकार की दृष्टि से इनके अधिकतर निबन्ध भावात्मक, वर्णनात्मक और विवरणात्मक हैं—विचारात्मक और आत्मपरक बहुत कम।

५

हजारीप्रसाद द्विवेदी

(प्राचीन और नवीन का सानुपातिक स्वस्थ और स्वाभाविक सामंजस्य सरल नहीं—यदि हो सके, तो भारी सफलता। इसी का प्रयत्न हजारीप्रसाद द्विवेदी के निबन्धों में मिलेगा। सनातन जीवन-दर्शन, प्राचीन ज्ञान और साहित्य-सिद्धान्त को नवीन अनुभवों से मिलाकर—आपने निबन्ध-रचना की। आपके निबन्ध गहन अध्ययन के विस्तृत पट पर बने वर्तमान जागरण के मनोहर चित्र हैं। रंग पुराने हैं, चमक नवीन; प्राण प्राचीन हैं, गति आधुनिक, आस्थाएँ श्रद्धा प्रेरित हैं, उनको जीवन का स्वरूप देने वाला कर्म विज्ञान-सम्मत। साधारण और सामान्यतम विषय पर लिखे गये निबन्ध में भी आपका प्राणवान पाण्डित्य और सूक्ष्म चिन्तन मधुर-मुग्ध शैली में बोलता है। सभी सीमा-क्षेत्रों से निबन्ध के विषयों का चुनाव, प्रकार और शैली की अनेकरूपता; संस्कृति-समन्वय, मानव के प्रति अकम्पित आस्था और ज्योतिर्मय भविष्य की आशा; आपको हिन्दी-निबन्धकारों में गौरवपूर्ण स्थान दिलाती है।)

(विविधता को कसौटी मानें तो द्विवेदीजी हिन्दी में अप्रतिम हैं। 'धर्मस्यतत्वं निहितं गुहायाम', 'भारतीय संस्कृति की देन', 'संस्कृतियों का संगम'—सांस्कृतिक; 'केतुदर्शन', 'ब्रह्माण्ड का विस्तार', 'भारतीय फलित ज्योतिष'—ज्योतिष-सम्बन्धी; 'प्रायश्चित की घड़ी', 'आन्तरिक शुचिता को आवश्यकता है'—नैतिक; 'अशोक के फूल', 'वसन्त आ गया', 'आम फिर बौरा गये'—वृक्ष-ऋतु-विषयक; 'समालोचक की डाक', 'साहित्य का नया क़दम', 'आलोचना का स्वतन्त्र मान', 'क्या आपने मेरी रचना पढ़ी है ?' 'मनुष्य की सर्वोत्तम, कृति साहित्य'—सिद्धान्त-समीक्षात्मक; आपके निबन्धों की विविधता के साक्षी हैं।)

(भारतीय संस्कृति और प्राचीन इतिहास के प्रति भी आपकी इतनी आस्था और ममता है कि इसे प्रकट करने के लिए आप अवसर निकाल लेते हैं।) 'अशोक के फूल', 'भारतीय फलित ज्योतिष', 'मेरी जन्म-भूमि' में आपके संस्कृति-प्रेम और इतिहास-ज्ञान का प्रमाण मिलता है, भावुक हृदय और स्निग्ध नयन से भारतीय संस्कृति का ज्योतिपुँज अतीत देख आप कभी गद्-गद् होते हैं, कभी उन चित्रों को पाठकों की पुतलियों के सम्मुख उपस्थित करते हैं, और कभी संस्कृति का शुद्ध स्वरूप खड़ा करते हैं।

(इनके विश्वासानुसार भारतीय संस्कृति का स्वरूप संकुचित, सीमित, स्थान या काल-विशेष का बंदी नहीं, अत्यन्त विशाल और स्थान-कालातीत है। वह किसी धर्म, विश्वास, आस्था-परम्परा, जाति-समूह या दल-विशेष से सम्बद्ध नहीं, समस्त भारत भू-भाग में फला-फूला है—विशाल भारत में पनपा और समाया है। संस्कृति का वह प्रवाह अनादिकाल से भारत-वसुंधरा पर जीवन को सींचता बह रहा है, अनेक जातियों, समूहों और दलों के धर्मों-विश्वासों-आस्थाओं और अनुभूतियों की धाराएँ उसमें मिलती रहीं। वे उसके प्रवाह को तीव्र और धारा को निर्मल बनाती रहीं।) इस बात की याद भी द्विवेदीजी बार-बार दिलाते रहते हैं कि भारत एक महामानव-समुद्र है। विभिन्नताओं में अभिन्नता इसका प्राण है, सामंजस्य इसका सौन्दर्य। सभी वर्गों की एकता में इसका जीवन—

"असुर आये, आर्य आये, शक आये, हूण आये, नाग आये, यक्ष आये, गंधर्व आये—जाने कितनी मानव-जातियाँ यहाँ आईं और आज के भारतवर्ष के बनाने में अपना हाथ लगा गईं। जिसे हम हिन्दु-रीति-नीति कहते हैं, वह अनेक आर्य और आर्येतर उपादानों का अद्भुत मिश्रण है।"

—'अशोक के फूल'

"सभ्यता के उषःकाल से लेकर आधुनिक काल के आरम्भ तक हमारे इस देश में नाना मानव-समूहों की धारा बराबर आती रही है।"

—'भारतीय संस्कृति की देन'

"आज केवल अनुमान के बल पर ही कहा जा सकता है कि अमुक प्रकार का विचार द्रविड है, पर इसमें सन्देह नहीं कि अनेक आर्य-अनार्य जातियों ने इस देश के धर्म-विश्वास को नाना भाव से समृद्ध किया है।"

—'संस्कृतियों का संगम'

(गाँधीवाद का प्रभाव आपकी रचनाओं में स्पष्ट है। अनक स्थानों पर आपने अपने को गाँधीवादी घोषित भी किया। गाँधीवादी नैतिकता अवसर आते ही चारित्रिक विधि-निषेधों की ऊँगली उठाती है।) यह बार-बार मनुष्य की नैतिकता जगाते रहते हैं। कभी उसे 'आन्तरिक शुचिता' की आवश्यकता बताते हैं कभी 'प्रायश्चित की घड़ी' का स्मरण कराते हैं। 'नाखून के बढ़ने' में उसकी पशुता से जानकारी कराते हैं, कभी 'साहित्य' का आदर्श सुझाते हुए सदाचार की ओर संकेत करते हैं। और अनेक अवसरों पर इनकी चेतावनी—'मीठीहू फीकी लगे बिन अवसर की बात' बन जाती हैं। ऐसे अवसरों पर नैतिकता का नशा कला के प्राण ही पी जाता है। हम मानते हैं, कला साधन है, साध्य नहीं; पर अस्वस्थ साधन भी तो जीवन के लिए बल नहीं जुटा सकता।

नीचे दिये गये अवतरणों से यह स्पष्ट है—

"आहार, निद्रा आदि पशु-सुलभ स्वभाव उसके ठीक वैसे ही हैं, जैसे अन्य प्राणियों के; लेकिन वह फिर भी पशु से भिन्न है। उसमें संयम है, दूसरे के सुख-दुख के प्रति संवेदना है, श्रद्धा है, तप है, त्याग है।"

—'नाखून क्यों बढ़ते हैं ?'

"मनुष्य में यदि विवेक नहीं जागृत हो सका, यदि उदारता, समता और संवेदनशीलता का विकास नहीं हुआ, यदि आत्मसम्मान और परसम्मान के तत्त्वों को नहीं अपना सका, यदि उसमें सन्तोष और श्रद्धा का विकास नहीं हुआ, तो वह पशु से अधिक भिन्न नहीं है।"

—'आंतरिक शुचिता भी आवश्यक है'

"मनुष्य क्या है ? आहार-निद्रा के साधनों से प्रसन्न होने वाला, घर-द्वार को जुटाकर खुश रहने वाला, कौड़ी-कौड़ी जोड़कर माया बटोरने वाला मनुष्य भी मनुष्य ही है, पर यही सब-कुछ नहीं है। मनुष्य पशु का ही विकसित रूप है। पर इसीलिए मनुष्य पशु ही नहीं है। पशु सामान्य धर्म उसमें रह गये हैं। उनकी पूर्ति से वह सन्तुष्ट भी होता है, पर यही सब-कुछ नहीं है। वह पशु से भिन्न है, पशु से उन्नत है। क्योंकि उसमें संयम और तप करने की शक्ति है।"

—'वह चला गया'

आचार्य शुक्ल के समान ही समाज-निर्माण, लोक-संग्रह, मानव-हित आपके साहित्य का आदर्श है—कला के लिए कला नहीं, जीवन के लिए। साहित्य साधन है, साध्य नहीं। मानव ही साहित्य का लक्ष्य है—मानव-हित-निर्माण, मानव-जीवन को नवीन प्राण जो न दे, वह साहित्य क्या ? "मैं साहित्य को मनुष्य की दृष्टि से देखने का पक्षपाती हूँ। जो वाग्जाल मनुष्य को दुर्गति, हीनता और परमुखापेक्षिता से न बचा सके, जो उसकी आत्मा को तेजोदीप्त न बना सके, जो उसके हृदय को परदुखकातर और संवेदनाशील न बना सके, उसे साहित्य कहने में मुझे संकोच होता है।"

—'मनुष्य ही साहित्य का लक्ष्य है'

प्राचीन के प्रति पूर्ण आस्थावान होते हुए भी विकास-नियम स्वीकार करते हैं। समय की माँग के अनुसार परिवर्तन के आप समर्थक हैं। 'कभी किसी प्रथा को चिरन्तन न समझें' में आपका विश्वास है। आपके निबन्धों में नवीन मानव के प्रति भी आशावाद है। जीवन के लिए आशा, मनुष्य का सबसे बड़ा सम्बल है—यह सम्बल अत्यन्त सबल, दृढ़ और पथ-प्रदर्शक के रूप में आया है। भारतीय जीवन में निराशावाद का जो धुंधलापन है, आशंकापूर्ण दुख का जो पलायनवाद है, उसका

तिरस्कार, वहिष्कार के रूप में आपकी रचनाओं में मिलेगा । "मनुष्यत्व की कभी हार नहीं हो सकती । वह एक दिन ज़रूर विजय-गौरव से वरेण्य बनेगा ।" और "वह (मनुष्य) इस विपुल ब्रह्माण्ड को जानने की इच्छा रखता है और सफल होता जा रहा है । वह विश्व की अजेय शक्ति है ।"

गवेषणात्मकता भी आपकी एक विशेषता है । अपनी खोजों को उपस्थित करने का अवसर ढूँढ़ ही लेते हैं । संस्कृति, साहित्य, भाषा-विज्ञान, इतिहास, मानव-विज्ञान, समाज-विकास, दर्शन आदि के विषय में अनुसन्धान आपकी अधिकतर रचनाओं में मिलेंगे । "कौन जाने, गोधूम (गेहूँ) लता किसी दिन सचमुच गायों के लगने वाले मच्छरों को भगाने के लिए धुआँ पैदा करने के काम आती हो," "यह इन्द्रजाल या जादू-विद्या का आचार्य माना जाता है; अर्थात् 'यातुधान' है । यातु और जादू शब्द एक ही शब्द के भिन्न-भिन्न रूप हैं । एक भारतवर्ष का है, दूसरा ईरान का । ऐसे अनेक शब्द हैं । ईरान में थोड़ा बदल गये हैं और लोग उन्हें विदेशी समझने लगे हैं । 'खुदा' असल में वैदिक 'स्वधा' शब्द का भाई है । 'नमाज़' भी संस्कृत 'नमस' का सगा सम्बन्धी है । 'यातुधान' को ठीक-ठीक फारसी वेश में सजा दें तो 'जादूदाँ' हो जायगा ।" शब्दों की समानता दिखाने में उन्होंने कोरी तुक नहीं भिड़ाई; ध्वनि-नियम से भी कथन की पुष्टि होती है ।

निबन्धकार का व्यक्तित्व किसी रचना में शैली, विवेचन, ज्ञान, चिन्तन, विचार, आस्था, आदर्श, आदेश, भावमुग्धता आदि के रूप में उभरता है । मतलब—एक तो कला और अध्ययन के रूप में और दूसरा निज के प्रकाशन के रूप में। द्विवेदीजी का व्यक्तित्व शैली या कला के रूप में नहीं, गहन ज्ञान और निज का प्रकाशन लेकर चमका । उनके अनेक निबन्ध वैयक्तिक या आत्मपरक हो गये हैं। निबन्ध की धारा में बहते-बहते वह सहसा निजी विचार देने लगते हैं या अपने विषय में कह बैठते हैं । 'पढ़ता-लिखता हूँ । यही पेशा है । सो दुनिया के बारे में पोथियों के सहारे ही थोड़ा-बहुत जानता हूँ ।' कभी यों अपना परिचय देते हैं और कभी "मैं पाठकों का समय व्यर्थ में नष्ट न करूँगा विश्वास रखें' से उन्हें धीरज बँधाते हैं । कभी उनसे बातें करने लगते हैं, 'आम को क्यों घसीटते हो बाबा' और कभी पाठक की सम्मति लेकर साथ ले चलते हैं, 'शायद मेरी भाँति आप भी इतना अवश्य स्वीकार करते हैं कि इस बहुधा-विभक्त समुदाय को सम्बद्ध बनाता है ।'

पाठक से प्रत्यक्ष, सीधा और ममतापूर्ण सम्बन्ध स्थापित कर उसे साथ ले चलने के अतिरिक्त अन्य प्रकार से भी निबन्धकार का व्यक्तित्व रचना में आता है निज के विषय में कहना । अनेक निबन्धों में द्विवेदी जी का 'निज' इतने साकार रूप में आया है कि वे व्यक्ति-प्रधान हो गये हैं । 'अशोक के फूल', 'वसन्त आ गया', 'आम फिर

बौरा गये', 'शिरीष के फूल', 'महात्मा के महाप्रयाण के बाद' में इनके व्यक्तित्व का यही रूप आया है। वस्तु-विषय-वर्णन करते-करते सहसा अपने राग-विराग प्रकट करना भी व्यक्तित्व का प्रकाशन है। ऐसे अवसर पर कला की माँग का ध्यान किये बिना लेखक निज को निरावरण करता है। नीचे का अवतरण इसका उदाहरण है—

"एक बार जी क्षुब्ध हो जाता है। कूटनीतिज्ञों के मुँह से सत्य की प्रशंसा सुनकर मन में ग्लानि होती है, सेनापतियों के मुँह से अहिंसा की प्रशंसा सुनता हूँ, तो क्रोध होता है; सेठों और सामन्तों के मुँह से त्याग और तप की चर्चा सुनता हूँ तो झुँझलाहट पैदा होती है; और साम्राज्यवादियों के मुँह से तो गाँधी का नाम सुनकर ही घृणा हो आती है। जानता हूँ, गाँधी के अनुयायी के मन में ऐसे विकार नहीं आने चाहिएँ, पर लाचार हूँ। मैं अपने को सब समय रोक नहीं पाता। यद्यपि मुझ से अब तक किसी के प्रति अशिष्ट आचरण नहीं हुआ है, लेकिन मन में इन विकारों का आना ही क्या बुरा है ? इन अन्तर्विकारों का कारण क्या है ?"

—'महात्मा के महाप्रयाण के बाद'

अन्य अनेक रूपों में भी व्यक्तित्व का प्रकाशन आपकी रचनाओं में हुआ है। पाण्डित्य के साथ सहज सरलता, अध्ययन के साथ भोलापन, चिन्तन के साथ विचारों की स्पष्टता और बात कहने की सफ़ाई, गम्भीर विवेचन के साथ शैली की प्रसादात्मकता का सामंजस्य आपके व्यक्तित्व में मिलेगा। विचार और भावुकता का सानुपातिक मिश्रण भी आप में है। आपकी भावुकता विचार-प्रधान रचनाओं को भी तरल, मधुर और सुकुमार बना देती है। कहीं-कहीं तो आपकी ममता की मन्दाकिनी गम्भीरतम चिन्तन-भूमितल को सींच भावात्मकता की हरियाली उगा देती है। यह आपके निबन्धों में बहुत बड़ी अपील है—'अशोक के फूल', 'बसन्त आ गया', 'शिरीष के फूल', 'आम फिर बौरा गये' आदि निबन्ध वर्णनात्मक ही हैं, फिर भी इनमें द्विवेदीजी की भावुकता उमड़ पड़ती है।

"कंदर्प-देवता के अन्य वाणों की कदर तो आज भी कवियों की दुनिया में ज्यों की त्यों है। अरविन्द को किसने भुलाया, आम कहाँ छोड़ा गया और नीलोत्पल की माया को कौन काट सका ? नवमल्लिका की अवश्य ही अब विशेष पूछ नहीं है, किन्तु उसकी इससे अधिक क़दर कभी थी भी नहीं। भुलाया गया है अशोक। मेरा मन उमड़-घुमड़कर भारतीय रस-साधना के पिछले हज़ार वर्षों पर बरस जाना चाहता है। क्या यह मनोहर पुष्प भुलाने की चीज़ थी ? सहृदयता क्या सुप्त हो गई थी ? कविता क्या सो गई थी ? ना, मेरा मन यह सब मानने को तैयार नहीं है।"

—'अशोक के फूल'

गम्भीर वातावरण के बीच व्यंग्य की गुदगुदी भी आप करते चलते हैं। इससे रचना में रस बढ़ता है। पाण्डित्य का भार भी पाठक के मस्तिष्क को ढोना नहीं पड़ता। व्यंग्य, कसे विचारों में फँसे पाठक-मन के लिए बहुत ही बढ़िया आसरा (Relief) है। 'शिरीष के फूल', 'आम फिर बौरा गये', 'समालोचक की डाक', 'साहित्य का नया क़दम' में व्यंग्य के सरस छींटे मिलेंगे। स्वतन्त्र और पृथक रूप में भी आपने 'क्या आपने मेरी रचना पढ़ी है', नामक निबन्ध लिखा है। इसमें हिन्दी-समालोचकों पर भरा तीक्ष्ण व्यंग्य है। यह रचना हिन्दी के श्रेष्ठ हास्य में स्थान पा सकती है—की हैसियत से।

"सच पूछिये तो शुरू-शुरू में मनुष्य कुछ साम्यवादी ही था। हँसना-हँसाना तब शुरू हुआ होगा, जब उसने कुछ पूँजी इकट्ठी कर ली होगी और संचय के साधन जुटा लिये होंगे। मेरा निश्चित मत है कि हँसना-हँसाना पूँजीवादी मनोवृत्ति की उपज है। इस युग के हिन्दी-साहित्यिक जो हँसना नापसन्द करते हैं, उसका कारण शायद यह है कि वे पूँजीवादी बुर्जुआ मनोवृत्ति से मन ही मन घृणा करने लगे हैं। उनकी युक्ति शायद इस प्रकार है—चूँकि संसार के सभी लोग हँस नहीं सकते, इस लिए हँसी एक गुनाह है और चूँकि संसार के सभी लोग थोड़ा-बहुत रो सकते हैं, इसलिए रोना ही वास्तविक धर्म है। फिर भी अधिकांश साहित्यिक रोते नहीं, केवल रोनी सूरत बनाये रहते हैं।"

× × ×

"मैं निश्चित जानता हूँ कि रहस्यवादी आलोचना लिखना कुछ हँसी-खेल नहीं है। पुस्तक को छुआ तक नहीं और आलोचना ऐसी लिखी कि त्रैलोक्य विकम्पित—यह क्या कम साधना है। आये दिन साहित्यिकों के विषय में विचार होता ही रहता है और इन विचारों पर विचार लिखने वाले बुद्धिमान लोग गम्भीर भाव से सिर हिलाकर कहते हैं—आखिर साहित्यिक कहें किसे ? बहसें होती हैं, अखबार रंगे जाते हैं, मेरे जैसे आलसी आदमी भी चिन्तित हो जाते हैं और अन्त में सोचता हूँ कि 'साहित्यिक' तो साहित्य के सम्बन्धी को ही कहते हैं न ? सो सम्बन्ध तो कई तरह के हैं। बादरायण एक है। आपके घर अगर बेर के फल हैं, मेरे घर बेर के पेड़, तो इस सम्बन्ध को पुराने पंडित 'बादरायण' सम्बन्ध कहते हैं। साहित्य से सम्बन्ध रखने वाले जीव पाँच प्रकार के हैं—लेखक, पाठक, सम्पादक, प्रकाशक और आलोचक। सबके क्षेत्र अलग-अलग हैं। पढ़ने वाला आलोचना नहीं करता, आलोचना करने वाला पढ़ता नहीं—यही तो उचित नाता है। एक ही आदमी पढ़े भी और लिखे भी या पढ़े भी और आलोचना भी करे या लिखे भी और इत्यादि-इत्यादि, तो साहित्य में अराजकता फैल जाय। इसीलिए जब एक लेखक दूसरे लेखक से पूछता है कि

आपने मेरी अमुक रचना पढ़ी है तब जी में आता है कि कह दूँ, 'डाक्टर के पास जाओ, तुम्हारे दिमाग़ में दोष है।' पर डाक्टर क्या करेगा ? विनोद का इंजैक्शन अभी तक किसी फैक्टरी ने तैयार नहीं किया। इसीलिए मुस्कराकर चुप लगा जाता हूँ।"

—'क्या आपने मेरी रचना पढ़ी है ?'

(आपके निबन्धों को प्रकार की परिभाषात्मक सीमा में कसना तो कठिन है; पर अधिकतर निबन्ध विचारात्मक ही हैं।[1] इनके विचारात्मक निबन्धों का वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है—गवेषणात्मक : जिनमें ऐतिहासिक और सांस्कृतिक रचनाएँ आयँगी; आलोचनात्मक : जिनमें दो प्रकार की रचनाएँ हैं—साहित्य-समीक्षा और सिद्धान्त-विवेचन; प्रस्तावात्मक : जिनमें साहित्य-प्रचार, प्रसार और निर्माण के सम्बन्ध में सुझाव दिये गये हैं।

स्वरूप-विधान पर विचार करें तो वे संक्षिप्त होते हैं। कभी-कभी विवेचनाधीन विषय को सुन्दर भूमिका के पट पर सजाते हैं।) 'प्रायश्चित की घड़ी' में युद्ध की विभीषिका इसी रूप में है। विषय को स्पष्ट और प्रभावशाली बनाने के लिए कथा-प्रसंग, अतीत इतिहास और साहित्य की साक्षी भी देते चलते हैं। कथन का नवीन ढँग अपनाने का आग्रह भी आप में है। 'समालोचक की डाक' में कथात्मक शैली में पुस्तकों की आलोचना का मधुर प्रकार है।

'साहित्य का नया क़दम' में भी नवीन और प्राचीन दृष्टिकोण को नाटकीय वार्तालाप के ढँग पर रखा गया है। विवेचन-शैली अत्यन्त प्रसादात्मक है।

साहित्य-समीक्षा करते समय कभी आप पहले सिद्धान्त-पुष्टि करके, उसके ऊपर रचनाओं की परख करते हैं। 'महिलाओं की लिखी कहानियाँ' में आरम्भ में सिद्धान्त-प्रतिष्ठा भूमिका रूप में उपस्थित है।

द्विवेदीजी के निबन्धों—'कल्पलता'—में सबसे अधिक खटकने वाली बात है, उद्धरण-बहुलता। इससे निबन्धकार का व्यक्तित्व दब जाता है, स्वतन्त्र विकसित स्वरूप संघटित हो नहीं पाता। द्विवेदीजी ने, प्रथक अस्तित्व, भाषा के अंग और अपने समर्थन—सभी रूपों में उद्धरणों का उपयोग किया है। तब निबन्धकार का स्वाधीन चिन्तन आहत होगा ही। उद्धरणों से सजा निबन्ध रंग-बिरंगे कपड़ों के

१. वर्णनात्मक—'शिरीष के फूल', 'आम फिर बौरा गये', 'ब्रह्माण्ड का विस्तार'।

विवरणात्मक—'केतु-दर्शन'।

भावात्मक—'अशोक के फूल', 'वह चला गया', 'महापुरुष के महाप्रयाण के बाद', 'क्या आपने मेरी रचना पढ़ी है ?'

कटपीसों से दबा फेरीवाला लगता है। 'शिरीष कुसुम' कितना सुकुमार है—और झट कालिदास का श्लोक फिट कर दिया। यदि कालिदास इसे सुन्दर न कहें, तो सुन्दर के सौन्दर्य में क्या कमी ? बसन्त अपने उच्छवासों में मादकता और गोद में रंगीनियाँ भर लाता है, महाभारत से श्लोक दिये बिना क्या पाठक को विश्वास न हो ? 'मधु' के माधुर्य की साक्षी के लिए जैसे किसी वैद्य को बुलाया जाय। कभी-कभी उद्धरण भाषा को अभिव्यंजना-शक्ति देता है—नगीने की तरह बैठता है, पर 'कल्पलता' के निबन्धों में वे नगीने की तरह नहीं, उपेक्षित अतिथि की तरह बैठे हैं।

"आम्र-मंजरी उसी अचरज का सन्देश लेकर आई है—उदुमंगल तुम पसाएमि।"

"यह शतच्छिद्र चादर खोलकर दिखाने की चीज़ नहीं है—अयं पटा संवृत एव शोभते।"

"हिरण्येन पात्रेण सत्यस्यामिहितं मुखम—सत्य का मुख सुनहरे पात्र से ढका रहता है।"

"यह भी क्या कि दस दिन फूले, फिर खंखड़-के-खंखड़—दिन दस फूला फूलिकै खंखड़ भया पलास।"

ऊपर के अवतरणों की व्यर्थता स्पष्ट है। संस्कृत उद्धरणों को हिन्दी-अनुवाद के साथ देने से लगता है, जैसे अनुवाद-पुस्तक का कोई पृष्ठ। लेखक ने भी आगे चलकर अवतरणों की अनावश्यकता समझ ली। 'अशोक के फूल' इस उद्धरणबाजी से मुक्त हो गई।

भाषा-विधान की दृष्टि से आपका झुकाव तत्समता की ओर ही समझा जायगा। संस्कृत-साहित्य की ही नहीं, भाषा की भी छाप आप पर है। पर न तो संस्कृत की दुरूहता, न समासात्मकता। प्रयत्न ही नहीं, आदर्श भी आपका है, सुबोध, सरल, स्वच्छ और सार्थक भाषा लिखना। वाक्य-विधान सीधा—मिश्र और संश्लिष्ट वाक्य बहुत कम। भाषा में न तो शुक्लजी की भाषा के समान कसाव और न जैनेन्द्रजी की शैली के समान संक्षिप्तता। वाक्य पूर्ण और स्पष्ट। बहुत तलाश करने पर ही शायद क्रियाविहीन वाक्य मिले। हाट-बाज़ार की व्यावहारिकता जैनेन्द्र-जैसी नहीं। संस्कृत के प्रचलित परिचित शब्द ही नहीं, कभी-कभी अपरिचित भी प्रयोग करने में अधिक संकोच नहीं करते। विभक्तियाँ तक संस्कृत के अनुसार प्रयोग कर जाते हैं।

शैली में वह फोर्स बहुत कम आ पाया, जो निबन्ध का प्राण बनता है। कसाव कम, ढीलापन अधिक, वक्रता का अभाव, सरलता का प्राधान्य। 'कौलीन्य'

'अहमहमिका', 'ततःकिम', 'पदे-पदे', 'लक्ष्य-दुर्दिग्ध', 'चिद्विषयक', 'इन्द्रिय-ग्राह्य', 'गगनोपमावस्था,' 'अर्धक्षुद्राकृति', 'भावाभावविनिर्मुक्त', 'प्रभास्वर तुल्य भूता,' 'पदझंकार मात्रेण', 'स्वादु उदुम्बरम्', 'वार्ताबु', 'कंटकारी', 'आवर्तनृत्य', 'येन केन प्रकारेण', 'जो-जो पिण्डे, सोइ ब्रह्मण्डे', गोधूम', 'कुज्झटिकाच्छन्न', नगण्यात् नगण्यतर' ।

संस्कृत के शब्दों के साथ ही उर्दू के बोलचाल के शब्द भी आपकी भाषा में रहते हैं; पर बहुत कम । 'मिज़ाज़पुर्सी', 'हिदायत', 'बग़ावत', 'सल्तनत', 'क़दर', 'ग़लतबयानी', 'हज़रत', 'ज़ालिम', 'खुदगर्ज़ी', 'आदमीनुमा', 'ज़िन्दगी', 'दिमाग़', 'लिफ़ाफ़ा देखकर खत का मजमून भाँपने लगता है', 'बावजूद', 'खूँसट', 'कमबख्त', 'दकियानूस', 'मनहूस', 'सबूत', 'बशर्ते' इत्यादि शब्द सामान्यतः मिल जायँगे ।

भाषा में घरूपन लाने के लिए स्थानीय और देशज शब्दों का प्रयोग भी मिलता है । इससे भाषा में मिठास और ममता का समावेश होता है । आवश्यकता पड़ने पर अंग्रेज़ी शब्दों का व्यवहार भी आप करते हैं—अधिकतर पारिभाषिक या दैनिक व्यवहार में आने वाले । इनका प्रयोग कभी हिन्दी-अर्थ के साथ, कभी शुद्ध अंग्रेज़ी रूप में होता है । ये इतने कम प्रयुक्त हुए हैं कि इनका प्रभाव भाषा-शैली पर नहीं । 'सुर', 'बटोर', 'सिंगार-पटार', 'घरफूँक मस्ती वाला फक्कड़पन', 'बेखाप', 'पारसाल' 'आशापोसना', 'निर्गुणिया', 'बेतुकी', 'खंखड़', 'अटकलपच्चू', 'ज़रा तुक मिलाइये', 'न हिन्दू- न मुसलमान', 'ऐसे दुम्दारों से तो लँडूरे ही भले', 'अधकचरा', 'झबेरा', 'ठूँठ', 'Aristocracy', 'Culture', 'Parasite', 'Pasitivism', 'Table-talk', 'Modernism', 'Up-to-date', 'Conscious artist', 'Gragarious', 'Describe' (वर्णन), 'Prescribe' (उपाय निर्देश), 'Law and order', 'Judicial criticism', 'Subjective', 'Objective'.

अधिकतर निबन्धों की शैली प्रसादात्मक है । अनेक निबन्धों में तो महावीर प्रसाद द्विवेदी की परिचयात्मक शैली तक दृष्टिगोचर होती है । 'काव्यकला' में अपना विवेचन न के बराबर—विविध विचारों का समूह-मात्र उसमें है । वर्णनात्मक निबन्धों में ज्ञानवर्द्धक सामग्री एकत्र है । दो-चार निबन्धों में कुछ-कुछ भावात्मक आवेग-शैली के भी दर्शन होते हैं । 'अशोक के फूल' और 'वह चला गया' में यही शैली है । भावात्मक आवेग-शैली का एक अन्य रूप भी कई रचनाओं में मिलता है—प्रशंसात्मक और संवेदनात्मक 'धन्य है वह देश', 'धन्य है वह भूमि', 'धन्य है वह समाज' और 'हाय वह चला गया', 'हाय, जो महापुरुष चला गया, उसने इस रहस्य को समझा था' हाय, हतभाग्य भारतवर्ष, तू आज शोच्य है' में संवेदनात्मक भावोच्छवास बिखर

पड़े हैं। 'हाय-हाय' 'धन्य-धन्य' तो भारतेन्दुकालीन बूढ़ी शैली का स्मरण दिलाते हैं। यह 'हाय-हाय, 'धन्य-धन्य' आज तो हास्यास्पद ही लगता है।

तत्सम भाषा-शैली का एक रूप—

"विराट ब्रह्माण्ड-निकाम को दूरत्व और परिणाम उनके कोटि-कोटि नक्षत्रों का अग्निमय आवर्त नृत्य बहुत विस्मयकारी बातें हैं, सन्देह नहीं, परन्तु मनुष्य की बुद्धि और भी विस्मयजनक है। उन समस्त ब्रह्माण्डों से अधिक प्रचण्ड शक्तिशाली, अधिक आश्चर्यजनक। अत्यन्त नगण्य स्थान में रहकर, नगण्यात् नगण्यतर काल में वास कर वह इस विपुल ब्रह्माण्ड को जानने की इच्छा रखता है और सफल होता जा रहा है। वह विश्व की अजय शक्ति है।" —'ब्रह्माण्ड का विस्तार'

साहित्य-समीक्षा और सिद्धान्त-निरूपण-सम्बन्धी निबन्धों में शैलीगत सबलता; सशक्तता और गहनता अधिक मात्रा में पाई जाती है। इस प्रकार के निबन्धों मे विवेचना-प्रधान शैली मिलती है। तर्क, कारण-कार्य-सम्बन्ध, निष्कर्ष की पहुँच, इसमें बहस के ढँग पर नहीं रहती—विवाद और विरोध से बचाव भी साफ़ प्रकट होता है। द्विवेदीजी की विवेचना की विशेषता है, विवाद-रहित, बिना-विरोध अपनी बात कह देना। इसी शैली के अन्तगर्त विश्लेषण शैली का भी कहीं-कहीं समावेश हो गया है। सिद्धान्त-निरूपण में भी आप बहस और विवाद से बचते हैं। स्पष्टता और स्वच्छता आपकी शैली की बहुत बड़ी विशेषता है।

"सगुण उपासना ने पौराणिक अवतारों को केन्द्र बनाया और निर्गुण उपासना ने योगियों अर्थात नाथ-पंथी साधकों के निर्गुण परब्रह्म को। पहली साधना ने हिन्दु-जाति की बाह्याचार की शुष्कता को आन्तरिक प्रेम से सींचकर रसमय बनाया और दूसरी साधना ने बाह्याचार की शुष्कता को ही दूर करने का प्रयत्न किया। एक ने समझौते का रास्ता लिया, दूसरी ने विद्रोह का; एक ने शास्त्र का सहारा लिया, दूसरी ने अनुभव का; एक ने श्रद्धा को पथ-प्रदर्शक माना, दूसरी ने ज्ञान को; एक ने सगुण भगवान को अपनाया, दूसरी ने निर्गुण भगवान को पर प्रेम दोनों का ही मार्ग था, सूखा ज्ञान दोनों को ही अप्रिय था; केवल बाह्याचार दोनों में से किसी को सम्भव नहीं था। आन्तरिक प्रेम-निवेदन दोनों को इष्ट था; अहैतुक भक्ति दोनों की काम्य थी, आत्मसमर्पण दोनों के साधन थे। भगवान की लीला में दोनों ही विश्वास करते थे। दोनों ही का अनुभव था कि भगवान लीला के लिए इस जागतिक प्रपंच को सँभाले हुए हैं। पर प्रधान भेद यह था कि सगुण भाव से भजन करने वाले भक्त भगवान को अलग रखकर देखने में रस पाते रहे, जब कि निर्गुण भाव से भजन करने वाले भक्त अपने-आप में रमे हुए भगवान को ही परम काम्य मानते थे।" —'हिन्दी का भक्ति-साहित्य'

आपकी रचनाओं में अनेक स्थानों पर भाषा की वक्रता और चमत्कारिकता की झलक भी मिलती है। और एक-आध स्थलों पर विचित्र प्रयोग भी हैं; पर दुस्तर यात्रा की सफलता पर पगों में लगे एक-दो क्षतों के समान ही—वे विशेष महत्त्व नहीं रखते। प्रसादात्मकता का इतना ध्यान आपने रखा है कि भाषा का कसाव, गठन, संक्षिप्तता और व्यंजना का वह अभाव बन गई है। जहाँ-तहाँ निबन्ध के व्यक्तित्व का गाम्भीर्य और चिन्तन की नुकीली और चुभीली शक्ति ही अपेक्षित हो गई है। सम्पूर्णता का विचार करें तो आपके निबन्ध हिन्दी में एक अभिवृद्धि अवश्य हैं।

६

यशपाल

हिन्दी-साहित्य में प्रगतिवाद के प्राण फूंकने वाले कलाकारों में यशपाल का नाम बहुत ऊंचे पर लिखा जायगा। अपने उपन्यासों, कहानियों और निबन्धों के द्वारा उन्होंने हिन्दी-समाज को मार्क्सवादी विचार दिये।

'देशद्रोही', 'दादा कामरेड', 'दिव्या'—उपन्यासों ने हिन्दी-साहित्य में लकीर खींच दी। 'पिंजरे की उड़ान', 'तर्क का तूफ़ान', 'धर्म-युद्ध', 'मयास्वृत चिंगारी', 'अभिशिप्त'—कहानी-संग्रहों की भी बड़ी धूम रही। निबन्ध विचार-प्रकाशन का सीधा और प्राणवान साधन है, इसलिए अपने अनुभव, अनुभूति, अध्ययन और चिन्तन को अभिव्यंजना देने के लिए आपने निबन्ध को भी आधार बनाया।

'चक्कर क्लब', 'न्याय का संघर्ष', 'मार्क्सवाद', 'गाँधीवाद का शव-परीक्षा', 'देखा, सोचा, समझा', 'बात-बात में बात', 'रामराज्य की कथा' आपके निबन्ध-संग्रह हैं।

यशपाल ने अपनी रचनाओं के द्वारा हिन्दी-निबन्ध को नयी दिशा भी दी और गति भी। समाज की खोखली बुनियादों पर आपने तीव्र आघात किया। परम्पराओं के वक्ष को मसलते हुए आपके विचार नवीन समाज और नवीन मानव के निर्माण की ओर अग्रसर हैं। आपके विचारात्मक निबन्धों में प्राचीन के तिरस्कार और नवीन के स्वीकार का आग्रह अत्यन्त सबल और सक्रिय होकर आता है। आर्थिक समानता की बुनियाद पर नवीन मानव-समाज के भव्य और स्वास्थ्यकर भवन का निर्माण आप चाहते हैं। आर्थिक शोषण ने ही मानव से उसका अधिकार छीन उसे तुच्छ प्राणी बना दिया। पैसे ने एक मनुष्य को मालिक का ताज और दूसरे को दास का पट्टा पहनाया। मनुष्य इसलिए कहीं आश्रय पा, अपने थके मन, आहत तन को नहीं सहला सकता कि वह मनुष्य है, बल्कि इसलिए वह जीवन की सुविधाएँ पाता है; क्योंकि उसके पास पैसा है।

"मेरे पास वास्तव में चाहे पूंजी न हो, लेकिन मैं तीन-चार महीने की कमाई दस-पन्द्रह दिन में फूंककर, इस आराम और अधिकार के लिए निश्चित मूल्य दे सकता हूँ, कोई दूसरा पहाड़ी किसान-मजदूर, मुसाफ़िर चाहे बाहर वर्षा और सर्दी में ठिठुरकर मर जाय, इस बँगले में क़दम नहीं रख सकता। यह मनुष्यों की समानता कहाँ है? पूंजी के रूप में अधिकारों की समानता है, परन्तु पूंजी पा सकने के लिए अवसर की समानता नहीं है।" —'देखा, सोचा, समझा', पृष्ठ ६०

मानव से मानव की घृणा, मानव से मानव की शत्रुता, मानव का मानव द्वारा शोषण और अपमान तभी दूर हो सकेगा, जब सबको अपने परिश्रम का फल मिले, विकास का अवसर प्राप्त हो। श्रेणी-संघर्ष के दूर करने का भी यही उपाय है—
"सब मनुष्यों को विकास और आत्मरक्षा का समान अवसर हो और प्रत्येक मनुष्य को अपने श्रम का पूरा फल पाने का अधिकार और अवसर हो, केवल इसी आधार पर समाज के सब लोग मित्र हो सकते हैं।" —'न्याय का संघर्ष', पृष्ठ ११६

"श्रेणी-संघर्ष से बचने का यदि कोई उपाय हमारे लिए है, तो वह श्रेणीवाद का अन्त और समाजवाद की स्थापना ही है।" स्पष्ट है, सब विषमता, असमानता, अनाचार और वैमनस्य की जड़ है, गलत आर्थिक बँटवारा।

सभ्यता, संस्कृति, कला, साहित्य, समाज सभी के विषय में अपने प्राचीन रोगी, पाखण्डपूर्ण, पलायनवादी और पिछड़े हुए विचारों की भर्त्सना की है। सभी के सम्बन्ध में अपने निर्णयात्मक विचार और अनुभव दिये हैं। अन्य हिन्दी-विचारकों के समान, आप पाठक को सन्देह के किनारे नहीं छोड़ जाते; समस्या का हल भी साथ देते हैं और कोई कारण नहीं कि उस हल से सहमत न हुआ जाय। अनेक विचारक निबन्धकारों ने सामाजिक विषमता-वैमनस्य और मानव की विवशता-तिरस्कार को अनुभव किया है; हल इसका अव्यावहारिक ही वे दे पाये। जैनेन्द्रजी तक भी बात साफ़ न कह पाये, जो गले उतर सके। कोई संस्कृति के शव को गले में लटकाए जड़ बनकर बैठा है, कोई धर्म के छकड़े का जुआ कंधों पर रखे है। इनको लेकर भ्रम ही अनेक लेखनियों से फैला। कई विचारकों ने तो हवाई कल्पना कर फतवा दे दिया— अहिंसा का पालन हो। मानव का मूल्य बढ़े। पैसे का मान गिराओ! पर यह हो कैसे? जादू हो जाय? इस दिशा में यशपाल निश्चित रूप में सम्मान और श्लाघा के अधिकारी हैं। मानव-विकास में जो जड़-तत्त्व बाधक हैं, जो स्वार्थ उसके पैरों में पत्थर बन बँधते हैं, सभी को वह 'तर्क के तूफ़ानि' से उड़ा देना चाहते हैं—सभी को 'न्याय के संघर्ष' से कुचल देना चाहते हैं। विचारों से कोई भी असहमत हो सकता है; पर निश्चित योजना तो वह देते हैं। साम्यवादी समाज का निर्माण वह चाहते हैं और साम्यवाद में ही मानव का निस्तार पाते हैं।

अपने निबन्धों में वह किसान, मज़दूर, नारी, विवाह आदि की उलझनों को समाजवादी ढँग पर सुलझाते हैं। गाँधीवाद को वह अव्यावहारिक प्रवंचनापूर्ण मानते हैं। क्योंकि वह तर्क की किरणें छूकर बर्फ़-सा पिघल बह जाता है। "जनता गाँधीवाद को तर्क की कसौटी पर न जाँचे, इसलिए उसे परिस्थितियों और तर्क से स्वतंत्र, भगवान की प्रेरणा बताया जाता है। मेरी दृष्टि में यह एक सामाजिक प्रवंचना और अपराध है।" —'देखा, सोचा, समझा', पृष्ठ ११४

मज़हब भी मानव के लिए अभिशाप है। वह अफ़ीम भी है और चुकला भी—जिसे खाकर मानव निकम्मा भी बनता है और पागल कुत्ता भी। मज़हब पर व्यंग्य करते हुए यशपाल जी कहते हैं, "कारतूसों की एक दूकान खोलो, जिसमें 'कलमाइड कारतूस' मुसलमानों के लिए और 'झटकाइड कारतूस' सिखों के लिए रहें। अच्छा मुनाफ़ा रहेगा।" ('देखा, सोचा, समझा', पृष्ठ ४४) मनुष्य के परे जो कुछ परोक्ष सत्ता या कल्पनापूर्ण वर और शाप की शक्ति है, उसे आप नहीं मानते। मानव के परे की कोई शक्ति हमारी उलझनों को नहीं सुलझा सकती। अवसर आने पर वह ऐसी परोक्ष शक्ति की खूब खिल्ली उड़ाते हैं। 'भगवान के कारिंदे' और 'गरीब के भगवान' में उसकी निस्सारता बताई गई है।

यशपालजी के अधिकतर निबन्ध विचारात्मक हैं। विवरणात्मक ('देखा, सोचा, समझा') रचनाओं में भी विचार ही प्रधान हैं। भाव और कल्पना दोनों ही तत्व विचार के आदेश पर चलते हैं। विचार-प्रधान, और विशेषतः मार्क्सवादी, रचनाएँ होते हुए भी उनमें न तो कट्टर पंथियों की नीरसता है, न विनोद की कमी। न इनमें कम्युनिस्ट शैली का रूखापन और चिड़चिड़ापन और न जली-कटी सुनाने और चखाने की प्रवृत्ति। 'रोटी का राग' इनकी रचनाओं का सबसे ऊँचा स्वर है; पर उसकी रट जीवन की सम्पूर्णता बनकर नहीं आती। रोटी चाहिए, जिससे राग गाया जा सके—एकमात्र रोटी ही नहीं चाहिए कि पशु के समान, गोबर कर सकें। 'जीवन का आधार' में पेट के साथ हृदय की भूख को भी पहचाना गया है। ऐसे अवसर पर भावात्मकता का प्राधान्य स्पष्ट है।

"......आज होली है! जेल की होली! आज मेरी जेल की छठी होली है! मैं त्यौहारों के दिन प्रायः निष्प्रभ हो जाता हूँ और होली के दिन तो खास तौर पर! वजह क्या है? ऐसी वजहों को खोजकर जाँच लेना बहुत कठिन समस्या है—

आज होली के दिन जेल खास देखने की चीज़ है। क़ैदियों को आज उत्सव मनाने की और आनन्द मनाने की मनाही है। इससे उनके शोक की सीमा नहीं। मनुष्य का स्वाभाविक अधिकार भी उनसे छीन लिया गया है। आज जेल पर कैसी विरूपता छा रही है। ....आनन्द और जीवन में फ़रक ही कितना है? आज के दिन यदि क़ैदियों को खाना रोककर उन्हें गाने-बजाने और हँसने की इजाज़त दे दी जाय तो वे बहुत खुश होंगे। इसीलिए तो कहता हूँ—मनुष्य के जीवन का आधार केवल भोजन ही नहीं।" —'न्याय का संघर्ष', पृष्ठ २५

कभी-कभी इनकी रचना में बहुत मधुर और स्वस्थ हास्य भी रहता है।

"दूर पर बहुत से मच्छरों की भन-भन सुनाई दी। सोचा, यह क्या दल-बल से आक्रमण की तैयारी हो रही है? कह चुका हूँ—रात के सन्नाटे में कल्पना अबोध हो

उठती है। मच्छरों की उस कॉंफ्रेन्स की बात समझने में कुछ उलझन अनुभव न हुई। समझ गया, यह लोग अपने स्काउट के न लौट सकने से चिन्तित हो उठे हैं। सोचा, कल मच्छर-संसार के समाचारपत्रों में सनसनीखेज ख़बर छपेगी—

"एक वीर सैनिक का दुष्ट नर-राक्षस के हाथों बलिदान ! मच्छर-जाति के नर-रक्त पीने के जन्म-सिद्ध अधिकार के विरुद्ध मनुष्यों की घृणित कार्यवाही।

मच्छर जाति के नौनिहालो ! यदि तुम्हारी नसों में अपने पूर्वजों का रक्त वर्तमान है, तो मानव-रक्तपान के अपने अधिकार के लिए लड़ मरो।

सोचा, मच्छरों की असंख्य सेनाओं का आक्रमण होगा और दोनों हाथों के दो-चार प्रहारों में अनेक सैनिक वीर-गति को प्राप्त कर जायँगे।"

—'न्याय का संघर्ष', पृष्ठ ८५

इनकी शैली की सबसे बड़ी विशेषता है—बोधगम्यता। वह विचार प्रकाशन का साधन है, साध्य नहीं। तब उसमें सीधे बात कहने की ओर झुकाव और प्रसादात्मकता आधिकारिक रूप में रहेगी ही। इनके अधिकतर निबन्ध प्रसाद-शैली में ही आयँगे—कुछ में विवेचनात्मक शैली भी मिलेगी। उसमें भी प्रसाद गुण ही प्रधान रूप में। भाषा का मिला-जुला व्यावहारिक रूप पाया जायगा। जन-परिचित कहावतें और मुहावरे भी अभिव्यंजना का आधार बनते हैं। हिन्दी, उर्दू, और संस्कृत के पद और वाक्य-खण्ड भी उद्धृत किये गये हैं। कहीं वे भाषा का रूप बनकर आये हैं, कहीं विचार-समर्थक बनकर। उपमाएँ अधिकतर सरल और दैनिक व्यवहार में आने वाली वस्तुओं से गढी गई हैं।

"प्याज की गाँठ की तरह अनेक छिलकों में लिपटी युवती" में उपमा देखी जा सकती है।

"वहाँ व्यक्ति अकेला ही जाता है—धर्मोहि गच्छति केवलम् यदि वह 'आत्मवत सर्वभूतेषु' व्यवहार करने के लिए मजबूर होता है···" यह संस्कृत के अवतरणों के प्रयोग का उदाहरण है।

जन-जीवन की समस्याएं लेखक जनभाषा में ही सुलझाता है। सरल, साफ़-सुथरी, बोलचाल की, व्यावहारिक और चलती भाषा ही उसका आदर्श है। दैनिक जीवन के साथी अन्य भाषा के शब्द भी हार्दिक स्वागत पाते हैं। पर उनके प्रति बहुत आग्रह नहीं; और न लेखक को अंग्रेज़ी शब्दों की भीड़ लगाने का नशा। उर्दू-शब्दों का प्रयोग धड़ल्ले से हुआ है, पर उनमें अपरिचित कम ही होंगे। अनेक शब्दों का कोश-व्याकरण-'सम्मत रूप न लेकर, जनस्वीकृत रूप ही लिया गया है। 'निखिद्ध', 'फरक', 'दफे', 'सबर', 'जबरन', 'तनखाह', 'फेरते', 'मानुस', 'जबरन', 'दिल की भडास निकलना', हाथ गोड़ घिसना',—इन शब्दों से भाषा का झुकाव, जन व्यवहार की भाषा की ओर प्रकट होता है।

अंग्रेज़ी शब्दों का प्रयोग दो रूपों में हुआ है—स्वतन्त्र और हिन्दी-शब्दों के पर्याय रूप में। भाव स्पष्ट करने के लिए पहले रूप में तो दो-चार शब्द ही आये होंगे। इस रूप में एक-दो वाक्य भी अवतरण के तौर पर प्रयुक्त हुए हैं—'Plain living high thinking', 'man does not live by bread alone.', दूसरे रूप में कुछ शब्द दिये जा सकते हैं—नीति (Policy) निवारक (Negative) पोषक (Posetive), विपुल शक्ति का उच्छवास (Exuberance of super feuous energy), सहनशीलता के साथ (With tolerance) कुत्तों की प्रदर्शिनी (Dog-show), सुधार-गृह (House of correction), निरी हिंसा (Pure violence), भौतिकवाद (Materialism), रक्ताणु (Red corpuscles), अणु-वीक्षण-यन्त्र (Microscope), सत्याग्रह (Peaceful resistance), पारिवारिक आदर्श (Communism)। संख्या की दृष्टि से ये शब्द बहुत ही कम हैं। और 'न्याय का संघर्ष' को छोड़, अन्य निबन्ध-पुस्तकों में अंग्रेज़ी शब्द न के बराबर ही आये हैं। प्रयत्न इनसे बचने का ही रहा है।

कहीं-कहीं निश्चय को प्रश्नवाचक ढँग पर भी प्रकट करते हैं यह ढँग बहुत प्रभावशाली और व्यक्तित्व-प्रधान होता है।

"ज़मीन तो किसी की भी नहीं ज़मीन को किसने बनाया है? ज़मीन को घेर अभिसार कर लेने से ही मिल्कियत अगर हो जाय, तो कोई भी दस आदमियों को मिलाकर लाठी बाँधकर ज़मीन घेर सकता है। इसमें झूठ क्या है? बाबर ने क्या किया था? पंजाब के शेर रणजीत सिंह ने क्या किया था? छत्रपति शिवाजी ने क्या किया था? हैदर अली ने क्या किया था?"

क्रियाओं का अभाव भी इनकी शैली में दो-चार स्थलों पर मिलता है विशेषकर चित्र उपस्थित करते हुए।

"ऐसी ही हालत में सड़क के चार-पाँच घुमाव ऊपर चढ़कर हम लोग जंगल से बाहर हो गये। ढोरों के गले की घण्टियों का शब्द कुछ समतल से घाटों पर खेत दिखाई दिये। खेतों के परे, छतों पर धूप में सुखाने के लिए बिछाई गई लाल-पीली मक्का के दानों से ढकी काली-काली झोपड़ियाँ उनके चारों ओर एक पहाड़ी कुअन्न···'बीथू' के खेत।·········मनुष्य के लिए सबसे सुन्दर है मनुष्य की संगति! मनुष्य की मेहनत से तैयार मनुष्य की रक्षा के उपाय।"

—'देखा, सोचा, समझा', पृष्ठ ५८

व्यंग्यात्मक शैली का भी एक उदाहरण लें—

"जब समाज क. कसौटियों पर उत्तीर्ण होनहार नौजवान के व्याह की बात चलेगी, जिस दिन समाज के मुकुटमणि आई० सी० एस० का घर बसाने की

ज़रूरत होगी, उस दिन सूरज की रोशनी में भी दिया लेकर लोग उसे (पढ़ी-लिखी लड़की को) ढूंढ़ते फिरेंगे। उसका पिता, उसकी रूढ़िवादी माता, उसका सम्पूर्ण परिवार इस तथ्य को स्वीकार करता है। इसीलिए गली-मुहल्ले की उठती उँगलियों की उपेक्षा कर बेटी को गाड़ी में बन्द कर स्कूल भेजना पड़ता है। शादी के बाज़ार में उसका दर बढ़ना ज़रूरी है; वरना बाज़ार में बाकी बच रहे सौदे की तरह उसका घर में इस्तेमाल हो जाना कोई सम्भव नहीं। वह गले का बोझ बनकर घर में पड़ी-पड़ी सड़ेगी, अपमान और बदनामी की दुर्गन्ध बन समाज में फैलेगी और वंश को ले डूबेगी। इतना ही नहीं स्वर्ग में विश्राम करते हुए पूर्वजों को भी घसीटकर नरक में पहुँचा देगी।

एक समय था, जब इस प्रकार की अड़चनों का इलाज हमारा समाज कर लिया करता था और भारत की देव-पूज्या वसुन्धरा को कन्या-रत्नों से उपजाऊ बनाया जाता था। लेकिन भारत में कलियुग के चरणों को दृढ़ कर जाने वाले 'लार्ड विलियम बेंटिंग' ने वह अधिकार भी भारत की धर्म-प्रिय प्रजा से छीन लिया। अब जन्मते ही लड़की को मार देना अपराध हो गया। अब इस मुसीबत के पैदा हो जाने पर, इस वंश के राहू के उदय होने पर, उसे पालना पड़ता है।"

—'न्याय का संघर्ष', पृष्ठ ७८

यशपाल ने हिन्दी-निबन्ध को नवीन विचार-पद्धति दी। उसे नयी गति भी दी और नयी दिशा भी। सबल व्यक्तित्व, सतर्क चिन्तन, सार्थक और स्वच्छ शैली उनमें है। शैली के नाम पर न उलझन और न व्यक्तित्व के नाम पर आतंक-कामना। विचारात्मक शैली का कसाव उनमें नहीं, पर सरलता का आग्रह और अनुरोध उनमें मिलेगा। अभिव्यंजना में व्यंजना नहीं, अभिधा है। सब मिलकर यशपाल को प्रथक, आकारवान और प्रभावशाली व्यक्तित्व देते हैं। इनके निबन्ध शोषित मानवता के लिए ईमानदार और सक्रिय आश्वासन हैं। इससे हिन्दी-निबन्ध-साहित्य की श्री और समृद्धि में वृद्धि हुई है। उद्देश्य, प्रभाव और ईमानदारी की कसौटी पर कसे जाकर यह निबन्ध-साहित्य के मस्तक पर चढ़, उसका अभिलेख करते हैं।"

७

कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'

पत्रकार की चुभीली सूझबूझ, चित्रकार की रंग-रेखाएँ, व्यंगकार की पैनी पकड़, मुग्ध मन दर्शक की भावुकता और रसानुभूति मिलकर 'प्रभाकर' जी की कला को आकार देती हैं। आपकी लेखनी से गुदगुदी भरा हास्य भी बरसता है और करुणा का बादल भी। व्यंग्य में विनोद की मधुरता और चुस्ती मिलेगी, आघात की चुभन और तेजी नहीं। तीखेपन का अभाव व्यंग्य का स्वभाव बनना चाहिए। यह गुण इनके व्यंग्य में है, तभी वह मन का प्रलोभन बनता है। मानव के तन और मन के गीले चित्र भी यह सफलता से खींचते हैं। स्कैच-लेखन के क्षेत्र में 'प्रभाकर' जी की लेखनी ने काल और कला की बहुत बड़ी मंज़िल तै कर ली है—उसके पीछे प्रयोग और सफलता का आत्मविश्वास है। स्कैच-लेखक आप पहले हैं, और कुछ बाद में, पर आपकी अनेक रचनाएँ, परिभाषा और परख की कसौटी पर निबन्ध की संज्ञा पाती हैं। अनेक संस्मरण भी इसी कोटि में आयँगे। 'नयी पीढ़ी : नये विचार', 'भूले हुए चेहरे', 'आकाश के तारे : धरती के फूल', 'जितना जान पाया', 'अ-आ-इ-ई', 'ज़िन्दगी मुस्कराई' नामक पुस्तकों में पाठक इनके विविध रूप पा सकते हैं। 'प्रभाकर' जी की लेखनी का गमन व्यापक, गहन और सुदूरवर्ती है। इनमें विविध चित्र भी मिलेंगे और उनमें विविध रंग भी, निज की पीड़ा भी मिलेगी और पर के प्रति संवेदना भी, घर की समस्याएँ भी सुलझाते चलेंगे और बाहर की अन्तर्मिश्रित उलझनों के प्रति जागरूक भी यह पाये जायँगे। इनकी सबसे बड़ी विशेषता है—जीवन की प्राथमिकता! इसी भौतिक जीवन—दैनिक उलझन-उत्पीड़न, आवश्यकता-अभाव—की बात आपकी रचनाओं में प्रमुखता पाती है।

जीवन के प्रति ईमानदारी ही, हम समझते हैं, लेखक की सबसे बड़ी सिद्धि है। अस्पताल जाते हुए रोगी की फँसी गाड़ी को सहारा देकर निकालने वाले अपढ़ ग्रामीण का हमारी दृष्टि में गीता के कर्म-योग का उपदेश देने वाले निकम्मे दार्शनिक से अधिक मूल्य है। लेखक के नाते, इस मूल्य की कसौटी पर, इनकी अधिकतर रचनाएँ कसी जाकर चमकती हैं। 'मीरू खलीफ़ा', 'मुखिया सचेत', 'यशपाल', 'मेरे घर के आसपास' में पूँजीवादी समाज के धरातल पर उपेक्षा की धूल में लोटने वाले मटमैले चित्र हैं; पर मानवता के कैलास पर खड़े ये चित्र विश्व-मस्तक पर सुशोभित होते हैं। इनके स्कैच-एलबम में न तो जनबलिदान की हड्डियों के ढेर पर खड़े होकर अपनी

लम्बाई बढ़ाने वाले नेताओं के चित्र मिलेंगे, न जन-जीवन का रक्त पीकर अपनी रंगीनी बढ़ाने वाले शोषकों के। सामान्यजन-परिचित विषय और साधारण जन-जुड़ी उलझनें इनकी लेखनी का प्यार पाती हैं। 'आए दिन के मेहमान', 'बोलती सड़क', 'नौरत्न', 'घर का सामान बाहर फेंकिये', 'सैकिण्ड क्लास में' इसी प्रकार के निबन्ध हैं। 'अ-आ-इ-ई' पुस्तक में घरेलू दैनिक उलझनें सुलझाई गई हैं। 'शहीदों की समाधि' में पश्चिमी साम्राज्यवादी दानव के उत्पीड़न की कहानी है। रोम, रूस, पैरिस, अबीसीनिया में होने वाले नरसंहार का चित्र है। स्पष्ट है, लेखक में अत्याचार के प्रति रोष है और पीड़ित के प्रति संवेदना। 'माखनलाल से महादेवी तक' में आप आलोचक बनकर आते हैं। पर यह आलोचना एक उड़ती नज़र ही है।

लेखक की अनेक रचनाएँ विचारात्मक प्रकार में आ सकती हैं, तो भी शुद्ध विचारात्मक निबन्ध आपके अधिक नहीं। उनमें भावात्मकता की स्निग्धता, मधुरता और तरलता भी रहती है। विचार और अनुभूति का आनुपातिक मिश्रण बहुसंख्यक रचनाओं में मिलेगा। भावुकता के बहाव में आप मस्तिष्क का अवलम्बन नहीं छोड़ते और विचारों की भीड़ में भावना की सरसता भी नहीं त्यागते।

'प्रभाकर' जी का विचारक जहाँ भी प्रकट होता है, स्पष्ट और सुलझे हुए रूप में। भले ही इनके विचारात्मक निबन्ध में विचारों की बाढ़ न हो, एक-एक पैरा में अनेक विचार दबा-दबा के रखे गये हों, हर एक वाक्य नये विचार का वाहक भी न हो; पर उनके कथन में आस्था का अनुरोध और अनुभव का बल अवश्य रहता है। नवीन को 'नवीन' होने के कारण ही स्वीकार नहीं करते, और प्राचीन को 'प्राचीन' होने के कारण त्यागते भी नहीं। आपके स्वीकार और इंकार में समझ का आदेश और माँग का उत्तर ही अधिक रहता है। नीचे के अवतरण से बात और भी स्पष्ट हो जायगी।

"स्पष्ट शब्दों में—मर्यादा साधन है, साध्य नहीं। वह इसलिए है कि सत्य, शिव, सुन्दर का पथ प्रशस्त करे। वह इसलिए नहीं कि सत्य, शिव, सुन्दर के पथ में बाधक बनकर खड़ी हो—उसे यह अधिकार नहीं दिया जा सकता। पहली दशा में वह पोषण है, दूसरी में शोषण और यह तो बालक भी जानते हैं कि पोषण हमारे सिंचन का और शोषण हमारे संहार का पात्र है। जहाँ पोषण का शोषण और शोषण का पोषण होता है, वह व्यक्ति हो या समाज फल-फूल नहीं सकता।"

—'नयी पीढ़ी : नये विचार', पृष्ठ ३१

भावात्मकता की मूर्छना भी अनेक स्थलों पर मिलेगी। हास्य-व्यंग्य-प्रधान रचनाएँ तो भावात्मक प्रकार में आती ही हैं, आत्मपरक या वैयक्तिक निबन्ध तो भावोद्रेक के झरने हैं, जो इनके भावुक हृदय से फूटकर उमड़ते हैं।

"मुझे लगा कि मैं काँटों में गिर गया हूँ। यह अनुभूति इतनी उग्र थी कि मैं अपने पलँग पर उठ बैठा। चाँदनी रात, खुली खिड़की और शांत पहाड़। मैं वहाँ हूँ भी और नहीं भी। खिड़की पर कोहनियाँ टेके बैठा हूँ, मेरे सिर पर ठंडी चाँदनी है; घरों, सड़कों, पर्वतों पर चाँदनी है, मैं उसे देख रहा हूँ, पर क्या सचमुच, मैं उसे देख रहा हूँ ?

मैं तो असल में इस समय अपने भीतर देख रहा हूँ, जहाँ बिखरे पड़े हैं, मेरे ही जीवन के कई पन्ने, जिन पर लिखी हैं कई बीती घटनाएँ। और वे कह रही हैं मुझसे कि यह देवत्व तेरे मन का भूत है और कुछ नहीं। अरे और कुछ भी तो नहीं।"

—'भूले हुए चेहरे', पृष्ठ ११७

समय की माँग से आप विमुख नहीं—समाज-परिवर्तन की धुन भी आपके मन में बेचैनी बनकर बजती है। समाज की नयी व्यवस्था के आप आकांक्षी हैं—नवीन मानव के उदय की कामना आप में है।

"मैं अपने कमरे में पड़ा सोचा करता हूँ, यह कैसी समाज-व्यवस्था है, जिसने एक मानव को कैलास का धवल शिखर और दूसरे को अंधकार भरा खड्ड बना छोड़ा है। और हम कैसे हैं कि नरक का यह बोझ ढोते चले जाते हैं, करवट लेकर उसे छाती पर से उलट नहीं देते।"

× × ×

हम व्यापार की धुन में हैं, यश की धुन में हैं, लाभ की धुन में हैं, पर असल में ता आज एक ही धुन चाहिए कि समाज-व्यवस्था कैसे बदले और इस परिवर्तन में हम इस अपनी शक्ति का हिस्सा कैसे अदा करें।"

—'भूले हुए चेहरे', पृष्ठ ७६

इनकी रचनाओं में इनका व्यक्तित्व आकारवान है—उभरता दीखता है। उसमें पर को अभिभूत करने वाला आकुल अहं भले ही न हो, ममता बाँटने वाला साथी अवश्य पाठक को अपने साथ बहा ले जाता है। आप सीधे रूप में पाठक से बातें करते हैं—इनका अवगुण्ठनहीन 'निज' पाठक के सामने एक साथी के समान आ बैठता है। पाठक के सामने 'निज' को देखने में न संकोच, न दुराव, न बड़प्पन का आतंक और न पाण्डित्य का पाखण्ड। यही निश्छलता इनकी रचनाओं का सबसे बड़ा बल है। इनका व्यक्तित्व सरल, विनोदी, आत्मीय, स्वच्छ, स्पष्ट और संवेदनशील रूप लेकर आता है। आत्मवेदना का स्पर्श भी इनकी रचनाओं में मिलेगा। अनेक निबन्ध 'आत्म' का प्रकाशन हैं—ये वैयक्तिक प्रकार में आयेंगे। निजी उलझनों, पीड़ा-परेशानियों, संगी-साथियों, सगे-सम्बन्धियों के विषय में रचनाएँ होती हैं, यही मर्यादा इनके वैयक्तिक या आत्मपरक निबन्धों में मिलेगी। संस्मरणों को विवरणात्मक

श्रेणी में लिया जा सकता है। विवरणात्मक निबन्ध सम्भवतः इन्होंने नहीं लिखे। संस्मरणों में भी भाव और विचार दोनों तत्त्वों का स्वस्थ मिश्रण पाया जायगा। कभी-कभी घटनाओं की माला-सी बनाकर चित्रात्मक ढँग में यह उपस्थित करते हैं। अपनी ओर से न कहकर पाठक के मस्तिष्क-तन्तुओं को उत्तेजित होने के लिए छोड़ देते हैं।

इनके व्यक्ति की स्वच्छता, सरलता, स्पष्टता शैली का आवरण लेकर भी आई। कथन में सफ़ाई और अभिव्यंजना में स्पष्टता, प्रसादात्मकता और सरसता मिलेगी। छोटे-छोटे सरल वाक्य, माला के मोतियों से सम्बद्ध, और चुस्त और गठित—नाटकीय सम्बद्ध-सी गतिशील और चुटकुले-सी चंचल भाषा उसका चलता-व्यवहारिक रूप ही इन्होंने स्वीकार किया। पर-भाषाओं के प्रचलित-परिचित शब्दों के लिए आग्रह नहीं, अनुरोध भी नहीं; पर स्वीकृति अवश्य है। विशेष अर्थ के प्रयोजन में भी उनका प्रयोग है।

"में अपने पलँग पर पड़ा सोच रहा हूँ। सावन की यह मस्ती क्या इसी दीन परिवार पर बरसी है ? यह सब में गरीब है, हीन है, अभाव-ग्रस्त है, दुखिया है, फिर भी सावन की इस फुहार भरी बदरिया के तले यही क्यों गीतमय है ? जिनके घर में धन भरा है, कोई अभाव नहीं, जो शिक्षित हैं, 'कल्चर्ड' हैं, जिन्हें संगीत का ज्ञान है, 'टेस्ट' है, जिनके यहाँ रेडियो है, ग्रामोफ़ोन है सिनेमा जिनके जीवन की एक ज़रूरत है, उनके महलों में दीप्तिमान बल्ब बुझे पड़े हैं और इस ग़रीब की झोंपड़ी का यह टिमटिमाता दीपक अभी तक प्रकाशदान करता जा रहा है। क्या सावन इसी झोंपड़ी का अतिथि है ? उन ऊँची अट्टालिकाओं से वह रूठ गया है ?

× × ×

सघन कण्ठों का वह संगीत मेरे रोम में पुलक बनकर छा रहा है और प्रत्येक पुलक में उसी का स्पन्दन मुझे सुनाई देता है। कहीं कोई दूसरा स्वर नहीं है, शब्द नहीं है, जैसे यह सारी सृष्टि ही, आज गीतमय हो उठी है।"

—'भूले हुए चेहरे', पृष्ठ ७८

'कल्चर्ड', 'टेस्ट' में अर्थ के प्रयोजन की माँग (व्यंग्य) भी है और पराये शब्दों के लिए स्वीकृति भी। अवतरण से लेखक का भाषा-सिद्धान्त स्पष्ट हो जाता है। भाव-प्रकाशन साध्य है, भाषा साधक, इसीलिए तत्सम, तद्भव, देशज—सभी प्रकार के उपयुक्त शब्दों का स्वागत हुआ। अवतरण से लेखक की भावुकता भी प्रकट है। पूरी रचना पढ़ने से 'शिव शम्भु' का स्मरण हो आता है; पर वह देश की दासता से व्यथित हो व्यंग्य-वाणों का लक्ष्य शासन को बनाता था, यह समाज के अंग पर करुणा का आलेप लगाते हैं।

"दुनिया की सबसे सुन्दर चीज़ भारत में पूनों की चाँदनी रात है। उस दिन ऐसा मालूम होता है कि लोहे की काली रात अचानक चाँदी बन गई है।"

"काँचन को छोड़ काँच की ओर लपकता है।"

"ऐसी बदली कि बरसाती बदली भी न बदली होगी।"

ऊपर की पंक्तियों में उपमा, यमक आदि को भी अभिव्यंजना का अवलम्ब बनाया गया है।

"दार्शनिक लोग कहते हैं कि यह जीवन, यह ज़िन्दगी क्या है? क्यों चले और जब चल-चलाकर समाप्त हो, तो क्या रहे? यह बड़ी ऊँची बातें हैं और जाने कब से यों ही चल रही हैं और शायद चलती रहेंगी; पर साधारण आदमी के लिए तो यह जीवन बस एक जीवन है और उसकी चाह है कि यह सुख से चले। है न यही बात? हाँ, यही बात है, पर भाई, बात तो ठीक है हर एक की चाह है कि यह जीवन सुख से चले, पर चले कैसे? जीवन का ढाँचा कुछ ऐसा उल्टा-सीधा बँध गया है कि उसके दरवाज़े कोई न कोई मुसीबत खड़ी रहती है। जीवन को अगर गंगा की धार मान लें; तो मुसीबत उसकी लहर है और सारी लहरें अगर सो भी जायँ, तो एक लहर ऐसी है, जो तब भी उभरी रहेगी और जीवन की धारा को शान्त न होने देगी।

जी! कौन-सी लहर? सवाल ठीक है, ठीक जगह भी है और उत्तर भी उसका देना ही होगा। वह लहर है यह आये दिन के मेहमान। हमारी शहरी ज़िन्दगी का तो यह बबाल हो उठे हैं और हरेक घर अब इस मुसीबत से ऊबा हुआ है।"

—'नयी पीढ़ी : नये विचार', पृष्ठ ८

'प्रभाकर' जी की शैली का बहुत-कुछ प्रतिनिधित्व ऊपर के अवतरण में है। चुस्त और पुष्ट भाषा। छोटे-छोटे वाक्य। बीच में आने वाले प्रश्न और उनके साथ ही उत्तर शैली में निराली जान डाल देते हैं। शिथिलता कभी फटक नहीं सकती। कहीं-कहीं तो तितली जैसी चंचलता आ जाती है, लगता है, लेखक पास बैठे बातें कर रहा है।

'प्रभाकर' जी की रचनाएँ रुचिकर और रमणीय हैं। उनमें चमकीला, स्वच्छ, ममतालु, प्राणवान और मनोहर व्यक्तित्व है। वे समय की माँग के प्रति उन्मुख हैं। समाज और व्यक्ति उनमें अपनी व्यथाओं का आधार पाता है।

८

नगेन्द्र

डाक्टर नगेन्द्र आलोचक पहले हैं, निबन्धकार बाद में। आलोचक नगेन्द्र हिन्दी-समालोचना-क्षेत्र में प्रथम पंक्ति में खड़े हैं। आपने दो आलोचना-ग्रन्थ हिन्दी को भेंट किये—

सच तो यह है कि निबन्धकार को आपका आलोचक पनपने नहीं देता—वह आलोचक से दबा-दबा-सा रहता है। आलोचक के समान उसका व्यक्तित्व आकार और अन्तर को संघटित करके उभर ही नहीं पाता। निबन्धकार के रूप में आपकी तीन पुस्तकें देखने में आईं—'काव्य-चिन्तन', 'विचार और अनुभूति' तथा 'विचार और विवेचन', 'काव्य-चिन्तन' के प्रथम १० निबन्ध 'विचार और अनुभूति' में और अन्तिम ६ 'विचार और विवेचन' में संकलित हैं। इन रचनाओं में निबन्धात्मकता अधिक आ नहीं पाई। कुछ निबन्ध तो पुस्तकों की आलोचना-मात्र हैं। तो भी इनमें से अनेक रचनाएँ शुद्ध निबन्ध के रूप में भी स्वीकृत होंगी।

नगेन्द्र जी के प्रायः सभी निबन्ध विचारात्मक प्रकार में आयँगे। वैसे भावात्मकता का प्रभाव अनेक निबन्धों में मिलेगा। इस भावात्मकता और भावुकता ने इनकी रचनाओं में अपेक्षित सरसता और स्निग्धता ही नहीं भर दी, उपेक्षित नीरसता और रुक्षता को भी निर्वासित कर दिया। 'कवीन्द्र के प्रति' भावात्मक निबन्ध है, इसमें रवीन्द्रनाथ ठाकुर के चरणों पर लेखक ने अपनी श्रद्धा का अर्घ्य चढ़ाया है। भावुक हृदय का आस्था-विनत और अनुभूति-पुलकित भावोच्छ्वास इसमें आकुल हैं। 'प्रसाद' के 'नाटक'—ऐसे समीक्षा-निबन्ध में भी आपकी भावुकतायें छलकती है—"शान्त गम्भीर सागर जो अपनी आकुल तरंगों को दबाकर धूप में मुसकरा उठा है, या फिर गहन आकाश जो झँझा और विद्युत को हृदय में समाकर चाँदनी की हँसी हँस रहा है—ऐसा ही कुछ प्रसाद का व्यक्तित्व था।"

इनके निबन्धों में, आकार और पद्धति को लें, तो अनेकरूपता मिलेगी। किसी निबन्ध ('हिन्दी में हास्य की कमी') में वार्तालाप का ढँग है, तो किसी ('साहित्य की प्रेरणा') में कथात्मकता का। कोई ('वाणी के न्याय मन्दिर') एकांकी के ढँग है, तो कोई ('हिन्दी उपन्यास') भारतेन्दुकालीन स्वप्न के ढँग पर। ये सभी पद्धतियाँ वार्तालाप या संवादात्मकता प्रधान शैली में ही आयँगे। वैसे इनकी अधिकतर रचनाएँ निबन्धात्मक पद्धति पर ही हैं—शुद्ध निबन्ध पद्धति पर।

भाषा-शिल्पी के रूप में आप विशुद्धतत्समवादी हैं । अधिकतर शब्द अपने शुद्ध तत्सम रूप में ही आते हैं, पर अभिव्यंजना में बाधा पड़ने पर किसी विशेष शब्द के लिए आग्रह नहीं । उर्दू या देशज शब्द खोजने पर ही मिलते हैं । भाषा बहुत साफ़-सुथरी—मधुरता, सुबोधता और समर्थता उसके विशेष गुण हैं । प्रयास तो सरल वाक्य लिखने की ओर ही है; कहीं-कहीं भाव-गाम्भीर्य या विचार-विवेचन के कारण वाक्य संश्लिष्ट और मिश्र हो जाते हैं । अंग्रेज़ी शब्दों के लिए भी फैशन या पांडित्य-प्रदर्शन के रूप में आग्रह नहीं, उनका प्रयोग अनिवार्य, पारिभाषिक या पर्याय रूप में ही अधिकतर करते हैं—'बौद्धिक धाराओं' (Concepts), 'ऐन्द्रिक संवेशनों' (Sensations), 'सहजानुभूति की शक्ति' (Intuition), 'तीव्रता की शक्ति' (Degree), 'भावित', (Contemplated), 'प्रेरक', (Ketabolic), 'शौर्याश्रित प्रेम', (Chivalrous love) 'श्रृंगार का उन्नयन', (Sublimation) 'सहानुभूति' (Sympathy) ।

शैली के दो प्रकार इनके निबन्धों में मिलेंगे—प्रसाद और विवेचन। प्रसादात्मकता तो सम्पूर्ण रचनाओं में अपने अधिकार का निर्भय उपयोग करती पाई जाती है । बात अधिक-से-अधिक सुबोध ढँग पर कहने की ओर झुकाव है । अनेक स्थलों पर पूरे विवेचन के परिणाम आप नम्बर डालकर सामने रख देते हैं । विद्यार्थी समाज से अधिक सम्पर्क होने के कारण आपकी अभिव्यंजना में स्वच्छता और स्पष्टता है । विषय की गम्भीरता, गहनता और उलझन के अनुपात से भले ही अभिव्यंजना में अस्पष्टता आ जाय । वक्रता, व्यंजना, सूत्रात्मकता और कसाव का अभाव आपकी शैली में है । इसलिए शैली के रूप में, निबन्ध का व्यक्तित्व, बहुत सबल आकार पाता नज़र नहीं आता । व्याकरण-सम्मत शुद्ध भाषा आप लिखते हैं, इसलिए शैली में दैनिक जीवन की प्राणवान स्फूर्ति और नाटकीयता नहीं आती । प्रसाद-शैली का एक नमूना—

"भारतीय जागरण के अग्रदूत ! तुम प्राची के आँगन में बाल-रवि के समान उदित हुए, तुम्हारी प्रखर किरणों ने भारत के जड़ीभूत अन्धकार को विदीर्ण कर दिया—ज्यों-ज्यों तुम अपना स्वर ऊँचा करते गये, हमारे रूढ़ि-बन्धन शिथिल होते गये । हमारे जागरण का इतिहास तुम्हारे ही विकास का तो इतिहास है । भारतीय जीवन के एक विशाल युग पर तुम्हारा व्यक्तित्व प्रसरित है । हमारे युग ने अपनी जागृति के शैशव में तुम्हारी ही रस-स्नात रचनाओं का आनन्द लिया और प्रौढ़ावस्था में, हे मर्मी, तुमने ही उसे आत्मा का रहस्य-चिन्तन सिखाया । देश के एक विस्तृत भूभाग के हँसने और रोने में, करुणा और क्रोध में, प्रेम और घृणा में तुम्हारे गीतों की प्रतिध्वनि अब भी गूँजती है ।" —'विचार और अनुभूति', पृष्ठ २

विवेचन-शैली का एक उदाहरण—

"यदि आलोचक कलाकार के व्यक्तित्व के निश्चित और अनिश्चित तथ्यों में इतना उलझ जाता है कि कृति सर्वथा उपेक्षित हो जाती है, तो उसकी आलोचना किसी मनोविश्लेषण-ग्रन्थ का एक अध्याय तो हो सकती है, परन्तु काव्यालोचन की दृष्टि से वह अपने कर्त्तव्य से च्युत हो जाती है । यहाँ तक तो उनका आपेक्ष संगत है, और वास्तव में मनोविश्लेषण की कौमें कलाकृति का महत्त्व जिस प्रकार बहा जा रहा था, वह अनिष्टकर था—उसको फिर से स्थिर कर इलियट ने साहित्य का निश्चित ही उपकार किया है । परन्तु उसके जब वह कलाकृति को रचयिता के व्यक्तित्व से सर्वथा स्वतन्त्र घोषित कर देते हैं, वह ज्यादती है। इलियट एक अतिवाद का निबन्ध करते हुए स्वयं एक दूसरे अतिवाद के दोषी बन जाते हैं।"

—'विचार और विवेचन', पृष्ठ ६४

विवेचन में तर्क-युक्तियाँ, कारण-कार्य, परख-परिणाम का सहारा लेकर आगे नहीं बढ़ते; बल्कि स्वयं जो परिणाम निकालते या निश्चित समझते हैं, उसी को पाठक के सामने रख देते हैं । इस पद्धति में लेखक का अपना विश्वास बोलता है । विवेचना शैली का यह भी एक प्रकार है । डाक्टर नगेन्द्र ने अपने निबन्धों में विबादास्पद वादों और साहित्य-सिद्धान्तों को बहुत ही बोधगम्य ढँग से समझाया है । साहित्य के विद्यार्थियों के लिए उनकी यह प्रशंसनीय देन है ।

९

प्रभाकर माचवे

दर्शन, साहित्य, कला, चिन्तन सबका स्वस्थ सामंजस्य माचवे जी में है। दर्शन आपकी सरसता न पी सका, चिन्तन मधुरता न सुखा सका। निबन्धकार के रूप में आपका व्यक्तित्व खूब उभरा। आपके निबन्धकार के दो रूप हैं—विचारक और व्यंग्यकार। आपके व्यंग्यात्मक निबन्धों का एक संग्रह 'खरगोश के सींग' के नाम से निकल चुका है। अनेक विचारात्मक निबन्ध विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं की गोद में खेल रहे हैं। 'कुत्ते की डायरी', 'संदेश-बटोरक', 'मुँह', 'पत्नी सेवक संघ', 'गाली', 'गला', 'घूस', 'जेब', 'पूँछ', 'बिल्ली', 'मकान', 'खुशामद' आदि मनोरंजक निबन्ध, 'खरगोश के सींग' से बँधे हैं।

इन्हें पढ़ते हुए कभी मीठी गुदगुदी होती है कभी गुलाबी मुस्कान कौंधती है; कभी चुटीले व्यंग्य से पुतलियाँ चमक उठती हैं, कभी विनोदी उक्तियों से हृदय खिल पड़ता है।

"६ से ८-३० बजे तक—एक सफ़ेद पर्दे पर हिलती-बोलती तस्वीरें देखीं। अरे, तो यह आदमी जो अपने आपको बहुत सभ्य समझता है, सो कुछ भी नहीं है। जैसे हम लोगों में प्रेमातुरता होती है, वैसे ही इनके चलचित्रों की नायक-नायिका दिखाती हैं। कोई ख़ास अन्तर लड़ने-भिड़ने में भी नहीं—जैसे दो श्वान एक हड्डी के लिए लड़ते हैं, दो मानव एक मानवी के लिए या मत के लिए या पराये देश के लिए। अच्छा हुआ, मैंने यह दृश्य देख लिया, जिसे हज़ारों मानव चुप बैठे हुए आँखों के सहारे निगल रहे थे। मेरा स्वप्न भंग हो गया। मानव-जाति को मैं बड़ा आदर्श समझता था—परन्तु वैसी कोई विशेष बात नहीं।"

—'एक कुत्ते की डायरी'

'कुत्ते की डायरी' मानव-समाज, प्रधानतः पूँजीवादी समाज पर करारा व्यंग्य है। पूरे दिन की डायरी में पूँजीवादी गृहस्थ का चित्र दिया गया है। कैसी खोखली बहसें होती हैं, स्वार्थ की कितनी चिन्ता पूँजीपतियों को है, कैसा विलासी और निष्क्रिय जीवन ये जीवन बिताते हैं, छोटे-से निबन्ध में उपस्थिति कर दिया गया। आपकी उक्तियाँ गज़ब की होती हैं। भाषा की वक्रता भी उनमें रहती है। 'रक्तहीन क्रान्ति सम्भव है, परन्तु रक्तहीन हजांवत असम्भव', 'लँगड़ा कुछ भी हो, पलायनवादी नहीं हो सकता', 'हे ईश्वर, जग है नश्वर, फिर भी शाश्वत हैं रिश्वत', पढ़कर

लेखक को बधाई देनी पड़ती है। 'जेब' नामक निबन्ध में जेबकटी या पाकेटमारी का ज़िक्र करते हुए चन्दे के धन्धे से घर बनाने वाले मुफ़्तखोर नेताओं पर क्या सुन्दर मज़ाक है, "गिरहकट, जेबकतरे, गँठकतरे यानी पाकिटमार जाति के प्राणी शायद बढ़ते जा रहे हैं; क्योंकि वैसे तो माँगने के अनेकानेक आध्यात्मिक धार्मिक, शरणार्थिक, राष्ट्रीय और चांदिक (चंदे से बना शब्द) मार्ग इस पावन देश में हैं ही; उनमें 'बिन माँगे पाकिट मिले, माँगे मिले न नोट', वाला यह नया मार्ग चल पड़ा है।"

आपने कुछ ऐसे निबन्ध भी लिखे, जिनमें भाषा का कौतूहलमात्र है—वे केवल मनोरंजन भर करते हैं। 'गला', 'मुँह' ऐसे ही उदाहरण हैं। 'गला' प्रताप नारायण मिश्र के 'दाँत', 'भौं', 'नाक' का स्मरण दिलाता है। 'गला' में मुहावरों की माला लहराती है। माचवेजी के 'छाता', 'पूँछ', 'गला', 'गाली', विनोद के अच्छे नमूने हैं। 'मुँह' से एक अवतरण लें—

"लेकिन यह कहानी भी एक बीमारी है, जो बेमुँह के होते हैं, ऐसा कहते रहते हैं। स्त्रियों के मुँह में वैसे ही लगाम नहीं होती। उनके मुँह के रंग भी बदलते रहते हैं जैसे इन्द्रधनुष के। उनके मुँह को इस विज्ञान-युग में भी कवि लोग चन्द्रमुख कहते हैं, यह जानकर भी कि चन्द्र के समीप लाने का मतलब बर्फ से ठण्डे हो जाना है। कुछ लोग होते हैं, जो स्त्री-मुख देखते ही, या तो मुँह ताकते रहते हैं, या मुँह लटका लेते हैं, या मुँह फुला लेते हैं। मुँह-दिखाई बन्धुओं का ख़ास अधिकार है। पर यह बात मैं मुँह पर क्यों लाऊँ कि स्त्रियाँ ही हैं, जिनकी मुँह-धुराई मुँह से ही होती है। मैं पंत की पंक्ति नहीं कह रहा हूँ कि 'अधर से अधर, गात से गात'। मैं ऐसे भी कैसे मिजाज़ प्रेमी जानता हूँ जो इन मुँहों के पीछे मुँह के बल गिरे हैं, जिन्हें इन कलमुँहियों के पीछे अब मुँह छिपाना पड़ रहा है और शापनहार की तरह ज़िन्दगी भर के लिए औरत ज़ात से मुँह फुलाकर बैठे हैं।"

—'मुँह'

विचारक के रूप में आपने 'दर्शन', 'संस्कृति', 'कला', 'साहित्य-समीक्षा' के क्षेत्र में सफल सृजन किया। 'भारतीय स्वतन्त्रता और दर्शन', 'चित्रकला और हमारा सांस्कृतिक जीवन', 'दार्शनिक गाँधी', 'साहित्य और ललित कलाएँ', 'गुम्बद का विकास' आदि निबन्ध इस विषय में पठनीय उदाहरण हैं। दर्शन, संस्कृति और कला को आप जीवन-व्यापिनी, जीवनदायिनी, जीवनोपयोगी मानते हैं। जीवन से परे की वस्तु, कल्पना-सुलभ और यथार्थ-दुर्लभ हो जाने पर यह प्राणहीन और उपेक्षित हो जाती हैं, ऐसा आपका मत है। संस्कृति-निष्ठ कलाप्रेमी और दर्शन-विश्वासी होते हुए भी इनके सम्बन्ध में आपके विचार प्रगतिशील यथार्थवादी हैं।

"दर्शन शून्यावस्था में नहीं रह सकता ! वह मानव-निर्मित, मानवोपयोगी और मानवता-मण्डित यदि नहीं है तो वह आत्महत्या करने वाला दर्शन है । मानव और जीवन शब्दों के अर्थ को उनकी समग्र अभिधा के साथ यहाँ प्रयुक्त किया गया है । दर्शन की धारा का एकांगी होकर सदियों तक सूख जाना इस बात का प्रमाण है कि कहीं न कहीं दर्शन और जीवन के बीच में खाई पड़ गई । जीवन अपने रास्ते चलने लगा, दर्शन अपने ! फलतः दर्शन ने धर्म के कर्मकाण्ड और कट्टर कठमुल्लापन में शरण ली; जीवन केवल प्रकृतियों की भौतिक लक्षणाओं के शमन में मनुष्य को निरा पशु बनने पर बाध्य करने लगा । ज्ञान की वह विराट परम्परा जो उपनिषत्कारों से लेकर, महावीर, बुद्ध, कपिल, जैमिनी, कुमारिल, धर्मकीर्ति, गौडवाद, वादरायण, शंकर, रामानुज तक चलती रही हैं, सहसा जैसे उपासना के पन्थों समाजोपदेश और समाज-सुधारक सन्तों में खो गई । भारतीय संस्कृति में विदेशी विचारधाराओं का आक्रमण और फिर कहीं-कहीं संमिश्रण होने लगा ! विशुद्ध दर्शन जैसे मध्ययुग के इस लम्बे काल खण्ड में, प्रायः ईसा की ८वीं सदी से १८वीं सदी तक विलुप्त प्राय हो गया। उसका प्रकाश केवल संतों के वाक्यों में भक्तों की उपासना में और यत्र-तत्र किसी योगी के चमत्कार में सीमित हो गया ।" —'भारतीय स्वतन्त्रता और दर्शन'

भाषा-शैली के, माचवेजी की रचनाओं में, दो प्रकार मिलते हैं—एक तो व्यंग्यात्मक चलता व्यावहारिक और मिश्रित रूप और दूसरा गम्भीर तत्समता-प्रधान रूप । पर सरलता और सुबोधता दोनों में आधिकारिक रूप में है । व्यंजना और लक्षणा दोनों ही रूपों में पाई जायगी । अर्थ की गहनता और विस्तार भी शैली में मिलेगा । 'अभाव में भाव तो बढ़ता ही है', कहकर विरोधाभास द्वारा कभी-कभी यह गज़ब का भाव-प्रकाशन करते हैं । 'कुछ भी हो लँगड़ा पलायनवादी नहीं हो सकता' में भी विलक्षण वक्रता है । यमक और श्लेष-द्वारा भी यह अच्छा काम लेते हैं, "ससुराल यों चाहे जेल को कहें, जेलर को, आप चाहें 'सुर' या 'असुर' कह लें; ससुर नहीं कह सकते ।" देशी-विदेशी साहित्य का अच्छा अध्ययन होने के कारण आपकी रचनाओं में कथा-प्रसंग और आप्तवाक्य पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं । सांकेतिकता और प्रतीकात्मकता भी शैली की विशेषता है । कहीं-कहीं अंग्रेज़ी शब्दों और वाक्यों का व्यवहार भी आप करते हैं । विचारात्मक निबन्धों में भाषा-शैली का तत्समप्रधान रूप होते हुए भी दुरूहता और भाव-भाषा की उलझन नहीं आने पाती । प्रसादात्मक और विवेचनात्मक—दोनों शैलियाँ आपकी रचनाओं में मिलेंगी । व्यंग्य का सहारा शक्ति, अभिव्यंजना, प्रभाव और प्रकार सभी रूपों में शैली की विशेषता है । संस्कृत की कृत्रिम अव्यावहारिक बोझल भाषा और शैली का

आप खूब मज़ाक उड़ाते हैं। ऐसी ही शैली पर व्यंग्य करते ए आप ने विलक्षण शब्दावली गढ़ी है—

'अश्व-चालित-वर्तुल-छत्राच्छादित-त्रिमूर्ति-वाहक-उच्चयान' (एक्का); 'अग्नि-रथ गमनागमन सूचक हरितरक्त दीपयुक्त लौहस्तम्भ पट्टिका' (सिगनल); 'यन्त्र-शास्त्र' (इंजीनियरिंग)। 'धन्य हो! वह तो आपकी दृष्टि से अत्यन्त उत्तम रेखा (लाईन) है, ऐसा मैंने सुना है।'

'सवाक चित्रपटार्थ आवश्यक कार्यार्थ कर्पूरादि निर्मित पारदर्शी पट्टिका।' (सिनेमा फ़िल्म); 'वैश्यकूट' (बिस्किट)।

इससे आपका भाषा सम्बन्धी सिद्धान्त स्पष्ट हो जाता है।

१०

रामप्रसाद विद्यार्थी 'रावी'

'प्रसाद' की भावात्मक रंगीन काव्यमय गद्यशैली से प्रेरित हिन्दी में भावात्मक प्रलाप-साहित्य की रचना ने ज़ोर पकड़ा। विश्वकवि ठाकुर की गीतांजली का प्रभाव भी इस क्षेत्र में कम नहीं रहा। यह प्रलाप-साहित्य अब अंतिम साँस ले रहा था, 'रावी' जी ने इसे 'पूजा' भेंट की। कुछ दिन बाद 'शुभ्रा' भी वे लाये। दोनों रचनाएँ मरते प्रलाप-साहित्य (गद्यकाव्य) के दो-चार-साँस बढ़ाने में भी समर्थ हुईं। साहित्य की इस विधा को हम स्वतन्त्र नहीं मानते, भावात्मक निबन्ध के अन्तर्गत ही इसे सम्मिलित करते हैं।

'पूजा' के आकुल स्वरों से गुंजित और 'शुभ्रा' के आलोक में नहाये कल्पना-लोक को छोड़ रावीजी विचार के यथार्थ धरातल पर आये। अब वह कहानी और निबन्ध, दोनों में ही विचारात्मक हैं। 'पाप का पुण्य', 'पूर्व और पश्चिम', 'उपजाऊ पत्थर', 'पत्नियों का द्वीप', कहानी और 'आप से मुझे कुछ कहना है', 'नई दुनिया : नया प्रश्न', 'मेरी सुनिये : अपनी सोचिये' निबन्ध-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं।

'पूजा' और 'शुभ्रा' में रावी के भावुक मुग्ध मन के उच्छ्वास हैं। इनमें संगृहीत अनेक गद्यगीत, भावात्मक निबन्ध की कसौटी पर कसे जाकर, अगली पंक्ति में बैठ सकते हैं। इनकी भावात्मक रचनाओं में अनुनय की विनम्रता, आस्था की मुग्धता, भक्ति की मधुरता और शैशव की सरलता मिलेगी। सीधीसादी भाषा में, सरल-स्वच्छ शैली में यह अपने हृदय का घूंघट खोलते हैं। न कहीं हास्यास्पद प्रलाप, न बनावटी अलकारों की भीड़, न भाषा की श्रमसाध्य रंगीनी और न भाव और अर्थ की उलझन। भाव और भाषा में समप्रवाह सदा रहता है। कभी-कभी याचना में युक्तिवाद की झलक भी मिलेगी; पर यह इतना नहीं कि भावात्मकता को वकीली बहस दबाले।

परोक्ष के प्रति आत्मनिवेदन रहेगा तो संकेतात्मकता आयगी ही—यह इनकी रचनाओं में है। संतों की रहस्यभावना भी जहाँ-तहाँ मिलती है। व्यावहारिक भाषा की ही स्वीकृति अधिक है, तत्समता का तिरस्कार नहीं। दैनिक जीवन के साथी उर्दू-शब्द भी बेधड़क अपने अधिकार का उपभोग करते हैं। शैली के रूप में इनकी भावात्मक रचनाएँ प्रवाह और प्रसाद में ही आयँगी, प्रलाप की झलक मात्र भले ही मिल जाय। एक अवतरण—

"प्यारे देवदूत ! इस नीले आकाश के इस कोने की ओर देखो, जहाँ ये दो अरब के लगभग सितारे बसे हुए हैं। इन्हीं तारों में से एक में मैं रहता हूँ।

जब तुम आते हो, तुम्हारे पैरों की आहट पाकर मुझे खबर लग जाती है और मैं तुरन्त ही उठकर तुम्हारे साथ आकाश-गंगा के रास्ते तुम्हारे चन्द्रलोक की ओर चल देता हूँ।

मैं चाहता हूँ कि जब मैं तुम्हारे साथ चलने लगा करूँ तब मेरे पड़ोसी अपने आदर-प्यार से मुझे सम्मानित किया करें; पर उन्हें मेरे प्रस्थान की ख़बर नहीं होती।

जब मैं तुम्हारे साथ उस आकाश-गंगा के पथ पर कुछ दूर सैर करके अकेला अपने वासस्थान में वापस आता हूँ तब मेरे पड़ोसी मेरी ओर आँख उठाकर देखते तक नहीं, जैसे मैं उनकी भूमिका से ऊपर की किसी दिव्य विहार-स्थली का वैभव अपने साथ लेकर न आया होऊँ।

आदर करना, मुझ से संदेश लेना तो दूर; वे उल्टा मेरा उपहास करने लगते हैं। वे समझते हैं कि मैं अभी तक अपने घर में आलस में पडा रहा हूँ और वे काम-काज में मुझसे बहुत आगे बढ़ गये हैं। वे इन्हीं ऊपरी झमेलों के कामों के सम्बन्ध में उपहास-पूर्वक और कभी-कभी कुछ तरस दिखलाते हुए, मुझ पर प्रश्नों की झड़ी लगा देते हैं। मैं उन्हें सब बातें ठीक-ठीक समझा देना चाहता हूँ पर मेरे हृदय में मेरे विचारों को कोई इस प्रकार बन्द कर देता है कि मैं उन्हें अपनी जिह्वा द्वारा प्रकट नहीं कर पाता। तब मेरे सञ्चित वैभव की एक झलक ही मेरे सितारे को इतने वेग से क्यों नहीं जगमगा देती कि उनकी आँखें उसकी चकाचौंध से मुंद जायँ और उनके सिर मेरे प्रति आदर-सम्मान से झुक जायँ ?" —'पूजा', पृष्ठ ९६

यह शुभ ही हुआ कि आप निष्क्रिय भाव-भूमि को छोड़, सक्रिय सचेत विचार के कर्म-क्षेत्र में आये। आपके विचारों में नव-निर्माण की कामना, नवीन मानव-समाज के उदय की आस्था और चेष्टा और नवीन जीवन की प्रेरणा है। स्वाधीन चिन्तन और स्वस्थ व्यक्तित्व, जो विचारात्मक निबन्ध की साँस है, आप में मिलेगा। मानव, समाज, काम-सम्बन्ध, दैनिक जीवन की समस्याएँ—सभी पर आपने निजी ढँग पर सोचा है।

विविध विचारों और दृष्टिकोणों के प्रति आप मानवीय और सहानुभूति-पूर्ण हैं। अन्य के विचारों को समझने का अवसर आप जाने नहीं देते। आपकी रचनाएँ पढ़ पाठक स्वयं भी सोचने की प्रेरणा पाता है। कथन में आत्मीयता है। पाठक से साथी के समान बातचीत करते हुए आगे बढ़ते हैं। बीच-बीच में प्रश्न भी करते और उत्तर भी देते चलते हैं। लगता है, पाठक के मन की उलझन समझते और लझाते हैं—"क्या आप समझते हैं कि आप और नये समाज का स्वागत करने वाले सभी लोग परिवर्तन चाहते हैं ? आइये, इसकी थोड़ी छानबीन करें। समाज का व्यवहार अपहरण की प्रवृत्ति पर स्थित है, ऐसा क्यों ?—यह कल और परसों के लिए वस्तुएँ क्यों एकत्र करना चाहता है ? कल का भय।"

समाज और मानव के नवनिर्माण के प्रति आप सजग और सचेष्ट हैं, उनकी समस्याओं के प्रति चिन्तनशील और सतर्क। पर आपकी निर्माण-योजनाएँ अव्यावहारिक और आसमानी हैं; समस्याओं के सुलझाव अबुद्धिवादी, असफल और हवाई। वे हज़ारों वर्ष पुराने घिसे सिक्कों की तरह के साहित्य के म्यूज़ियम में रखे जा सकते हैं, जीवन में विनिमय के साधन नहीं बन सकते। समस्याओं का सुलझाव आप निवृत्ति में तलाश करते हैं—पलायन में विजय का विश्वास रखते हैं। समस्या का विवेचन आप यों करते हैं—"अपहरण, संग्रह और शोषण घातक सामाजिक रोग बन गये हैं। ऐसा हुआ क्यों? कल-परसों के भय के कारण। भय दूर हो; तो शोषण, संग्रह और अपहरण भी न रहें। भय दूर हो कैसे? भय कहीं नहीं हो सकता, यदि चाह न हो। भय का कारण है, चाह। बल्कि भय और चाह एक ही मानसिकता के दो पार्श्व हैं। ······समाज के हृदय से कल और परसों का भय दूर करने के लिए यह आवश्यक है कि वस्तुओं का मोह और उनकी चिन्ता का निवारण किया जाय। ······समाज का नया निर्माण वही हो सकता है, जिसमें उसका प्रत्येक व्यक्ति वस्तुओं के मोह और उनकी चिन्ता से मुक्त हो।······ नये समाज का निर्माण वही हो सकता है, जिसका व्यक्ति अपहरण संग्रह, भय और वस्तुओं पर निर्भरता की प्रवृत्ति से मुक्त हो।"

इस भय को बाहरी साधनों से दूर किये जाने के पक्ष में आप नहीं; "संग्रह और अपहरण को किन्हीं बाह्य साधनों द्वारा यदि आप कुछ समय के लिए रोक भी सकें, तो भी उनके कारण ज्यों-के-त्यों बने रहते हैं।" साफ़ है, निवृत्ति सबल आग्रह और विनीत अनुरोध बनकर आपकी रचनाओं में आती है। पर अपहरण, संग्रह और शोषण का अन्त क्या इस साधन से आज तक हो सका? हज़ारों वर्षों से इसका असफल प्रयोग हो रहा है—शोषण बढ़ता ही गया, अपहरण और संग्रह समाज का आदर्श तक बन गया। जिन ऋषियों के क्रोध का आतंक आज भी रोम-कम्पित करता है, जिनके अध्यात्म-बल और योग-सिद्धियों की कहानियों की एक फूंक अलादीन का चिराग बुझा दे, वे भी समाज से संग्रह, शोषण और अपहरण का अन्त न कर सके। भय दूर हो जाय, हो गया। शोषण बन्द हो, हो गया। वस्तुओं से मोह छोड़ो, छोड़ दिया। यह होता कहाँ है? समस्याएँ हवाई कल्पनाओं से कभी सुलझीं? अपहरण, संग्रह और शोषण का अन्त तो तभी हो सकता है, जब किसी को अपहरण का अधिकार, शोषण की सुविधा और संग्रह का अवसर न मिले। यह तभी हो सकता है, जब सब को केवल परिश्रम का ही पुरस्कार मिले। हमें भय है कि ऐसा ही काल्पनिक जीवन-दर्शन सामाजिक शोषण की ढाल बनता है। जिन को समाज और शासन के क़ानून खुली लूट और उस लूट के मीठे फल चखने का अधिकार देते है, वे भला मोह क्यों छोड़ने लगे। हाँ, वे अन्य से मोह छुड़ाने के लिए अनेक साधन अवश्य जुटाते हैं।

शैली की बात कहें, तो वह कहीं प्रसादात्मक और कहीं विवेचनात्मक रूप लेकर आती है। उर्दू के प्रचलित और स्वीकृत शब्द स्वाधीनता से आते हैं। वाक्य भी सरल और अधिकतर संक्षिप्त। अनेक स्थलों पर भावों को अभिव्यक्ति देने के लिए प्रभावशाली सफल स्कैच भी मिलेंगे। प्रशनात्मकता भी इनकी शैली की एक विशेषता है।

"और आपकी भावनाएँ, इच्छाएँ, कामनाएँ वासनाएँ (अगर आप में कोई हो), दिल की लगावटें, नफ़रत, खुशियां, बेचैनियाँ, हसरतें, उम्मीदें ये सब आप जानते हैं, क्या हैं ? ये कहाँ से आती हैं, कहाँ जाती हैं, कहाँ रहती हैं, क्या करती हैं, और क्या-क्या कर सकती हैं, इनकी औक़ात क्या है, आपके पास ये कितनी हैं—इन बातों का आपको पता है ? क्या आप जानते हैं कि आपके पास वो वो ताकतें हैं जिनसे आप चाहें तो दुनियाँ को जीत सकते हैं पहाड़ों को खिसका सकते हैं, और नागनियों और शेरनियों को चूम सकते हैं ? क्या आप जानते हैं कि आप इनके बिना किसी भी दिन किसी भी घण्टे, किसी भी पल कोई काम नहीं कर सकते और इन्हीं की बदौलत आप इकन्नियों में हीरे खरीद लेते हैं और इकन्नियों में हीरे बेचने के लिए मजबूर भी हो जाते हैं ? आपको दुनिया के इस ज़बरदस्त जादू का, जिसे जानते हुए या अनजान में, थोड़ा-बहुत काम आप हर समय लेते हैं, पता है ? क्या आप जानते हैं कि जो कुछ आप इन साधनों से कमा सकते हैं, आपका धन-दौलत से कमाया हुआ माल, उसका पासंग भी नहीं हो सकता। इन जादुओं के सम्बन्ध में क्या आपको मालूम है कि जानने वालों ने कितनी किताबें हमारी-आपकी जानकारी के लिए लिख रखी हैं ? ··· और भावना से भी आगे, आपके मनोविचार नाम का जो चीज़ उठा करती है, उसे भी क्या आप जानते हैं ? भावना और विचार का अन्तर क्या आपको मालूम है ? ··· जो-जो कुछ भी मैं पाना चाहूँ उसकी प्राप्ति के ऊपर कहे दस खास साधन मेरे पास हैं और इन दसों में विचार का सब से ऊँचा स्थान, कम से कम मेरे लिए हैं।"

—'मेरी सुनिए, अपनी सोचिए'

स्पष्ट करने के लिए एक ही विचार या भाव को बार-बार दुहराते भी हैं। कहीं तो यह प्रयत्न अरुचिकर भी बन जाता है।

"परिवर्तन स्वयं परिवर्तनशील है, केवल निर्माण ही प्रगतिशील है।"

'बाहर से किसी वस्तु के आकार का बदलना परिवर्तन है भीतर से नये आकार का उभार निर्माण है।"

"परिवर्तन नहीं केवल नव-निर्माण ही प्रगतिशील हो सकता है।"

"कोई भी परिवर्तन ऐसा नहीं हो सकता, जिसके आगे परिवर्तन की आवश्यकता न हो।"

"परिवर्तन बाहर से थोपी हुई एक विभिन्नता है, नव निर्माण भीतर से उगी हुई एक कृति है।"

साथी-संगियों का उल्लेख आपकी रचनाओं में अरुचिकर सीमा तक होता है। व्यापक समाज के उभरे हुए प्रतिनिधि या प्रतीक के रूप में व्यक्ति आवे, तो क्या बात! पर वे इस रूप में नहीं आते। संगी-साथियों का यह उल्लेख निबन्ध के अनुरोध और प्रभाव को सीमित कर देता है। कभी-कभी तो लगता है, निबन्ध आगरा की तंग गलियों का सीमाओं में ही घूम रहा है। 'आप से मुझे कुछ कहना है,' में यह दोष बहुत ही उभर आया है। अनेक स्थलों पर बात कहने में घुमाव अधिक है, सफ़ाई और सरलता कम। ऐसे अवसरों पर कथन रहस्य-संकेत हो जाता है। साध्य बहुत दूर जाकर मिलता है।

वैसे रावीजी की शैली और चिन्तनशीलता ने हिन्दी-साहित्य में नवीन पथ की ओर पग बढ़ाया है। सोचने और कहने का ढँग भी उनका अपना है। विचारात्मक निबन्ध उनके व्यक्तित्व में नया उभार और आकार लेकर आये हैं। समाज की समस्याओं को भी उन्होंने बुद्धिवाद की कसौटी पर कसकर सुलझाव देने का प्रयत्न अवश्य किया है।

इस अवतरण से भी इनकी शैली और विचार-पद्धति पर प्रकाश पड़ेगा—

"इस 'मुमकिन है' शब्द के इस्तैमाल के बारे में मुझे आप से कुछ निजी ढँग की बात भी कहनी है। मुझे ऐसे स्कूल का पता है जो, मुमकिन है, दुनिया का सबसे ऊँचा स्कूल हो—क्योंकि उसमें पढ़ने वालों को बताया जाता है कि वह सब से ऊँचा स्कूल है। पिछले कुछ दिनों उस स्कूल के शुरूआती दर्जे में मैंने भी थोड़ी-सी शिक्षा पाई है। उस स्कूल की जड़ें दुनिया के दूरदराज कोनों तक फैली हुई हैं। उस स्कूल के भी अठारह दर्जे हैं और उसके दफ़्तर की इमारतें मेरे (अब कहना चाहिए, मेरे पास के) शहर में ही है। मेरे एक बुज़ुर्ग मित्र उसे अकसर 'दि ग्रांड स्कूल ऑफ़ कॉस्मिक ज्योग्राफ़ी' का नाम देते हैं। हर एक नया पढ़ने वाला विद्यार्थी उस स्कूल के छठे दर्जे में भरती किया जाता है। उस का काम ही ऐसा है।·· ···मेरे शहर की उन इमारतों में जिनमें उस स्कूल का दफ़्तर है, आप उस मास्टर को देख सकते हैं। ऊपरी तौर पर देखने में वह मास्टर और आदमियों जैसा ही एक आदमी है, और अगर आप उसके शरीर में दूसरों के मुक़ाबले कोई फ़र्क देख सकते हैं तो यही कि वह अपने शरीर का भी पूरा मालिक है और वह उससे जितना-जैसा काम लेना चाहे, ले सकता है—मैं और आप रोटी और पानी और नींद और कभी-कभी चाय की खूराकें पूरी किये बिना वैसा नहीं कर सकते।" —'मुझे आप से कुछ कहना है', पृष्ठ १३१

परिशिष्ट

१

जयशंकर प्रसाद

२

बेचन शर्मा 'उग्र'

३

हरिशंकर शर्मा

४

पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल

५

सियारामशरण गुप्त

६

राहुल सांकृत्यायन

७

इलाचन्द्र जोशी

८

रामधारीसिंह 'दिनकर'

९

हरिभाऊ उपाध्याय

१०

रामकृष्ण 'शिलीमुख'

११

सद्गुरुशरण अवस्थी

१२

रामविलास शर्मा

१३

महावीर अधिकारी

१४

विश्वप्रकाश दीक्षित 'बटुक'

१५

भगवानदीन

१६

अन्य रचनाएँ

१

जयशंकर 'प्रसाद'

प्रसाद का महान व्यक्तित्व भारतीय साहित्य में नव-निर्माण और चिरंतन सृजन का प्रतीक बना। काव्य, कथा, नाटक—सभी क्षेत्रों में उन्होंने गौरवपूर्ण, अमर साहित्य की रचना की। निबन्ध लिखे तो उन्होंने कम; पर वह कम भी हिन्दी की समृद्धि है। परख की कसौटी संख्या नहीं, शक्ति होनी चाहिए। अध्यापक पूर्णसिंह ने तो इनसे भी कम लिखा; पर उनके निबन्धों को निकाल दें, तो निबन्ध-साहित्य में दराड़ साफ़ मालूम होने लगेगी। प्रसाद के निबन्धों के विषय में भी हमारा यही मत है—विश्वास भी। नाटकों की छोटी-छोटी भूमिकाएँ भी निबन्ध की संज्ञा पा सकती हैं। पर यहाँ हम उनकी 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध' को ही—समीक्षाधीन ले रहे हैं। इसमें काव्य, कला, रस, साहित्य के विविध वाद, रूपक आदि से सम्बन्ध रखने वाले आठ निबन्ध संकलित हैं।

प्रसादजी भारतीय संस्कृति के विश्वासी और उपासक ही नहीं, उसके सबल उन्नायक भी हैं। प्राचीन साहित्य, दर्शन और इतिहास के आप आस्थावना प्रेमी और प्रकाण्ड पंडित ही नहीं, उसके सचेष्ट आकुल उद्धारक भी हैं। आपका दार्शनिक और ऐतिहासिक अन्वेषण आधुनिक भारतीय साहित्य और हिन्दी के लिए आनन्दमयी विस्मयजनक सफलता है। अन्धकार के मोटे और जड़ परतों को खोल आपने भारतीय संस्कृति, साहित्य और इतिहास की नई झाँकी ही नहीं दिखाई, उसको प्रमाणों के सशक्त पैरों पर खड़ा कर सामने ला दिया। आपके निबन्धों में भी आपका यही ज्ञान-सम्पन्न, गौरव-प्रसन्न, संस्कृति-साधना-रत, दर्शन को पान कर जीवन को प्रकाशपूर्ण प्रेरणा देने वाला व्यक्तित्व मिलेगा। सभी निबन्धों में आपकी अन्वेषक प्रतिभा और इतिहास-मंथन का पता चलता है। सभी निबन्धों की विवेचन-शैली में उनकी निजी मौलिकता झलकती है। विषय विवादास्पद हैं। परिणाम पर पहुँचने के लिए अभिभूत करने वाले प्रमाण ही नहीं, विश्वस्त करने वाली युक्तियाँ भी आवश्यक हैं। प्रमाण, तर्क, युक्ति विवेचन-शैली के अनिवार्य तत्त्व हैं। ये सभी तत्त्व इनके निबन्ध के साँस हैं। न तो केवल दर्शन को ही अन्तिम साक्षी मानते हैं न इतिहास को और ना ही मानव-उद्योगों को। किसी साहित्य-सिद्धान्त या वाद का विश्लेषण कर अपना निर्णय देते हुए इतिहास की गवाही, मानव मनोविज्ञान की यथार्थता और दर्शन की बुनियाद पर उसे पाठक के परीक्षण के लिए खड़ा कर देते हैं। इतिहास, दर्शन, मानव-उद्योगों—

परिस्थितियों—का समन्वय इनकी शैली का प्राण है। शास्त्र को भी इतिहास और मनोविज्ञान की कसौटी पर परखते हैं। इसलिए न तो आस्थाओं में परम्परा की जड़ता मिलेगी और न ममता की शिथिलता—उनमें प्रगति और शक्ति है। अतीत की अमरता के साथ नवीन की प्राणवान गति और सजीव चमक आपके विचारों में पाई जायगी। सभी निबन्ध समीक्षात्मक या अन्वेषणात्मक हैं—सभी को विचारात्मक प्रकार में लिया जायगा। अनेक स्थलों पर पाठक 'मानसिक श्रमसाध्य उपलब्धि' पाता है। नवीन विचार-पथ पर भी मस्तिष्क दौड़ता है। हमारे चिन्तन-तन्तुओं में चेतना के तार बजते हैं। 'रंगमंच' में परिचयात्मकता अधिक है, विवेचन या नवीन सृजन कम। 'नाटकों का आरम्भ' और 'रहस्यवाद' में विचारात्मकता का अभाव और इतिहास-तत्व का बाहुल्य है। 'यथार्थवाद' और 'छायावाद' में इतिहास और सिद्धान्त-विवेचन का सानुपातिक सामंजस्य है। शेष निबन्धों में विचारतत्त्व सर्वोपरि है।

एक उद्धरण—

"काव्य आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति है; जिसका सम्बन्ध विश्लेषण, विकल्प या विज्ञान से नहीं है। वह एक श्रेयमयी प्रेय रचनात्मक ज्ञान-धारा है। विश्लेषणात्मक तर्कों से और विकल्प के आरोप से मिलन न होने के कारण आत्मा की मनन-क्रिया जो वाङ्मय रूप में अभिव्यक्त होती है, वह निस्सन्देह प्राणमयी और सत्य के उभय लक्षण प्रेय और श्रेय दोनों से परिपूर्ण होती है। इसी कारण हमारे साहित्य का आरम्भ काव्यमय है। वह एक दृष्टा कवि का सुन्दर दर्शन है। संकल्पात्मक मूल अनुभूति कहने से मेरा जो तात्पर्य है, उसे भी समझ लेना होगा। आत्मा की मनन-शक्ति की वह असाधारण अवस्था, जो श्रेय-सत्य को उसके मूल चारुत्व में सहसा ग्रहण कर लेती है, काव्य में संकल्पात्मक मूल अनुभूति कही जा सकती है। कोई भी यह प्रश्न कर सकता है कि संकल्पात्मक मन की सब अनुभूतियाँ श्रेय और प्रेय दोनों ही से पूर्ण होती हैं, इसमें क्या प्रमाण है? किन्तु इसीलिए साथ-ही-साथ असाधारण अवस्था का भी उल्लेख किया गया है। यह असाधारण अवस्था युगों की समष्टि अनुभूतियों में अन्तर्हित रहती है क्योंकि सत्य अथवा श्रेय-ज्ञान कोई व्यक्तिगत सत्ता नहीं; वह एक शाश्वत चेतना है, या चिन्मयी ज्ञान-धारा है, जो व्यक्तिगत स्थानीय केन्द्रों के नष्ट हो जाने पर भी निर्विशेष रूप से विद्यमान रहती है। प्रकाश की किरणों के समान भिन्न-भिन्न संस्कृतियों के दर्पण में प्रतिफलित होकर वह अब आलोक को सुन्दर ऊर्ज्वसित बनाती है।"

—'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध', पृष्ठ १८

ऊपर के अवतरण में प्रसादजी के विचारक निबन्धकार का यथार्थ प्रतिनिधित्व हो जाता है। शैली विवेचनात्मक है। 'इसी कारण', 'किन्तु', 'इसीलिए' 'क्योंकि', 'इसमें क्या प्रमाण ?' आदि शब्द युक्ति, कारण-कार्य-सम्बन्ध, परीक्षण और परिणाम आदि को प्रकट करते हैं। भाषा में शक्ति तो है ही, प्रभावात्मकता भी है। पाठक को अभिभूत और विश्वस्त करने का उद्देश्य भी शैली में प्रकट है। कोई सिद्धान्त या निर्णय देकर बाद में उसे समझाने का प्रसादात्मक प्रयत्न भी है; पर गौण रूप में। भाषा को लें तो वह विशुद्धतावादी वर्ग में आती है। तत्सम शब्दों का ही अधिकार है। देशज तद्भव, परभाषा के शब्द खोजने पर भी नहीं मिलते। विचार या विश्वास की दृष्टि से ही नहीं, भाषा के बाह्य स्वरूप की दृष्टि से भी इसमें प्रसादजी की सांस्कृतिकता है।

शैली में अनेक स्थलों पर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की सूत्रात्मकता भी मिलेगी। सूत्रात्मकता शैली में विलक्षण गठन और अर्थ-विस्तार भर देती है। अर्थ-विस्तार और व्यापक व्यंजना प्रसाद की शैली में है। नीचे दिये गये वाक्य देखें—'संस्कृति सौन्दर्य-बोध के विकसित होने की मौलिक चेष्टा है।' (५) 'व्यंजना वस्तुतः अनुभूति-मयी प्रतिभा का स्वयं परिणाम है।' (२५) 'काव्य आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति है।' (१७) 'दुःख-दग्ध जगत और आनन्दपूर्ण स्वर्ग का एकीकरण साहित्य है' (१४२)।

कभी-कभी निबन्ध में सम्पूर्ण विवेचन और तत्वों के निर्धारण को सार रूप में भी निबन्ध के अन्त में आप दे देते हैं, इससे संक्षेप में सब-कुछ सामने आ जाता है।

एक अवतरण देखें—

"छाया भारतीय दृष्टि से अनुभूति और अभिव्यक्ति की भंगिमा पर अधिक निर्भर करती है। ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौन्दर्यमय प्रतीक-विधान और उपचार-वक्रता के साथ स्वानुभूति की विवृत्ति छायावाद की विशेषताएँ हैं। अपने भीतर से मोती के पानी की तरह आन्तरस्पर्श करके भाव-समर्पण करने वाली अभिव्यक्त छाया कान्तिमयी होती है।"

—'काव्य और कला', पृष्ठ १४६

प्रसाद-शैली का उदाहरण—

"काव्य में आत्मा की संकल्पात्मक मूल अनुभूति की मुख्य धारा रहस्यवाद है रहस्यवाद के सम्बन्ध में कहा जाता है कि उसका मूल उद्गम सेमेटिक धर्म-भावना है और इसीलिए भारत के लिए वह बाहर की वस्तु है किन्तु श्याम देश के यहूदी, जिनके पैगम्बर मूसा इत्यादि थे, सिद्धान्त में ईश्वर को उपास्य और मनुष्य को जिहोवा (यहूदियों के ईश्वर) का उपासक अथवा दास मानते थे। सेमेटिक धर्म में मनुष्य की ईश्वर से समता करना अपराध समझा गया है। क्राइस्ट ने ईश्वर का पुत्र होने की हा

घोषणा की थी, परन्तु मनुष्य का ईश्वर से यह सम्बन्ध जिहोवा के उपासकों ने सहन नहीं किया और उसे सूली पर चढ़ा दिया। पिछले काल में यहूदियों के अनुयायी मुसलमानों ने भी 'अनलहक़' कहने पर मंसूर को उसी पथ का पथिक बनाया। सरमद का भी सिर काटा गया।। सेमेटिक धर्म-भावना के विरुद्ध चलने वाले ईसा, मंसूर और सरमद आर्य-अद्वैत धर्म-भावना से ही अधिक परिचित थे।"

—'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध', पृष्ठ ३१

संस्कृत और हिन्दी के उद्धरणों का उपयोग प्रसादजी भी अपनी रचनाओं में करते हैं। यह उपभोग अनिवार्य स्थिति में ही; पांडित्य-प्रदर्शन या व्यर्थ व्यसन के रूप में नहीं। विषय-वस्तु का सम्बन्ध अधिकतर शास्त्रीय विवेचन विवाद और इतिहास से होने के कारण इसके बिना काम नहीं चलता दीखता। इन उद्धरणों का प्रयोग वे अनेक रूपों में करते हैं। कभी अपने निर्णयों या आस्थाओं के समर्थन के लिए, कभी प्रमाणस्वरूप, कभी मतभिन्नता के रूप में किसी प्रतिष्ठित मतवाद का खण्डन करने के लिए और कभी अभिव्यंजना (भाषा-शैली का ही अंग) के रूप में—

"जब 'वहिति विकलं कायोन मुन्चति चेतनाम्' की विवशता वेदना को चैतन्य के साथ चिर बन्धन में बाँध देता है (१४८)।" "कुन्तल के शब्दों में यह 'उज्ज्वला छायातिशय रमणीयता' वक्रता की उद्‌भासिनी है (१४५)।" "अनुन्मत्ता उन्मत्त वदाचरन्तः' सिद्धों ने आनन्द के लिए संगीत को भी अपनी उपासना में मिलाकर (५६)।" अंग्रेज़ी शब्दों का प्रयोग भी कहीं-कहीं प्रसादजी ने किया; पर बहुत ही कम; डेढ़ सौ पृष्ठ की पुस्तक में केवल १०-११ शब्द ही देखने में आये। ये भी भाषा का अंग बनकर नहीं; पारिभाषिक अभिव्यंजना के रूप में—बाह्य वस्तु (Foreign element), अनुकरण (Imitation), भौतिक (Materialism), गति-प्रचार (मूवमेण्ट), वस्तु-निवेदन (डिलीवरी) सम्भाषण (स्पीच) दृश्यान्तर (ट्राँसफर सीन) अनुभूतिमय (Subjective)। उर्दू या अन्य भाषा के शब्द खोजने पर भी नहीं मिलते। 'जल्दबाजी' भी न जाने तत्सम शब्दों की भीड़ के महासागर में कैसे आ गया, सो भी विशेष व्यंग्यार्थ के लिये।

निबन्धकार के रूप में भी प्रसादजी हिन्दी में चिरस्मरणीय रहेंगे।

२

बेचन शर्मा 'उग्र'

उग्रजी प्रसाद-युग के शक्तिमान व्यक्तित्व हैं। साहित्य के विविध क्षेत्रों में उग्रजी का सृजन किसी भी समीक्षक और पाठक की प्रतिभा-परीक्षा के लिए प्रलाभनपूर्ण निमंत्रण है। कहानी, उपन्यास, नाटक, निबन्ध—सभी में उग्रजी का कलाकार अत्यन्त चमकीला और सबल आकार संघटित करता है। जीवन के अछूते और निर्जन भूभाग को उग्रजी ने अपना सृजन-क्षेत्र बनाया, यह उनकी प्रतिभा की सबसे बड़ी मौलिकता है। गद्य को गतिशील प्रेरणा देकर नवीन पथ पर अग्रसर करने वाले, अपने युग में आप एक मात्र व्यक्ति हैं। समाज के गलित कोढ़ को निरावरण कर आपने उसकी आँखों में उँगली डालकर बताया कि यह देखो, अपना सही रूप ! उस युग में उग्रजी का कार्य आश्चर्य जनक दुस्साहस ही कहा जायगा।

'मानव' आपका साध्य है और शेष जो-कुछ भी सृष्टि में है—जो विज्ञान, कला, साहित्य, आविष्कार, अन्वेषण हैं, सभी अपने में साध्य नहीं। यदि उनसे भी मानवात्मा को प्रकाश न मिले, सृष्टि में नवीन सृजन न हों; विनाश उसका परिणाम हो, तो आप उसको अस्वीकार करते हैं। जीवन के लिए यह दर्शन-दृष्टि अत्यन्त श्रेयस्कर है।

"मेरी धारणा है कि आज के अधिकतर वैज्ञानिक अन्वेषण शोषण की दृष्टि से हुए हैं, पोषण की नजर से नहीं। सो, इनके प्रकाश में अंधकार है, इनकी सृष्टि में विनाश, विज्ञान का प्रयोग ज्ञान के साथ यदि नहीं किया जायगा, तो फलतः अंधकार ही फैलेगा। और ज्ञान म मज़ा नहीं है। आदमी चाहता है मज़ा। वह मज़े से पैदा हुआ है।"

—'तुलसीदास'

सामान्य जन-जीवन के दैनिक व्यवहार-व्यापारों, अनिवार्य और चिर-परिचित बाह्य और अन्तर्दशाओं, भाव-अभावों, आवश्यकताओं और अपूर्तियों को आपने अपने निबन्धों में रखा है।

अधिकतर निबन्ध-भावात्मक प्रकार में ही आयेंगे। वर्णन-बिवरण-विचार आदि का अत्यन्त उपयुक्त और सानुपातिक सम्मिश्रण भी आपकी रचनाओं में मिलेगा। निबन्ध भावात्मक हो या वर्णनात्मक, विचारों को उत्तेजना उससे अवश्य मिलेगी। समाज को प्रमाद से जगाकर आत्मनिरीक्षण के प्रभाव में बैठाना उनकी अन्तर्वृत्ति—मुख्यधारा है।

सामाजिक और आर्थिक विषमताओं की ओर संकेत भी आपकी रचनाओं में है—वह समता का सन्देश बनता है। बाह्य पाखण्ड पर आप ग़ज़ब की बमबाज़ी करते हैं। सचमुच, आडम्बर के दुर्ग में दरार पड़ जाती है। उग्र होते हुए भी अनेक स्थलों पर आपके भावुक हृदय के सुकुमार स्वर बजते हैं—काव्य की स्निग्धता भी ऐसे स्थलों पर आ जाती है। जीवन-जगत की अन्तर्वेदना का चित्रण करते-करते ग़ज़ब की बैक-ग्राउण्ड उपस्थित करते हैं—चित्र-सा सामने आ जाता है। और उस चित्र पर सटी भावात्मकता की काँपती तस्वीर और भी चमकीली बन जाती है। चित्रात्मकता के लिए एक अवतरण देखें—

"हर साल मतवाली वर्षा आती है। हर साल प्रकृति के प्रांगण में यौवन और उन्माद, सुख और विलास, आनन्द और आमोद की तीव्र मदिरा का घड़ा ढुलकाया जाता है। लड़कपन मुग्ध होकर लोट-पोट हो जाता है—'काले मेघा पानी दे।' जवानी पगली होकर गाने लगती है—'आई काली बदरिया ना।' और मेरा बुढ़ापा ? अभागा ऐसे सुखभोग के समय कभी सर्दी के चँगुल में फँसकर खाँसता-खखारता रहता है, कभी गर्मी के फेर में पड़कर पंखे तोड़ता है। सामने की परोसी हुई थाली हम—अपने दुर्भाग्य के कारण—नहीं खा सकते। तड़प-तड़पकर रह जाते हैं; उफ़ ! उस समय मालूम पड़ता है, बुढ़ापा ही नरक है।"

—'बुढ़ापा'

यह विरोधात्मक चित्रण भाव-प्रकाशन को कितना सबल और प्रभावशाली बना देता है।

भाषा-शिल्पी के रूप में आप चलती घरघाट, हाट-बाट की जानदार भाषा को ही साधन मानते हैं। साध्य तो हैं अन्तर का उद्घाटन, जीवन-विवेचन या भाव, भाषा चाहे जैसी हो; पर वह अपने उद्देश्य में सफल हो सके। सार्थक, सशक्त गतिशील भाषा आप लिखते हैं। उर्दू, अंग्रेज़ी, देशज, स्थानीय—कैसा भी शब्द कलम के नीचे आ जाय, नगीने की तरह जड़ा जाता है। भाषा पर आपका पूर्ण अधिकार है, लगता है, मुट्ठी भरी बिखेर दिये शब्द—जादू की शक्ति से अपने आप निज स्थानों पर आ जमे। प्रसाद-युग में इतनी प्राणवान, गतिशील, थिरकती, चुस्त और पुष्ट शैली—कम ही कलाकार दे पाये। 'बेटों की बटालियन', 'बेटियों की बैटरी', 'खज़ाना', 'लाग़री', 'अभागिन', 'ओटो', 'लवेंडर', 'सोप', 'पाउडर', 'पालिश', 'हासिल', 'कहर बरपा करना,'—ये शब्द बड़ी सरलता से खोजे जा सकते हैं।

उर्दू-हिन्दी-संस्कृत के उद्धरणों का प्रयोग भी आप करते चलते हैं—बहुत ही उपयुक्त। अभिव्यंजना को इससे सहायता मिलती है और भाषा में गोष्ठी का-सा जीवन और अपनापन आ जाता है, अपनी बात के समर्थन रूप में आप उद्धरण

फिर कर देते हैं।—"लड़कपन स्वर्ग-दुर्लभ सरलता से कहता—'मैया, मैं तो चन्द-खिलौना लैहों' जवानी देव-दुर्लभ प्रसन्नता से कहती थी—'दौर में सागर रहे गर्दिश में पैमाना रहे।' और 'अंगं गलितं पलितं मुंडम्' वाला बुढ़ापा भवसागर के थपेड़ों से व्यग्र होकर कहता है, 'अब मैं नाच्यो बहुत गोपाल'।" कहीं-कहीं रूपकों का भी सुन्दर प्रयोग करते हैं, "शक्ति के दारिद्र्य में मेरा विवेक रूपी द्रोणाचार्य न्याय-रूपी गोरस के भूखे आत्मज अश्वत्थामा को गाली-रूपी आटे का नकली दूध मात्र मिला, फिर मन मसोसकर रह जाता है।"

—'गाली'

नाटकीय क्षिप्रता और चुस्ती आपकी शैली में मिलेगी। व्यंग्य की सावनी बौछारें शैली में निराली स्निग्धता और ताज़गी ला देती हैं। संवादात्मकता और कथा-प्रसंग उसमें नया जीवन डालते हैं। कहीं-कहीं प्रश्नों की आवृत्ति और साथ में जुड़े एक-एक शब्द में उत्तर, पाठक को अभिभूत करने की शक्ति प्रदान करते हैं। अनुप्रास की छटा और समान नाद वाले शब्द भाषा में संगीतात्मकता और स्वर-कम्पन भर देते हैं। अर्थ को लक्ष-पथ पर स्थिर गति से चलता रखने के लिए कोष्ठक में दिये विशेषार्थ वाले शब्द, शैली में व्यंग्य लाते है और सार्थकता भी। छोटे-छोटे सरल वाक्य, कहीं कर्त्ता, कहीं कर्म और कहीं क्रिया-हीन विन्यास और शब्दों की आवृत्ति भी इनके शैली-शिल्प के विशेष गुण हैं।

नीचे दिये अवतरण हमारे कथन की साक्षी देंगे—

"लड़कपन के खो जाने पर उन्मत्त जवानी फूल-फूल हँस रही थी, बुढ़ापे के पाने पर फूट-फूट रो रही है। उस खोने में दुख नहीं, सुख था; इस पाने में सुख ही नहीं, दुख है; दुख ही नहीं, नरक भी है। लड़कपन का खोना—वाह-वाह! बुढ़ापे का पाना—हाय-हाय!!"

× × ×

"एक बार जुआ खेलने को जी चाहता है। संसार बुरा कहे या भला—परवाह नहीं। दुनियाँ मेरी हालत पर हँसे या जो करे—कोई चिन्ता नहीं। कोई खिलाड़ी हो तो सामने आवे। मैं खेलूँगा।

एक बार जुआ खेलने को जी चाहता है। जी चाहता है—एक ओर मेरा साठ वर्षों का अनुभव हो, मेरे सफेद बाल हों, झुर्रीदार चेहरा हो, कँपते हाथ हों, झुकी कमर हो, मुर्दा दिल हो, निराश हृदय हो और मेरी जीवन-भर की कमाई हो। सैकड़ों वर्षों के प्रत्येक सन के हज़ार-हज़ार रुपये, लाख-लाख गिन्नियाँ और गड्डियों नोट एक ओर हों और कोरी जवानी एक ओर हो। मैं पासे फेंकने को तैयार हूँ। सब

कुछ देकर जवानी लेने को राज़ी हूँ। कोई हकीम हो तो सामने आवे, उसे निहाल कर दूँगा; मैं बुढ़ापे के रोग से परेशान हूँ—जवानी की दवा चाहता हूँ। कोई डाक्टर हो तो आगे बढ़े, मुँह माँगा दूँगा। कह चुका हूँ, निहाल कर दूँगा; मालामाल कर दूँगा।"

—'बुढ़ापा'

३

हरिशंकर शर्मा

यशस्वी सम्पादक और विख्यात हास्य-लेखक पण्डित हरिशंकर शर्मा अपनी दो पुस्तकों—'चिड़ियाघर' और 'पिंजरापोल'— भावात्मक निबन्धकार के रूप में हमारे सामने आते हैं। दोनों पुस्तकों में पैरोडी, गोष्ठी, फैण्टैसी, स्कैच, विवरण आदि अनेक प्रकार की हास्य-रचनाएँ संगृहीत हैं। इन में से बहुतों को हास्य-व्यंग्य के शुद्ध निबन्धवर्ग में बेधड़क रखा जा सकता है। समाज, व्यक्ति, चरित्र, व्यवसाय, व्यवहार आदि को वस्तु-विषय बनाकर शर्माजी ने अत्यन्त शुद्ध चुटीले, सार्थक, सुरुचिपूर्ण हास्य और व्यंग्य की रचना की। आपका व्यंग्य क्लास के लिए है, मास के लिए नहीं। शालीनता उसका प्रमुख गुण है, समाज-संस्कार उसका आदर्श, भारतीयता उसकी अन्तरात्मा।

प्रकार के रूप में सभी निबन्ध भावात्मक वर्ग में आयँगे। विचार अन्तर्धारा के रूप में भले ही मिलें। पाठक की भावात्मकता, भावुकता या रस-वासना को उत्तेजित करके भले ही आपके निबन्धों की वृत्ति (विचारात्मकता) उसे नवीन विचार-पथ पर चलने की प्रेरणा दे, पर हँसने की ही उपलब्धि पाठक उनमें पाता है। अपनी बात कहने के लिए शर्माजी ने निबन्ध के विविध स्वरूप चुने—अनेक पद्धतियाँ अपनायीं। 'पिंजरापोल' और 'धत्‌धर्म की' भारतेन्दुकालीन स्वप्नों की याद दिलाते हैं। भारतेन्दु, राधाचरण गोस्वामी, रुद्रदत्त शर्मा आदि की स्वप्न-कल्पना के समान ही ये भी हैं। 'सम्पादक-जन्तु', 'तिकड़मदेव', 'माननीय मुंशी कसरतराय' निबन्ध कम होकर, स्कैच अधिक हैं। 'मिस पॉलिसी की आत्मकहानी' में कथात्मक पद्धति है। शैली के रूप में दो प्रकार आपके निबन्धों में मिलेंगे— प्रसाद और व्यंग्य। आनुपातिक रूप से व्यंग्य में हास्य अधिक है, व्यंजना—अर्थ-विस्तार, अर्थ-विपर्यय, अर्थोत्कर्ष—कम। विरोधाभास कहीं-कहीं बहुत स्वस्थ और सफल है। वृत्ति के रूप में व्यंग्य में गुदगुदी तो मिलेगी, तीखापन नहीं। व्यंग्य कभी न तो पाठक का मन मलीन करता है, न उसका, जिसे निशाना बनाया जा रहा है। प्रौढ़ता की समझदारी उसमें है, लोट-पोट कर देने वाला शैशव नहीं और न युवकों जैसी लापरवाही और मस्ती।

शैली के बाहरी स्वरूप का सबसे उभरा हुआ गुण है—आनुप्रासिकता। यह लेखक की ममता बन गई है। अनुप्रास अनेक स्थानों पर भाषा का सौन्दर्य बनता है,

उसमें सुकुमारता भी लाता है और नाद-सौन्दर्य भी, पर अनेक स्थल ऐसे भी हैं, जहाँ वह लेखक के अपने शौक़ की पूर्ति करता है—अर्थ और अभिव्यंजना में उससे सहायता नहीं मिलती। 'व्याज-व्याघ्र', 'उत्कोच-उष्ट्र', 'डकारों का डायना-माइट', 'गले का गैरीज़न', 'रिश्वत-रमणी', 'दया-बया', मातामेदिनी मोदमयी होकर',' ग़रीबों की गर्दन का मर्दन करते', 'बारह के बहत्तर बनाने के लिए', 'जोश-ज्वाला' आदि शब्दों से इनकी अनुप्रास-प्रियता का पता चलता है। एक उद्धरण देखें—

"यहाँ सदैव क्रूरता की कोयलें बोलती और बेरहमी की बतखें कलरव करती फिरती हैं। इस बस्ती में स्वार्थ-देव की स्तुति के अनन्तर, आपाधापी की आरती उतारी जाती है। परमार्थ के लिए लाइसेंस लेना पड़ता है, जो कदाचित् ही किसी को मिलता है। देखिए, व्याज-व्याघ्र जी विराजमान हैं। करुणा-कुलक्षणी आप से कोसों दूर रहती है। विनय-वनिता का आप पहले ही संहार कर चुके हैं। दान-दानव का तो साहस ही नहीं। जो आपके सामने होकर निकल सके। लोल लोलुपता और ललित लिप्सा आपके चौकन्ने चेहरे से चुई पड़ती है।"

—'पिंजरापोल', पृष्ठ ५

भाषा के सम्बन्ध में आप कट्टरपन्थी नहीं। विशुद्धतावाद या तत्समता के पक्षपाती नहीं। भाषा भाव वहन करने में सफल हो, चाहे किसी भी भाषा से उसमें शब्द आ जायँ। हाँ, प्रचलित और सामान्यजन-बुद्धि-सुलभ वे हों। उर्दू-अंग्रेज़ी के शब्द आप बेधड़क प्रयोग करते हैं। यही नहीं, तत्सम और उर्दू शब्दों के समास भी आप बना लेते हैं—'जोश-ज्वाला', 'रिश्वत-रमणी'। प्रस्तुत अवतरण आपके भाषा-सिद्धान्त को स्पष्ट करते हैं—"दिल तो दावत खिलाने वाले को दुआ देता था, मगर मुँह से ऊल-जलूल बातें निकलती थीं।" "ज़ोरजबर बेक़सी और बेबसी का आलम बरपा कर देता है, तब तिकड़मदेव अपने अपार अनुग्रह द्वारा उनका उद्धार करने को अग्रसर होते हैं!" शैली में प्रवाह, स्फूर्ति, गतिशीलता भी है। क्रियाओं का अभाव अनेक स्थलों पर शैली को बड़ा प्राणवान और गतिमय बना देता है—"रात का वक़्त, चारों ओर सुनसान। किससे कहूँ, कहाँ जाऊँ? हक़ीम का घर मीलभर दूर, डाक्टर का पता नहीं।"

आपकी भाषा-शैली और व्यंग्य के लिए एक उद्धरण नीचे दिया जाता है—

"आपके विवाह को कठिनता से पैंतीस-छत्तीस वर्ष हुए होंगे। हमें भी उसमें सम्मिलित होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। ओहो! क्या कहने हैं, उस समय बरात जिस धूमधाम से चढ़ी, वह दृश्य देखने ही योग्य था। हमारी आँखों के आगे अब तक वह छबीली छवि छमछम नृत्य कर रही है। छत्तीस प्रकार के व्यंजनों की याद आ-आकर लार टपकी पड़ती है। अरे! एक बात तो भूल ही गये। कवि-श्रेष्ठ

परचूनियाजी के नाना को भी शायरी से बड़ा शौक़ था। वे चूरन के लटके बड़े प्रेम से सुना करते थे। मामा ने तो कुछ लटके बनाये भी थे। जिस कविवर के दादे-परदादे नाना-मामा तक शायरी के शीरे में लिथड़े पड़े हों, उसका स्वभाव-सिद्ध कवि होना कुछ आश्चर्य की बात नहीं।

'गर्दभगान' काव्य की छपाई बहुत सुन्दर हुई है। कागज़ बढ़िया लगाया गया है, जिल्द खूबसूरत बँधी है, शुद्धता का पूरा-पूरा ध्यान रखा गया है, फिर भी कुछ अशुद्धियाँ रह ही गई हैं। परन्तु इस २३ पृष्ठ की पुस्तक के अन्त में नौ पृष्ठ का एक शुद्धिपत्र दे देने के कारण पाठकों को उसके पढ़ने में विशेष कठिनाई नहीं होती।

अभिप्राय यह कि कविवर परचूनिया के साथ हमारे सम्बन्ध इतने घनिष्ठ हैं कि यदि वे पुस्तक न भी भेजते, तब भी हम उसकी आलोचना कर देते, अथवा वे स्वयं ही हमारी ओर से समालोचना लिखकर प्रकाशनार्थ भेज सकते थे। अस्तु, जब पुस्तक आ ही गई, तो उसके सम्बन्ध में दो-चार शब्द लिखना हमारा कर्तव्य है।"

—'पिंजरापोल', पृष्ठ ४८

४

पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल

स्वर्गीय डाक्टर बड़थ्वाल हिन्दी के मननशील विद्वान और आलोचक थे। अनेक गवेषणाएँ करके हिन्दी में इन्होंने अलभ्य साहित्य प्रस्तुत किया। सन्त-साहित्य पर की गई आपकी खोज तो शारदा के मन्दिर में सजाई गई अनुपम भेंट हैं। 'मकरन्द' आपके निबन्धों का संग्रह है। इसमें आपके समीक्षात्मक, गवेषणापूर्ण और भाव-प्रधान निबन्ध हैं। आपकी पहुँच साहित्य और जीवन के अत्यन्त विस्तृत क्षेत्र में है—विषय-विविधता आपकी रचनाओं में मिलेगी। आपकी लेखनी में आशाजनक सशक्तता, प्रसादात्मकता और सरसता है। आपके अधिकतर निबन्ध विचारात्मक हैं। संस्मरण भी आपने लिखे, जो विवरणात्मक प्रकार में आते हैं। आपके निबन्धों में सहज ज्ञान-सम्पन्न संतों जैसा भोला व्यक्तित्व बोलता है।

भाषा-शैली के लिए एक उद्धरण देखें—

"लोक-कल्याण तथा आत्म-कल्याण दोनों की दृष्टि से गांधी और कबीर दोनों ने ग़रीबी को अपनाया है। दैन्य, ग़रीबी आध्यात्मिक जीवन की एक बहुत बड़ी आवश्यकता है। गोलमेज़ कान्फ्रेंस के दिनों जिस समय गांधी जी लन्दन में ग़रीबी पर व्याख्यान दे रहे थे, उस समय ऐसा जान पड़ता था मानों उनके मुँह से कबीर बोल रहे हैं। आध्यात्मिक अर्थ में अर्थ-संकट का नाम ग़रीबी नहीं है, जो मनुष्य की इच्छा के विरुद्ध उसके ऊपर आ घहराती है। वह तो एक स्वयं आमन्त्रित अवस्था है, जिसमें मनुष्य अपने को शून्य में परिणित कर देता है। ग़रीबी में गर्व के बिना आत्म-प्रतिष्ठा, मूर्खता के बिना सरलता और ग़ुलामी के बिना विनय प्रतिष्ठित है। इस ग़रीबी में धन के प्रति एक मानसिक समस्थिति रहती है, जिसके सन्तोष और त्याग दो पक्ष हैं। कबीर और गांधी के समान दीन न अर्थाभाव से दुखी हो सकते हैं और न धनागम से भयभीत।"

—'मकरन्द', पृष्ठ ४१

५

सियारामशरण गुप्त

भोला, सरल, निष्कपट और निरावरण व्यक्तित्व सियारामशरण गुप्त के निबन्धों में बोलता है। भारतीय परम्परा और संस्कृति के प्रति पूर्ण आस्था और लोक-मंगल की कामना आपके निबन्धों की अन्तर्धारा है। उस धारा में बहकर न तो आप वर्तमान के घाट से दूर जा पड़ते हैं, और न जीवन से परे की धुँधली कल्पना को अपना पाथेय बनाते हैं। अपने अग्रज श्री मैथिलीशरण गुप्त का प्रभाव कहिए या वैष्णव लोक-संग्रह का आदर्श, कहीं-कहीं आप में उपदेश को उकसा देता है। पर कलाकार को वह कहीं दबा नहीं पाता। 'झूठ-सच' नामक संग्रह में आपकी निबन्ध-रचनाएँ पढ़ी जा सकती हैं। प्रकार की दृष्टि से अनेकरूपता आपकी रचनाओं में मिलेगी। किसी प्रकार का निबन्ध हो; युवक की भावुकता, बालक की मुग्धता, सहृदय की आनन्दानुभूति और कवि की मधुरता उसमें जहाँ-तहाँ छलकती है—सानुपातिक रूप में। सौन्दर्य-चित्रण उनमें है, सौन्दर्य-पान उनमें है, मनोमोहक रंगीनी भी उनमें है। आपके व्यक्तित्व का सबसे बड़ा अनुरोध है—आत्मीयता। सियारामशरणजी पाठक से पल-भर में अपनापन स्थापित कर लेते हैं; निरावरण हो उसके सामने आते हैं। लगता है, आप जैसे बिना थके क्षणों में किसी चिर-परिचित से घरेलू बातचीत कर रहे हैं। सभी रचनाओं में वैयक्तिकता भी अपेक्षित मात्रा में है। निज को उपस्थित करना निबन्ध का बहुत बड़ा आकर्षण है—यह आकर्षण इनमें मिलेगा।

एक अवतरण—

"वृक्षों के इस छोटे झुरमुट के नीचे आकर मैं देखता हूँ कि छाया और प्रकाश के ये छोटे-छोटे बच्चे यहाँ एक-दूसरे से हिल-मिलकर खेल रहे हैं। वसंत का भीना-भीना पवन वृक्ष के पल्लवों को गुदगुदाता है और छाया और प्रकाश के ये सरल बच्चे लोट-पोट होकर गिर-गिर पड़ते हैं एक-दूसरे के ऊपर। एक-दूसरे से विभिन्न होकर भी ये परस्पर एक-दूसरे के लिए 'अब्रह्मण्य-अब्रह्मण्य' का चीत्कार नहीं करते। इस झुरमुट के बाहर खुले में भी कुछ ऐसा ही है। इस धुँधली चाँदनी में अप्रकट और प्रकट को एकरस देखकर मैंने भरत-मिलाप का नया दृश्य देख लिया। एक ही माँ के यमज लालों की भाँति यह एक-दूसरे को भेंटते हुए छाती से छाती मिलाकर आपस में मिल गये हैं। इनमें कौन प्रकाश है और कौन अंधकार उसका

पता मुझे नहीं लगने पाता। इन दोनों सहोदरों का चिरंतन द्वंद्व मिट चुका है; दो होकर भी दोनों जैसे यहाँ एक हैं। अपूर्ण और पूर्ण, दुःख और सुख, शंका और समाधान, दोष और गुण, आपस में प्रेम से मिलकर कितने मधुर हो सकते हैं, इसका पता मुझे आज यहाँ लग गया।"

—'अपूर्ण'

ऊपर दिया गया अवतरण वर्णनात्मक निबन्ध का है. अर्द्धचन्द्र-मयी वसन्त-यामिनी का सुन्दर चित्र सामने आ जाता है। भाषा का भोलापन, काव्य-ममता और प्रसादात्मकता ध्यान देने योग्य है। इसमें एक विशेष जीवन-दर्शन की झलक भी है। विचारों को उत्तेजना भी इससे मिलती है।

दूसरा अवतरण—

"बात करने भी बैठे और डरते भी रहे कि कहीं किसी को चोट न लग जाय तो भला यह भी कोई बात हुई। सच पूछो तो तर्क जन्म से ही क्षत्रिय है। इसका काम ही मारना, मरना और फिर जी उठना है। इक्कीस-इक्कीस बार इसे निर्वंश ही क्यों न कर दो, फिर भी जब देखो, तब इसका वही तेज। साहित्यिक ने व्यंग्य और व्यंजना के आवरण में कोमल करके इसे वैश्यवर्ण में लाने का यत्न किया है; परन्तु वहाँ भी इसका जन्मगत जातीय गुण देर तक छिपा नहीं रहता।

पर अब कुछ सावधानी की आवश्यकता है, नहीं तो आरोप किया जायगा कि लेखक को बहस में मुँह की खानी पड़ी है, इसी से छिपे-छिपे वह तर्क की निन्दा कर रहा है। इस पर मेरा कहना यह है कि जीभ राम का नाम लेने में ही हार सकती है, बहस अथवा तर्क करने में नहीं।"

—'बहस'

ऊपर दिये गये अवतरणों से आपकी शिल्प-शैली का भी पूर्ण प्रतिनिधित्व हो जाता है। वाक्य सरल, अमिश्र और असंश्लिष्ट—अभिधात्मकता अधिक, लाक्षणिकता और व्यंजना कम। प्रायः सभी रचनाएँ प्रसाद-शैली के अन्तर्गत आ जाती हैं। व्यंग्य भी आपकी शैली का एक सबल आधार है। बीच-बीच में व्यंग्य की शीतल बौछार भी करते चलते हैं—'एक का मुक्का और दूसरे का सिर तो आपस में मिल सकता था, पर उनके मत नहीं।' 'मनुष्य की जीभ बिना सींग के सींग तो चला सकती है।' बीच-बीच में मुहावरों और उद्धरणों का उपयोग भी आप करते जाते हैं—'सब उघरे सोहैं, नहीं कवि आखर', 'नित प्रति पून्यो ही' 'अब्रह्मण्य—अब्रह्मण्य', 'तुरन्त दान, महा कल्यान' आदि कहीं-कहीं मुहावरों या आप्त-वाक्यों का अनुवाद करके भी प्रयोग करते हैं।

आपकी भाषा-शैली में निबन्ध की वक्रता, संक्षिप्तता और व्यंजना न आ पाई, यह सबसे बड़ी निर्बलता रही। प्रसादात्मकता और घरूपन का इतना अधिक प्रभाव हो गया कि निबन्ध के कसाव और गठन में बाधा पड़ी। आपसी बातचीत की पद्धति कभी-कभी निर्बल बन जाती है—यह निर्बलता इनकी भाषा में आ गई। भाषा सदोष भी हो गई और फैली-फैली भी। "एक-दूसरे से विभिन्न होकर भी ये परस्पर एक-दूसरे के लिए 'अब्रह्मण्य-अब्रह्मण्य' का चीत्कार नहीं करते।" प्रथम अवतरण से लिया गया यह वाक्य शैली का बहुत ही भद्दा नमूना है। 'एक-दूसरे', 'परस्पर' और 'एक-दूसरे' की आवृत्ति भाषा को संक्षिप्तता, सार्थकता, सुन्दरता, सबलता और स्वस्थता से दूर कर देती है। यह वाक्य यों लिखा जाना चाहिए था—परस्पर भिन्न होकर भी ये 'अब्रह्मण्य-अब्रह्मण्य' का चीत्कार नहीं करते। पाँच शब्दों का व्यर्थ प्रयोग बच गया। अनेक ऐसे स्थल हैं, जहाँ ऐसी ढीली और व्यर्थ शब्द-भार दबी शैली मिलती है।

पर आपके निबन्धों के स्वरूप में कुछ ऐसा अनुरोध अवश्य है कि उनको पढ़कर मन रसानुभूति पाता है।

६

राहुल सांकृत्यायन

राहुलजी अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा-प्राप्त व्यक्ति हैं। आपका प्राणवान व्यक्तित्व पर्यटक परिव्राजक, असीम ज्ञान-सम्पन्न विद्वान, महान अन्वेषक और अनेक दर्शनों के दिग्दर्शक के रूप में जाना जाता है। कहानी, उपन्यास, निबन्ध, भ्रमण-कथाएँ सभी कुछ आपने लिखा। 'साहित्य निबन्धावलि' आपके विविध-विषय-सम्बन्धी निबन्धों का संग्रह है। संस्कृत के परम विद्वान होते हुए भी भाषा-शैली में आप जन-जन की भाषा लिखने के पक्षपाती हैं। सरल से सरल भाषा में गूढ़ से गूढ़ बात कहने की शक्ति आप में है।

भाषा-शैली का एक उद्धरण

''यहाँ मुझे कुछ उन हिन्दी-भाषा-भाषी लेखकों से भी कहना है, जो अन्वेषण-सम्बन्धी लेखों को ही नहीं बल्कि शुद्ध साहित्यिक लेखों को भी अंग्रेज़ी में लिखते हैं। लेखों के विषय में उसकी पाठकों के लिए उपयोगिता एवं लेखक के लिए उसकी कीर्ति प्रदायकता-इन दो बातों पर ध्यान देने से यह घाटे का ही सौदा है। अंग्रेज़ साहित्यिक गत शताब्दी के अन्त तक जब अपने ही बन्धुओं अमेरिकावासियों को कोई स्थान देने को तैयार न थे, तब हम लोगों के लिए वहाँ क्या स्थान होगा ? इतना कहने का यह मतलब नहीं, कि हम दूसरी भाषाओं का बहिष्कार करें। बहिष्कार की तो बात अलग, मैं तो समझता हूँ अंग्रेज़ों की देखादेखी हम में भी वह दुर्गुण आ गया है कि हम केवल अंग्रेज़ी भाषा को ही सारे ज्ञान-विज्ञान का भण्डार समझते हैं।''

—'साहित्य-निबन्धावलि', पृष्ठ ३

७

इलाचन्द्र जोशी

जोशीजी अपनी 'विवेचना' और 'विश्लेषण' निबन्ध-पुस्तकें लेकर आये। दोनों ही पुस्तकों में समीक्षा-निबन्ध संग्रहीत हैं। जोशीजी की समीक्षा-शैली में विवेचना की सूक्ष्मता, गहनता, गम्भीरता और वेधन-शक्ति है। प्राचीनता से शृङ्खला-सम्बन्ध आपकी रचनाओं में मिलेगा। उद्धरणों का उपयोग भी आप करते हैं। शैली की दृष्टि से आपकी रचनाओं में विवेचना-शैली का प्रकार ही प्रधानरूप से है—कहीं-कहीं प्रसाद और समास-शैली का आभास भी मिल जाता है। एक अवतरण आपके निबन्धकार को पाठकों के सामने रखने के लिए पर्याप्त है—

"अब प्रश्न यह है कि इस तरह की धारणाओं में जो हमारे सांस्कृतिक समाज में घर किये हुए हैं, सचाई का अंश कहाँ तक है? क्या वास्तव में साहित्यकार का केवल इतना ही कर्तव्य है कि वह प्रतिदिन के यथार्थ जीवन की कठोरता से मुँह मोड़कर, संघर्ष से कतराकर केवल अपनी अनतश्चेतना के दिव्य आनन्द-लोक में निमग्न रहे और उससे व्यक्तिगत 'आनन्दानुभूति' का आभास अपनी रचनाओं में देता चला जाय? व्यक्तिगत रूप से मेरा यह विश्वास है कि साहित्य-कलाकार के सम्बन्ध में इस प्रकार की धारणा एकदम संकीर्ण, संकुचित, एकांगीय और भ्रामक है। यह सामन्ती युग के अलस विलासितापूर्ण मस्तिष्क की उपज है, जिसे चरम सत्य मानकर आज भी हमारे कई साहित्यालोचक और साहित्यकार बुरी तरह भटक रहे हैं। साधारण जनता के और उनके बीच में जो गहरी खाई आज हम देखते हैं, उसका प्रमुख कारण यही विश्वास है।"

—'विश्लेषण', पृष्ठ ११४

८

रामधारीसिंह 'दिनकर'

शक्तिशाली व्यक्तित्व लिये और संकल्प से सबल पग धरते दिनकरजी हिन्दी-काव्य-क्षेत्र में अवतरित हुए। राष्ट्र के प्राणों में 'दिनकर' ने नई हुँकार भरी और चिन्तन को नवीन चेतता दी। इधर गद्य-क्षेत्र में भी आप अपने दो निबन्ध-संग्रह लेकर आये हैं—'अर्धनारीश्वर' और 'मिट्टी की ओर'। पुस्तकों के नामों से प्रकट होता है कि आपकी सरल-सुबोध भाषा में व्यंजनापूर्ण अभिव्यंजना है। कवि आप पहले हैं और निबन्धकार बाद में। इसलिए आपका निबन्धकार कवि के आदेशानुसार मधुमय भी है और शक्तिमय भी। विचारों पर भावुकता का प्रभाव है। इसलिए भाषा-शैली में विलक्षण-रंगीनी और स्निग्धता आ गई है। भावों में दुराव-छिपाव नहीं, और विचारों में उलझन नहीं। जो बात कहते हैं, गले से नीचे उतरती ही नहीं, कलेजे तक भी पहुँचती है। निबन्धों में भी आप जनवादी राष्ट्रीय विचारों के पोषक हैं।

एक उद्धरण—

"जागृत युग के स्वप्न फूलों से नहीं, चिंगारियों से सजे जाते हैं। केवल कारीगरी इस युग के तूफ़ान को बाँधने में असमर्थ है। अभिनव सरस्वती अपने को धूल और धुएँ की रुक्षता से बचा नहीं सकती। वर्तमान युग का सच्चा प्रतिनिधित्व करने के लिए हमें इसकी अधिक से अधिक गर्मी को आत्मसात करना होगा और इसे इतने निकट से जानना होगा कि हम इसकी अनुभूतियों के शिखर-प्रदेश पर खड़े हो सकें। कारीगर के लिए यह आवश्यक न भी हो, लेकिन जिसने अपने समय का प्रतिनिधित्व करने के मनसूबे बाँधे हैं, उसे तो इसके प्रवाहों का, निर्भीक होकर आलिंगन करना होगा।"

—'मिट्टी की ओर', पृष्ठ ६५

ऊपर दिये उद्धरण से प्रकट है कि आप अप्रस्तुत विधान से प्रस्तुत का काम लेते हैं, तो भी शैली में दुर्बोधता नहीं आने पाई। 'फूल', 'चिंगारियाँ', 'तूफ़ान', 'कारीगर' आदि अप्रस्तुत से प्रस्तुत अर्थ तक पहुँचना तनिक भी कठिन नहीं।

९

हरिभाऊ उपाध्याय

गांधीवादी नैतिकता लेकर साहित्य में आने वाले लेखकों में उपाध्याय जी भी हैं। आपने बहुत दिन तक 'त्याग-भूमि' का सम्पादन किया। कला और साहित्य में नैतिकता के अधिकार की स्वीकृति आपके 'मनन' में है। 'स्वार्थ व सुख छोड़ने से ही अन्तःकरण शुद्ध बनता है।' 'शस्त्र बल का नहीं भय का चिन्ह है।' 'क्षमा कमजोरी नहीं शौर्य है।' 'पाप विनाश की बंसी है, जिसके काँटे का ज्ञान मछला को लीलते समय नहीं, बल्कि मरते समय होता है।' ये वाक्य गांधीवादी नैतिकता के नारे हैं। लगता है, गांधीजी के ही वाक्य उठाकर सजा दिये गये हैं। भाषा के सम्बन्ध में भी इनका झुकाव मिली-जुली भाषा की ओर है; पर जब अमिश्रित शुद्ध भाषा लिखते हैं, उसमें स्वच्छता, स्पष्टता, अभिव्यंजना, भोलापन और सक्रियता सभी कुछ मिल जाता है।

एक उदाहरण देखें—

"सुन्दरता वहीं है, जहाँ शिव है। सत्य कल्याणकारी होता है। मनुष्य को वही वस्तु सुन्दर मालूम होती है, जिसमें उसका मन रम जाता हो—मन को आनन्द व शान्ति वास्तव में सत्य के ही परिणाम हैं। परन्तु स्थूल-बुद्धि मनुष्य उन्हें रूप आदि बाह्य साधनों में देखने लगता है। इसलिए वह विलासी बन जाता है। यदि वह उसकी तह तक पहुँच सके तो सच्चे सौन्दर्य का उपभोग भी करेगा और उसकी वासना से भी दूर रहेगा।"

—'मनन', पृष्ठ ४५

१०

रामकृष्ण 'शिलीमुख'

आलोचक श्री रामकृष्ण शुक्ल निबन्धकार के रूप में 'कला और सौन्दर्य' लेकर सामने आये। इसमें इनके विचारात्मक—'कला और सौन्दर्य', 'शिक्षा और संस्कृति', 'जीवन और साहित्य' और सूचनात्मक—'वेदों का आदिम मनुष्य', 'शतरंज की पश्चिम यात्रा', 'गृह्यसूत्रों का वैवाहिक विधान', 'कीमियागर' निबन्ध संगृहीत हैं। कहने का ढँग सरस और सुबोध और शैली प्रसादपूर्ण है। उर्दू के शब्द प्रायः प्रयोग नहीं करते। झुकाव सरल तत्समता की ओर है। कहीं-कहीं समासात्मकता भी है। भाषा विषयानुकूल स्वरूप संघटित करती है। एक अवतरण—

"रोटी (भूख)-वादियों और मिथुन (सैक्स)-वादियों का कोई विरोध करने का हमारा उद्देश्य नहीं है। साहित्य की दो वर्तमान प्रवृत्तियों के साक्ष्य में प्राणिमात्र की दो मूल सहज-वृत्तियों के माध्यम से जीवन-व्याख्या के अधिक सन्निकट आने का हमारा प्रयास है। इसमें सन्देह नहीं कि प्राणिमात्र की समस्त प्रगति, उसकी प्रवृत्ति-निवृत्ति-निरूपिणी समस्त चेष्टाएँ, इन्हीं दो मौलिक वृत्तियों के प्रतिफलन के रूप में दृष्टिगोचर होती हैं, जिससे भ्रान्ति होना सम्भव है कि दो-दो वृत्तियाँ ही मिलकर जीवन को स्वरूप प्रदान करती हैं। परन्तु वास्तव में भूख और सैक्स जीवन का स्वरूप नहीं हैं; वे जीवन की प्रतिक्रिया हैं।"

—'कला और सौन्दर्य', पृष्ठ २७

११

सद्गुरुशरण अवस्थी

अवस्थीजी का निबन्ध-संग्रह 'बुद्धितरंग' के नाम से प्रकाशित हुआ है। निबन्ध विचारात्मक हैं। 'नहीं' और 'हाँ' प्रतापनारायण मिश्र और बालकृष्ण भट्ट का स्मरण कराते हैं। 'सौन्दर्य', 'शील', 'स्वभाव', 'प्रेम' में द्विवेदी-युग झाँकता है। 'युद्ध', 'इक्का' आदि प्रगति-युग के प्रभाव का परिचय देते हैं। शैली में पुरानापन और भाव-प्रकाशन में सादगी—प्रसादात्मकता—है।

१२

रामविलास शर्मा

शर्माजी प्रगतिवादी समीक्षक हैं। आपने मार्क्सवाद का समर्थन, प्रचार और विश्लेषण अपने निबन्धों में किया। 'प्रगतिशील साहित्य की समस्याएँ' और 'प्रगति और परम्परा' दो निबन्ध-पुस्तकें आपकी निकली हैं। इनमें परम्पराओं का अस्वीकार और प्रगति का आग्रहपूर्ण स्वीकार है। निवन्ध विचारात्मक हैं। शैली में सरलता, बोधगम्यता, और प्रचारात्मकता है। वक्रता या व्यंजना की कमी है—प्रसाद-शैली आपके निबन्धों में आधिकारिक रूप में आई है। कहीं-कहीं विवेचना शैली भी है। अपनी बात को आप बहुत ही स्पष्ट और समझ में आने वाले ढंग से कहते हैं। वस्तु-विषय और साहित्य-सिद्धान्त के रूप में अवश्य आपने नवीन सृजन किया है।

एक उद्धरण नीचे दिया जाता है—

"इन कवियों ने नये ढँग से प्रकृति का चित्रण करना शुरू किया, इस तरह की कविताओं को उन्होंने लक्षण-ग्रन्थों की सीमाओं से उबार लिया। उद्दीपन या उपदेश के लिए प्रकृति का वर्णन काफ़ी नहीं था। प्रतीक रूप में प्रकृति का उपयोग किया गया। लेकिन पहले-पहल हिन्दी-कविता में उसके यथार्थ चित्र देखने को मिले। सामाजिक रचनाओं में कवियों ने दलित-वर्ग के प्रति भावुक सहानुभूति प्रकट की तो साथ-साथ समाज का ढाँचा बदलने के लिए विप्लव और क्रान्ति की माँग भी की। रहस्यवादी कविताओं में उन्होंने आनन्द और प्रकाश में इष्टदेव की कल्पना की, लेकिन अपने जीवन की दारुण व्यथा को भी वे भुला नहीं सके।"

—'सांस्कृतिक जागरण और निराला'।

शर्माजी की भाषा-शैली में प्रशंसनीय सुबोधता है। विषयानुकूल शैली में गाम्भीर्य, व्यंग्य और अभिधात्मकता का सानुपातिक समावेश होता रहता है। विशेषकर जब आप किसी मत या सिद्धान्त का विरोध करन लगते हैं, तो बहुधा शैली में चुलबुलापन और हास्य पर्याप्त मात्रा में आ जाता है।

१३

महावीर अधिकारी

'जीवन के मोड़' के सजग कथाकार श्री महावीर अधिकारी ने अपने निबन्धकार क लिए नया क्षेत्र चुना—मानसलोक। व्यावहारिक जीवन की मानसिक समस्याओं का सफल विश्लेषण अधिकारीजी ने किया है। लगता है. जैसे वह रोगी के साथ स्नेह, सहानुभूति और आत्मीयता से बातें करते हैं। निबन्ध-शैली में जो कसाव प्राण की संज्ञा पाता है, वह इनकी रचनाओं में मिलेगा। एक अवतरण—

'आप कुण्ठित कब होते हैं ? जब आपकी आशा-अभिलाषाओं की पूर्ति नहीं होती और सामान्यत: परिपूर्ति के साधनों को उपलब्ध करने की सामर्थ्य भी आप में नहीं होती। लेकिन मानव-मन तो वासना का कोषागार है। ऐसा कोषागार कि कितना ही रिक्त कीजिए, वह कभी खाली नहीं होगा। तो क्या फिर आप इच्छाओं का दमन करना आरम्भ कर दें ? लेकिन इच्छाओं के दमन से ही तो कुण्ठा रोग का रूप धारण करती है। तो फिर ? केवल एक ही औषधि है, इस रोग से बचने की, और वह है आत्मविश्लेषण।"

—'कुण्ठा और चिन्ता'

१४

विश्वप्रकाश दीक्षित 'बटुक'

बटुकजी ने दो प्रकार के निबन्ध लिखे—सामाजिक व्यंग्य-प्रधान और समीक्षात्मक। पहले भावात्मक और दूसरे विचारात्मक प्रकार में आयेंगे। सभी रचनाओं में आपके संघर्षमय, प्रगतिशील, जानदार व्यक्तित्व की छाप है। निबन्धात्मकता आपकी रचनाओं में सफल और सम्पन्न मात्रा में मिलेगी। व्यंग्यात्मक रचनाओं में भाषा चलती, घर-घाटकी और अभिधात्मक है। शैली में व्यंग्य है और वस्तु-विषय समाज और व्यक्ति। समीक्षात्मक रचनाओं में साहित्यिक आलोचनाएँ और सिद्धान्त-विवेचन (प्रगतिवाद, रहस्यवाद, प्रयोगवाद) से सम्बन्ध रखने वाले। भाषा में शक्ति, प्रभाव, ओज और गतिशीलता है। विचारात्मक निबन्धों में विवेचनात्मक शैली मिलेगी। आप साहित्य को किसी वाद में नहीं बाँधना चाहते। आपका कहना है—"वास्तव में प्रत्येक आगामी साहित्य पिछले साहित्य की अपेक्षा प्रगतिवादी और कई दृष्टियों से प्रयोग-

वादी होता ही है। किसी भी वाद के झगड़े में पड़ना साहित्य को उथला और निकम्मा बनाना है। बिना किसी वाद की मुहर लगाए कबीर, तुलसी, भारतेन्दु और प्रसाद ने जो हमें दिया है वह क्या युग-युग की सम्पत्ति नहीं? साहित्य वही खरा है, जो 'वाद' से पृथक है और केवल युगीन न होकर युग-युग का है।"

१५

भगवानदीन

महात्मा भगवानदीन की एक पुस्तक हमारे देखने में आई 'जवानो'। आपके अनेक निबन्ध भी इधर-उधर निकले हैं। 'जवानो' जीवन-निर्माण और व्यवहार-ज्ञान के लिए पथ को प्रकाश देती है। निराशा की घड़ियों में इसके प्रेरक निबन्धों से अवश्य ही आसरा मिलेगा। स्पष्ट है भगवानदीनजी के निबन्धों की आत्मा है—लोक-कल्याण। भाषा सरल बोल-चाल की है, पर उसमें प्रभाव है। कसाव भी कम नहीं। क्या भाषा-शैली और क्या भाव-विचार-प्रकाशन—दोनों ही दृष्टियों से इनकी रचना में निबन्धात्मकता मिलेगी।

"दर्शन बुद्धि की देन-सा जँचता है। असल में वह हमारा मन अन्दर किस तरह काम करता है, उसकी कहानी है। बौद्ध या जैन-दर्शन बुद्धिमानों ने लिखे हैं, बुद्ध या महावीर ने नहीं। ये दोनों तो उन दर्शनों में जी रहे थे, वे दर्शन थे। उन्हें देखकर वे दर्शन जितनी जल्दी और जितने जल्द समझ में आते थे, वे आज उतनी ही देर में और कहीं बुरी तरह सौ पंडितों की मदद से गले में ही आकर रह जाते हैं। दर्शन मोटे होते रहे। पंडितों और प्रकाशकों का पेट भी भरते रहे। जब उन्होंने किसी एक की या समाज के जीवन की बागडोर हाथ में ली तब मामला भयानक हो गया। इस भयानक काम को सच्चा विश्वास ही रोक सकता है। कितना ही होशियार कहानी-लेखक क्यों न हो, वह एक कहानी खड़ी नहीं कर सकता, अगर उसे एक पात्र ऐसा न मिले, जिसने अपनी ज़िन्दगी एक विश्वास के साथ न बिताई हो। कालिदास के विश्वास की खुराक पाकर एक साधारण घटना शकुन्तला नाटक बन बैठती है। रामायण में जितना तुलसी का विश्वास चमकता है, उतनी राम की कथा नहीं।"

—'जवानो', पृष्ठ १३३

१६

अन्य रचनाएँ

इधर हिन्दी में समीक्षात्मक निबन्ध-पुस्तकों की काफ़ी बड़ी भीड़ एकत्र है और नवीन उत्साह, तीव्र क़दम और सामान्य समान मान्यताओं और अन्तर-विहीन भाषा-शैली के साथ निबन्ध-प्रजनन का काम हो रहा है। प्रायः सभी पुस्तकों में समान वस्तु-विषय, समान विवेचन-पद्धति, समान अभिव्यंजना ही देखने में आती है। अनेक पुस्तकों में तो साधारण पुस्तकों के बारे में लिखी गईं और सामयिक पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित आलोचनाएँ भी संकलित कर दी गई हैं। मौलिक पुस्तकें पीछे पड़ गई हैं और ये आलोचनाएँ, समीक्षाएँ, विवेचनाएँ आगे आ जमीं। इनमें निबन्ध तत्व बहुत ही कम मात्रा में मिलते हैं। निबन्ध और आलोचना के विश्वविद्यालय में स्थान पाने के कारण भी इस लघु-समीक्षा-निबन्ध की पैदावार में काफ़ी वृद्धि हुई है।

समीक्षात्मक निबन्धों के लिए निम्न पुस्तकें पढ़ी जा सकती हैं। साहित्य-दर्शन (जानकीवल्लभ शास्त्री); दृष्टिकोण (विनयमोहन शर्मा); काव्य और कला (रामखेलावन सिंह); निबन्धिनी (गंगाप्रसाद पाण्डेय); साहित्य, साधना और समाज (डा० भगीरथ शर्मा); साहित्यिका (हंसकुमार तिवारी); समीक्षायण (कन्हैयालाल सहल); हिन्दी का सामयिक साहित्य (विश्वनाथ प्रसाद मिश्र); साहित्य-संदीपिनी (चन्द्रबली पाण्डेय); साहित्यानुशीलन (शिवदानसिंह चौहान); विचार-धारा (धीरेन्द्र वर्मा); परिषद-निबन्धावली (धीरेन्द्र वर्मा); साहित्य-जिज्ञासा (ललिता प्रसाद शुक्ल); सन्तुलन (प्रभाकर माचवे); निबन्ध-प्रबन्ध (शिखीमुख); साहित्य-चिन्ता (डॉ० देवराज); समीक्षाञ्जलि (डॉ० सुधीन्द्र); साहित्य का श्रेय और प्रेय (जैनेन्द्रकुमार); मन्थन (जैनेन्द्रकुमार); भारतेन्दु के निबन्ध (डॉ० केसरी नारायण सिंह); बंकिम-निबन्धावली (बंकिमचंद्र); साहित्य (रविन्द्रनाथ ठाकुर); साहित्य के पथ पर (रवीन्द्रनाथ ठाकुर); कला कल्पना और साहित्य (डॉ सत्येन्द्र)।

अनुक्रमणिका